भूमिका

'प्राचीन कवियों की काव्य-साधना' के पश्चात् 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' मेरी दूसरी आलोचना-पुस्तक है। इसमें भारतेन्दु से अब तक के आठ प्रमुख कवियों की रचनाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी-जगत् में साम्प्रति विद्यार्थियों के लाभार्थ ऐसी पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। इस अभाव को दृष्टि में रखकर ही मैं इस पुस्तक के प्रणयन की ओर अग्रसर हुआ हूँ। मैंने प्रत्येक कवि को उसके प्रकृत वातावरण में ही देखने, समझने और परखने की चेष्टा की है। आरम्भ में जीवन-परिचय देकर मैंने क्रमशः उन सभी पहलुओं पर विचार किया है जिनसे कवि का किसी-न-किसी रूप में सम्बन्ध रहा है। इस प्रकार प्रत्येक कवि अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आ गया है और वह जटिल होने की अपेक्षा रोचक और आकर्षक बन गया है। अपनी बात को प्रमाणित तथा पुष्ट करने के लिए मैंने अवतरण जानबूझकर कम दिये हैं। ऐसा मैंने केवल इसलिए किया है कि विद्यार्थी इस पुस्तक में दिये हुए अवतरणों पर ही निर्भर न रहकर अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से भी काम लें और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए अपनी पाठ्य पुस्तकों से उद्धरण देना सीखें। प्रायः यह देखा जाता है कि विद्यार्थी आलोचना-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते समय ऐसे अनावश्यक उद्धरण दे दिया करते हैं जिनका न तो उस प्रश्न से कोई सम्बन्ध रहता है और न उनकी

विचार-धारा से। ऐसी दशा में उनके उत्तर प्रायः हास्यास्पद हो जाते हैं। इस पुस्तक के अध्ययन से जहाँ उनकी आलोचना-सम्बन्धी उलझनों का समाधान होगा वहाँ उन्हें उद्धरण देने की आवश्यकता, उपयुक्तता उपयोगिता एवं सार्थकता का भी ज्ञान हो जायगा।

इन विशेषताओं के साथ इस पुस्तक का प्रणयन होने पर भी मैं अपने विषय-प्रतिपादन के मौलिक होने का दावा नहीं कर सकता। वस्तुतः यह पुस्तक मेरे कई वर्ष के अध्ययन का परिणाम है। अतः अपने अध्ययन-काल में मैंने जिन लेखकों की रचनाओं से अपनी जिज्ञासा को शान्त एवं परिपुष्ट किया है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। वस्तुतः विचार उनके हैं, क्रम मेरा है। मैं उन्हीं के अप्रत्यक्ष सहयोग से इस पुस्तक को यह रूप देने में सफल हो सका हूँ। अतः यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ हुआ तो उसका श्रेय उन्हीं आलोचकों को प्राप्त होना चाहिए जो मेरे साहित्यिक जीवन के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। साथ ही मैं अपने परम मित्र श्री स्वामीशरण अग्रवाल, बी॰ ए॰, एल्-एल्॰ बी॰ का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनकी कृपा से कवियों के चित्रों के संकलन में मुझे बड़ी सहायता मिली है। अन्त में मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को आधुनिक कवियों की काव्य-धारा समझने में अवश्य सहायता मिलेगी।

भगवत क्वार्टर्स,
अतरसुइया, इलाहाबाद
चैत्र १—२००५

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[२—४३]

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

[४४—६८]

३. जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

[६६—१२३]

४. मैथिलीशरण गुप्त

[१२४—१७१]

५. जयशंकर प्रसाद

[१७२—२१८]

६. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

७. सुमित्रानन्दन पंत

८. महादेवी वर्मा

महादेवी पर प्रभाव, महादेवी का महत्त्व, महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि, महादेवी की काव्य-साधना, महादेवी की अलंकार और रस-योजना, महादेवी की भाषा और शैली, महादेवी और पंत, महादेवी और अन्य कवि, महादेवी का हिन्दी-साहित्य में स्थान।

आधुनिक कवियों की काव्य-साधना

[आधुनिक काव्य-धारा तथा खड़ी बोली के आठ कवियों की आलोचना]

—: १ :—

भारतेन्दु हरिश

जन्म सं॰ मृत्यु सं

१९०७ १९४

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद शुक्ल, ऋषि-पंचमी, सं
१९०७ को काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ परिवार में हुआ था। उन
पूर्वपुरुष सेठ बालकृष्ण कम्पनी के शासन-काल
दिल्ली से कलकत्ता चले गये थे और वहाँ व्यापा
जीवन-परिचय करते थे। उनके पौत्र तथा गिरधारीलाल के पुत्र, से
अमीचन्द, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति थे। अँगरेजों
उन्हें अपनी ओर मिलाकर धन का लोभ दिया औ
देश के प्रति विश्वासघात कराया, पर जब उनका काम निकल गया त
उन्होंने अमीचन्द को जितना धन देने का वचन दिया था, उसे देने
साफ इन्कार कर दिया। इस घटना से अमीचन्द को इतना दुःख हुआ
कि प्लासी-युद्ध के डेढ़ वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। व्यापार

काम भी शिथिल हो गया। इसलिए उनके पुत्र फतेहचन्द सन् १७५९ ई० में कलकत्ता से काशी चले आये। यहाँ सेठ गोकुलचन्द की कन्या से उनका विवाह हुआ। इन्हीं के पौत्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे।

भारतेन्दु के पिता का नाम गोपालचन्द था। वह वैष्णव थे और ब्रजभाषा में कविता करते थे। उनका उपनाम गिरिधरदास था। उनके दो ही काम थे—कविता करना और पूजा-पाठ करना। कहते हैं, पांच भक्ति-पद बनाये बिना वह भोजन नहीं करते थे। उन्होंने ८० ग्रन्थ लिखे थे। उनके इन ग्रन्थों में से बहुत-से इस समय अप्राप्य हैं, पर जो हैं उनमें उन्होंने काव्य कौशल की ऐसी छटा दिखाई है कि साधारण पाठकों के लिए उसका समझना, यदि असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य है। अलंकार और रीति सम्बन्धी भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। 'जरासन्ध' उनका महाकाव्य है। शेष खंड-काव्य और रीति-काव्य हैं। ऐसे पिता के वंश में जन्म लेकर भारतेन्दु ने उसके गौरव और सम्मान की बड़ी रक्षा की।

भारतेन्दु बड़े प्रतिभासम्पन्न बालक थे। बचपन में वह बड़े नटखट थे। दुर्भाग्य से पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही वह मातृ-स्नेह से वञ्चित हो गये। नौ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत हुआ और इसके बाद ही उनके पिता भी उन्हें अकेला छोड़कर चल बसे। इस प्रकार आरम्भ ही से माता-पिता के स्नेह से वंचित होकर उन्होंने जीवन में प्रवेश किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। हिन्दी तथा अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए शिक्षक उनके घर पर ही आया करते थे। उर्दू भी वह एक मौलवी से पढ़ते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह क्वींस कालेज में भर्ती हुए, पर वहाँ उनका जी नहीं लगा। कविता करने की ओर दिन-प्रति-दिन उनकी अभिरुचि बढ़ती जा रही थी। वह स्वतंत्र प्रकृति के बालक थे। किसी प्रकार का बन्धन उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इसलिए अधिक दिनों तक उनका नियमित रूप से पढ़ना-लिखना न हो सका। १३ वर्ष की अवस्था में लाला गुलाबराय की सुपुत्री मन्नोदेवी

से उनका विवाह हुआ जिनसे कालान्तर में दो पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। पुत्र तो शैशवावस्था ही में काल-कवलित हो गये; पुत्री अवश्य जीवित रही जिसका विवाह मई सन् १८८० में हुआ।

भारतेन्दु ने १५ वर्ष की अवस्था में सपरिवार जगन्नाथ पुरी की यात्रा की। इससे उनकी पढ़ाई का क्रम टूट गया। वहाँ से लौटने पर उन्होंने साहित्य और समाज की सेवा का भार अपने ऊपर लिया। कभी-कभी वह यात्रा पर भी जाते रहे। इससे उनका अनुभव बहुत बढ़ गया। हिन्दी, अँगरेजी और उर्दू के अतिरिक्त वह मराठी, गुजराती, बँगला तथा संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हो गये। वह बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। यद्यपि एक विद्यार्थी की भाँति उन्होंने किसी पाठशाला अथवा कालेज में विद्याध्ययन नहीं किया तथापि सरस्वती की आराधना में वह आजीवन निरत रहे। उन्होंने कई स्कूल, क्लब, सभा, पुस्तकालय आदि की स्थापना की तथा कई पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। उन्होंने कुछ परीक्षाएँ भी नियत कीं जिनमें वह स्वयं पारितोषिक दिया करते थे। काशी का हरिश्चन्द्र इंटरमीजिएट कालेज उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

भारतेन्दु का जीवन साहित्य-सेवा का जीवन था। उस समय के सभी प्रकार के साहित्यकारों से उनका परिचय था। कवि, लेखक, सम्पादक, हिन्दी हितैषी, तुक्कड़ सभी उन्हें जानते थे और उनके दरबार में सम्मान पाते थे। राजा से रंक तक उनकी मित्र-मंडली में थे। उस समय के हिन्दी-साहित्य-सेवियों में ठाकुर जगमोहनसिंह, प्रेमघन, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री राधाचरण गोस्वामी, पं० दामोदर शास्त्री, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बाबा सुमेरसिंह आदि उनके परम मित्र थे। इन साहित्यकारों से जहाँ उन्हें साहित्य-सेवा की प्रेरणा मिलती थी, वहाँ उनको—साहित्य-सेवियों को—साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन भी मिलता था। भारतेन्दु इन साहित्य-सेवियों में सर्वोपरि थे। हिन्दी-साहित्य की नौका के वही

प्रमुख माँझी थे। इसलिए साहित्य की नवीन दिशा को निश्चित करने में उन्हीं का हाथ रहता था। उनके पास सरस्वती थी, लक्ष्मी थी। सरस्वती की सेवा में उन्होंने लक्ष्मी को पानी की तरह बहा दिया। धन का मोह उनके साहित्य-प्रेम में कभी बाधक नहीं हुआ। साहित्य की अभिवृद्धि के लिए जिसने जब जो माँगा उन्होंने मुक्तहस्त होकर दान किया। दीन-दुखियों के लिये भी उनका दरबार बराबर खुला रहता था। निःस्वार्थ भाव से वह सबकी सहायता करते थे। उदारता तो उनमें इतनी थी कि वह किसी के माँगने पर अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भी दे डालते थे। उनकी यह दशा देखकर उनके छोटे भाई गोकुलचन्द ने समस्त जायदाद का बटवारा करा लिया।

जायदाद का बटवारा होने के पश्चात् भी भारतेन्दु की दानशीलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उन पर काफ़ी ऋण हो गया। ऋण चुकता करने में उनकी बहुत सी सम्पत्ति उनके जीवन-काल में ही निकल गई। इससे उन्हें कुछ मानसिक कष्ट रहने लगा। मुक्तहस्त प्राणी बन्धन में आने पर मृत्यु की ही आकांक्षा करता है। भारतेन्दु की भी यही दशा हो गई। आर्थिक कष्टों की चिन्ता से उनका शरीर शिथिल होने लगा। अन्त में उन्हें क्षय-रोग हो गया। इस रोग से वह मुक्त न हो सके। डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों की चिकित्सा मृत्यु के अभिशाप से उनकी रक्षा न कर सकी। माघ, कृष्ण ६, सं० १९४१ को हिन्दी साहित्य का वह दीपक सदैव के लिए बुझ गया।

भारतेन्दु की रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर उनकी प्रतिभा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है। अपने १६-१७ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो दान दिया उसका एक-एक शब्द महत्वपूर्ण है। उनकी रचनाएँ युगान्तरकारिणी रचनाएँ हैं। उनमें भावों, विचारों और

भारतेन्दु की रचनाएँ

तत्वाओं के सौन्दर्य के साथ-साथ आगे बढ़ने की,
हृदय और मर्यादावादी भावनाओं के बीच अपनी मौलिक
की तीव्र चेष्टा है। यही चेष्टा उनके साहित्य का प्राण है।
चार प्रकार की है:—

१. नाटक—भारतेन्दु की महत्वपूर्ण रचना
अनूदित नाटक हैं। उनके मौलिक नाटक ये हैं:—
१. चन्द्रावली, ३. भारत दुर्दशा, ४. नील देवी,
६. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, ७. विषस्य विष
प्रहसन और ८. प्रेमयोगिनी। इनमें से अन्तिम दो अपू
के अतिरिक्त उनके आठ अनूदित नाटक हैं जो इस
राक्षस, २. धनञ्जय विजय, ३. रत्नावली नाटि
५. विद्या सुन्दर, ६. भारत जननी, ७. पाखंड विड
म्बु। इनमें से प्रथम तीन संस्कृत के अनुवाद
अनुवाद है, पाँचवाँ, छठा और सातवाँ बँगला के अ
अँग्रेजी का अनुवाद है। यह अपूर्ण भी है। दो अनू
अभी अप्रकाशित हैं।

२. काव्य—नाट्य-साहित्य की भाँति भार
भी अत्यन्त विस्तृत और विशाल है। उनके
ग्रन्थ मिलते हैं। ये सब छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं और
उनके शृंगार-काव्य भी कम नहीं हैं। होली, मधु
प्रलाप, सतसई शृंगार आदि उनके शृंगार-रसपूर्ण
विजय, वैजयन्ती, भारत-वीणा, सुमनाञ्जलि
राजभक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं।

३. इतिहास—भारतेन्दु ने , उर्दू ,
लेख भी लिखे हैं। काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र-
दर्पण आदि उनके

भी लिखे हैं; पर इनमें से अधिकांश अपूर्ण हैं। सुलोचना, मदालय और सीतावती उनके लिखे आख्यान हैं। परिहास-पंचक में उनका हास्य रस-सम्बन्धी गद्य है। परिहासिनी में छोटे-मोटे हास्य-लेख हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य के प्रत्येक अंग को छूने की सफल चेष्टा की है। उनका साहित्य भगीरथ प्रयास का सुन्दर परिणाम है।

भारतेन्दु का समय

अभी हमने भारतेन्दु की जिन कृतियों का उल्लेख किया है उनका अध्ययन करने से हमें उनके समय की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का यथार्थ परिचय मिल जाता है और हम यह जान जाते हैं कि उन्होंने उन विशेषताओं को हिन्दी साहित्य में स्थायी रूप से स्थान देकर अपने से अधिक अपने साहित्य का कल्याण किया है। वस्तुतः भारतेन्दु का समय भारतेन्दु की प्रतिभा के उपयुक्त था। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब भारत में प्राचीन और नवीन शक्तियों के बीच संघर्ष चल रहा था और राजनीति के क्षेत्र में किसी नवीन 'वाद' की व्यवस्था न होने पर भी एक हलचल-सी मची हुई थी। हिन्दू और मुसलमान राज्य आपसी फूट और साम्प्रदायिकता के कारण निर्बल हो गये थे और एक तीसरी शक्ति—कुशल व्यापारियों के रूप में अँगरेज—अपनी सत्ता स्थापित करने में संलग्न थी। न्याय से, अन्याय से, जिस प्रकार भी हो सके, उनका उद्देश्य भारत का रक्त चूसना और पारस्परिक द्वेष-भावना को तीव्रतर करके अपना उल्लू सीधा करना था। हिन्दू और मुसलमान दोनों शक्तिहीन थे, अव्यवस्थित थे, असंगठित थे। किसीका कोई नेता नहीं था। इसीलिये १८५७ का वह विप्लव, राजनीतिक तथा धार्मिक कारणों से उठी हुई वह आँधी, शक्ति और अधिकार का वह पारस्परिक द्वन्द, जहाँ का तहाँ शान्त हो गया। हमारी सभ्यता, हमारा रहन-सहन, हमारी प्राचीन मर्यादा—सब पर अँगरेजी रंग चढ़ने लगा। इस प्रकार निराशा के उस युग में अपना

अवलोकन करने का अवकाश
...र्म, अपनी संस्कृति और सभ्यता पर सिंहावलोकन करने का अवकाश
...ी हमारे लिये नहीं था।

हिन्दू-समाज की दशा तो और भी शोचनीय थी। अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुओं ने अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये एक बार भरपूर चेष्टा की, पर अपने इस कार्य में उन्हें आंशिक सफलता ही मिली। ऐसी दशा में उन्होंने अँगरेजों की सत्ता का स्वागत किया। इस स्वागत-सम्मान में हिन्दू व्यापारी, अत्यन्त दरिद्र और अरक्षित लोग ही सम्मिलित थे। उच्च और सैनिक वर्ग अँगरेज सत्ता के विरुद्ध थे। वास्तव में १८५७ का राजनीतिक ज्वार उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था, पर जब वह शान्त होगया तब समस्त हिन्दू-जाति एक बार फिर शिथिल हो गई। बार-बार की पराजय से उसका अपने धर्म पर से विश्वास उठ गया। वह नास्तिक हो चली, पाखंड का बोल-बाला हो गया। भाँति-भाँति की कुरीतियाँ हिन्दू-समाज में घुस आईं। हिन्दू-समाज खोखला होने लगा। ऐसे खोखले समाज का साहित्य भी खोखला ही था।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनीतिक परिस्थिति ... ऐसी बेढंगी रही कि हमें उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हिन्दी का कोई ... सत्साहित्य ही नहीं मिलता। हमारा तो अनुमान है कि देव के पश्चात् ... हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक कोई प्रतिभाशाली ... कवि उत्पन्न ही नहीं हुआ। इस दीर्घ अवधि में जो कवि हुए भी ... वा तो दुरूह थे या रीतिकालीन परम्परा के अंधभक्त। जीवन ... उत्थान के लिए उनकी रचनाओं में कोई योजना ही नहीं थी। ऐसी ... में हिन्दुओं की अधोगत संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ उ... साहित्य भी खतरे में था। १८५७ की महा क्रान्ति समाप्त होने पर ... अँगरेजी शासन का प्रादुर्भाव हुआ तब कचहरियों में उर्दू भाषा ... बोलबाला रहा। हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा उस समय तक निश्चि... हुई नहीं थी। इसलिए कचहरियों में उसे स्थान मिलना कठिन ...

काव्य-क्षेत्र में तो मनमानी-घरजानी हो रही थी। काव्य का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। समस्या-पूर्ति ही काव्य का परम लक्ष्य था। शृङ्गार-काल की अश्लील नख-शिख की आँधी में कविगण लोक हित की कामना से रिक्त हृदय लेकर मुक्तमय आश्रय में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में जिन अभावों की पूर्ति के लिए ठोस विचार-प्रचार की आवश्यकता थी, उसकी ओर से सभी उदासीन थे। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशियों के सम्पर्क साहित्य ने भारत के शिक्षित समुदाय में एक नई चेतना भर दी थी, पर उस चेतना का नेतृत्व करने का किसी में सामर्थ्य नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू-जाति से सम्बन्ध रखनेवाली तीन समस्याएँ—राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक—बड़ी भयंकर थीं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में महान् व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। राजनीतिक क्षेत्र विशाल क्षेत्र था, उसकी समस्याएँ जटिल थीं। उन समस्याओं को हल करने और अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए समय और आन्दोलन की आवश्यकता थी। इसलिए इस क्षेत्र में अभी उपयुक्त नेताओं का जन्म नहीं हुआ था, पर सामाजिक क्षेत्र में आन्दोलन आरंभ हो गये थे। बंगाल में राजा राममोहन राय, युक्तप्रान्त तथा पश्चिमी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द आदि के प्रयत्नों से हिन्दू-जाति में नवीन स्फूर्ति और चेतना आ रही थी। बाल विवाह, वृद्ध-विवाह, अछूतोद्धार आदि की ओर स्वामी दयानन्द ने आकर्षित होकर हिन्दू जाति की बड़ी रक्षा की। इस सामाजिक आन्दोलन की एक यह भी विशेषता थी कि उसने स्वदेश प्रेम की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उत्तरी भारत में इन आन्दोलनों की देखा-देखी दक्षिण भारत में भी डा० भण्डारकर और रानाडे ने हिन्दू समाज को बचाने की चेष्टा की। कहने का तात्पर्य यह कि राजा राममोहनराय का ब्रह्म समाज, स्वामी दयानन्द का आर्य समाज, रानाडे का प्रार्थना-समाज आदि संस्थाओं से अंधकार के गर्त में पड़ी हुई हिन्दू-जनता को

आलोक मिला और उसे अपने जीवन के प्रति कुछ मोह उत्पन्न हुआ। सौभाग्य की बात थी कि इन आन्दोलनों के बीच भारतेन्दु ने जन्म लेकर हिन्दी-साहित्य का पल्ला पकड़ा और अपने जीवन के १६-१७ वर्षों में उन्होंने हिन्दी को इतना समृद्धिशाली, इतना सम्पूर्ण बना दिया कि वह उर्दू से टक्कर लेने में समर्थ हो गई। उन्होंने हिन्दी की प्रत्येक आवश्यकता की बड़े वैज्ञानिक ढंग से पूर्ति की और उसका प्रत्येक अंग परिपुष्ट किया। उन्होंने वस्तुतः देश की तीनों समस्याओं को एक साथ अपने साहित्य में चित्रित किया और उनकी ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इस दृष्टि से वह भारत के लिए कल्प-तरु सिद्ध हुए।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व

भारतेन्दु अपने समय की दिव्य विभूति थे। उनका व्यक्तित्व महान् था। वह 'कलिकाल के कन्हैया' थे। लम्बा क़द, इकहरा शरीर—न बहुत मोटा न बहुत पतला—आँखें कुछ छोटी, नाक सुडौल, कान कुछ बड़े, प्रशस्त ललाट, जिस पर कुँचित केशों की लम्बी लटें बल खाती थीं। उनके स्वभाव में अमीरी थी। ठाट-बाट रईसों का-सा था। वह जिस पर प्रसन्न हो जाते थे, उस पर लक्ष्मी पानी की तरह बहा देते थे। उनकी वाणी में कोमलता थी और स्वर में सहज माधुर्य था। उनके व्यवहार में शिष्टता थी। एक बार जो उनके सम्पर्क में आ जाता था वह उनका अनन्य मित्र बन जाता था। गर्व तो उनमें था ही नहीं, न अपनी विद्या का और न अपने धन का। अपनी राष्ट्र-प्रियता से उन्होंने अपने पूर्वज, सेठ अमीचन्द, का कलंक धो दिया था। हिन्दू-जाति पर उन्हें अभिमान था। उसके पतन से वह दुखी थे, चिन्तित थे। उसके कल्याण के लिए, उसका मस्तक उन्नत करने के लिए, वह सतत प्रयत्नशील रहे।

भारतेन्दु की धार्मिक भावना बड़ी प्रबल थी। तीन वर्ष की अवस्था ही में उन्हें कंठी का मंत्र दिया गया था और नौ वर्ष की अवस्था में वह

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। वह पुष्टि-मार्ग के समर्थक और 'राधारानी के गुलाम' थे। आर्य-समाज के वह विरोधी थे। वह वैष्णव-धर्म में ही नवीनता और उदारता का समावेश कर उसे सुसंस्कृत और समयोपयोगी बना देना चाहते थे। हिन्दू-जाति में उस समय जिन कुरीतियों ने घर कर लिया था उनके उन्मूलन के लिए वह बाह्य साधनों का सहारा न लेकर आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित रहना चाहते थे। वह भीतर से हिन्दू-जाति को शुद्ध करना चाहते थे। उन्होंने इसी विचार से 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। वह सामान्य हिन्दू-मत के पक्षपाती थे। वह साधारणतः साधारण सनातनी हिन्दू-दृष्टिकोण और प्रधानतः वल्लभीय कुल के आचार-विचारों से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने साधारण जनता को इनसे परिचित कराने के विचार से इस प्रकार का बहुत-सा साहित्य हिन्दी में उपस्थित किया था। ईसाई और इस्लाम धर्मों की आँच से हिन्दू-जाति की रक्षा के लिए उन्होंने इन धर्मों का साहित्य पढ़ा था और उनके सम्बन्ध में अपने विचारों को हिन्दू-जनता के सम्मुख रक्खा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनका व्यक्तित्व धार्मिक भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित था। उनका तदीय समाज उनकी धार्मिक भावना का प्रतीक था। इस संस्था ने अहिंसा और गोरक्षा का प्रचार किया और लोगों को मद्य और माँस का परित्याग करने के लिए बाध्य किया। तीर्थ-स्थानों में यात्रियों के साथ जो अत्याचार होते थे, उनकी ओर भी भारतेन्दु ने ध्यान दिया था। स्त्री-समाज की दुर्दशा भी उनकी आँखों से छिपी नहीं थी। उन्होंने अपने घर पर कन्या हाई स्कूल खोला और बाला-बोधिनी पत्रिका को जन्म दिया। वह समसामयिक हिन्दू नारी के सामने वीरता का आदर्श रखना चाहते थे। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दू-जाति की बड़ी-से बड़ी और छोटी-से-छोटी समस्या उनके विचारों का केन्द्र बन गई थी। इसीलिए हम उनके साहित्य में उनको भक्त, सुधारक और उपदेशक के रूप में पाते हैं।

धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ भारतेन्दु के जीवन में राष्ट्रीय विचारों का भी स्फुरण हुआ था। वह अपने देश की परिस्थितियों और उनकी दैनिक समस्याओं से भलीभाँति परिचित थे। अँगरेजी शासन शांतिप्रद था, पर उसकी व्यापारिक और साम्राज्यवादी नीति के वह समर्थक नहीं थे। अँगरेजों की इस दूषित नीति से भारत का जो अहित हो रहा था, उसके प्रति वह जागरूक थे। भारतीयों पर आनेवाली दैवी आपत्तियों को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था और उनसे वह अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अँगरेजी सत्ता का अपनी उग्र राष्ट्रीय भावनाओं के कारण कभी विरोध नहीं किया, वह सदैव राजभक्त बने रहे; पर उन्होंने सरकारी अधिकारियों और बड़े-बड़े स्तंभों की उपेक्षा की और साधारण जनता की उठती हुई बलवती प्रतिभा पर अपना विश्वास दृढ़ रखा। उनका युग इतनी ही स्वतंत्रता उन्हें दे सकता था। वस्तुतः वह सरकार की नीति के आलोचक नहीं थे, वह अपने देशवासियों के जीवन के आलोचक थे। वह अपने देशवासियों को अपने देश की परिस्थितियों से परिचित कराना चाहते थे। वह चाहते थे कि भारत के नर-नारी अपने देश की समस्याओं पर विचार करें, अपनी आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित करें और विदेश में धन जाने से रोकें। उन्होंने एक कुशल व्यापारी की भाँति भारत की आर्थिक परिस्थिति पर विचार किया और उद्योगीकरण की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया।

साहित्यिक क्षेत्र में भी भारतेन्दु का व्यक्तित्व बेजोड़ था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी, मराठी, गुजराती, बंगला, संस्कृत और प्राकृत के वह अच्छे विद्वान् थे। लिखने का उन्हें व्यसन था। डा० राजेन्द्रलाल के शब्दों में वह 'राइटिंग मशीन' थे। वह कई लिपियों में बड़ी सुन्दरता और सुगमता से लिख सकते थे। वह अध्ययनशील थे, अध्यवसायी थे। वह जिस काम को अपने हाथ में ले

लेते थे उसे सम्पूर्ण किये बिना वह चैन नहीं लेते थे। उनका आशु-कवित्व इतना प्रखर और प्रबल था कि उन्होंने 'अंधेर नगरी' की रचना एक ही दिन में समाप्त की थी। जैसी भी भाषा उनके पास थी, उस पर उनका पूरा अधिकार था। वह उर्दू में भी कविता करते थे। हिन्दी-साहित्य में हम उनके विविध रूपों का दर्शन करते हैं। वह कवि, लेखक, पत्रकार, नाटककार, उपन्यासकार, इतिहास-लेखक, अनुवादक सभी कुछ थे। उनकी मौलिकता अनूठी थी। उन्होंने भाषा का संस्कार किया, साहित्य को जीवन का क्षेत्र बनाया और उसे नई-नई भावनाओं से अलंकृत किया। अपने युग के वह हिन्दी-भाषा और साहित्य के नेता थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कई प्रतिभाशाली साहित्य-सेवियों को उत्पन्न किया। उनके ऐसे गुणों पर मुग्ध होकर पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने 'सार सुधानिधि' पत्र में उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव किया और सबने मुक्तकंठ से इसका समर्थन किया। तब से वह भारतेन्दु कहलाने लगे।

भारतेन्दु का जीवन हास्य और विनोद का जीवन था। हास्य उनके जीवन में कूट-कूटकर भरा हुआ था। होली के अवसर पर उनकी हास्यप्रियता देखने के योग्य होती थी। 'एप्रिल फूल्स डे' भी वह मनाते थे और एक क्षण में अपने विनोदमय व्यक्तित्व से सारे नगर को आनन्दमग्न कर देते थे। ताश और शतरंज के वह अच्छे खिलाड़ी थे। चतुरंग पर उन्होंने जो छप्पय लिखे हैं वह शतरंज-प्रेमियों के लिये बड़े ही मनोरंजक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भारतेन्दु का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में एक अनोखा व्यक्तित्व है। उनके व्यक्तित्व में जितना है, जो कुछ है, वह सब महान् है और इसीलिए आज हिन्दी-संसार उनका आभार स्वीकार करता है।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतना विचार करने के पश्चात् अब हम यह देखेंगे कि उन्हें सर्वप्रथम साहित्य-निर्माण की प्रेरणा कहाँ से मिली और उन पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ा, इस दृष्टि

भारतेन्दु पर प्रभाव

से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही काव्य-प्रेमी थे। उनके पिता के सम्बन्ध में हम यह बता ही चुके हैं कि वह अपने समय के अच्छे कवि थे। ऐसे पिता की सन्तान होने के कारण भारतेन्दु ने पाँच वर्ष की अवस्था में यह दोहा रचकर अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया था :—

लै ब्योंड़ा ठाड़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान॥

भारतेन्दु के शैशव काल का यह दोहा जहाँ उनकी कवित्व-शक्ति परिचय देता है, वहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देता है कि उनको दू-धर्म की पौराणिक कथाओं का अच्छा ज्ञान था और तभी उनके ा ने उन्हें आशीर्वाद देकर यह कहा था—'तू मेरा नाम बढ़ावेगा।' ान्तर में कवि-पिता की भविष्य-वाणी सत्य हुई। कवि-पिता ने कवि- को जन्म देकर हिन्दी-माता का रिक्त कुछ भर दिया। उन्होंने पं० कनाथ को भारतेन्दु की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। अतः यही रतेन्दु के काव्य-गुरु थे। उनकी देख-रेख में भारतेन्दु के हिन्दी के त-ग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन और मन्थन किया। उन्होंने संस्कृत पौराणिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों की भी छानबीन की और उनसे त प्रभावित हुए। इस प्रकार अपने जीवन के प्रथम वर्ष उन्होंने ययन में ही व्यतीत किये। इसके पश्चात् उन्होंने यात्रा की। यात्राओं उन्हें जीवन-व्यापी अनुभव प्राप्त हुए। देश के भिन्न-भिन्न भागों यात्रा करने से वहाँ की रीति-नीति जानने, भिन्न-भिन्न लोगों भावों तथा विचारों से परिचित होने तथा देश की साधारण स्थिति ज्ञान प्राप्त करने का उन्हें जो अवसर मिला उससे उनका मानसिक तेज विस्तृत हो गया। इसके बाद ही वह साहित्य-सेवा में लग गये। ांश यह है कि अपने पिता से साहित्य-निर्माण की प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने

अध्ययन और अनुभव से उसे पुष्ट किया। इस कार्य में उनकी धार्मिक भावना ने उनका अधिक पथ-प्रदर्शन किया। प्राचीन और नवीन सभ्यता के बीच उनकी धार्मिक भावना ने ही उन्हें मध्य मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य किया। वह कई बातों में नवीन होकर भी प्राचीन बने रहे। भारत की प्राचीन संस्कृति से भी वह अधिक प्रभावित थे। उसके अतीत गौरव के प्रति उनके हृदय में इतना मोह था कि वह अपने समाज की पतितावस्था देखकर उसी युग की याद करके अपने दुःखी हृदय को शान्त करते थे। इन पंक्तियों में उनके हृदय का क्षोभ देखिए :—

> कहाँ गये विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर,
> चन्द्रगुप्त चाणक्य, कहाँ नासे करि कै थिर,
> कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गये किते गिर,
> कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत हैं चिर,
> कहँ दुर्ग सैन, धन, बल गयो धूरहि धूर दिखात जग।
> जागो अब तो खल-बलदलन रक्षो अपनो आर्य मग॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में उस युग का करुण क्रन्दन है। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में मानवता का पतन ही इस करुण क्रन्दन का कारण है और इसके लिए वह भगवान से प्रार्थी हैं। मानव चारों ओर से थककर, अपने प्रत्येक प्रयास में विफल होकर, उसी महान् शक्ति के सामने अपनी यातनाओं के अन्त के लिए हाथ फैलाता है। भारतेन्दु अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आस्तिक हैं। सूर और तुलसी के समान वह भक्त नहीं हैं, पर ईश्वर की अनुकम्पा में, उसकी अपार शक्ति में, उनका दृढ़ विश्वास है।

भारतेन्दु अपने देश की राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी अधिक प्रभावित हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, वह प्रत्येक परिस्थिति में अपने देश को कभी नहीं भूले। इसी लिए उनकी प्रत्येक रचना

राष्ट्रीय विचार से ओत-प्रोत रहती है। साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने रीति-कालीन परम्पराओं का अनुगमन किया है। वही छन्द, वही कल्पनाएँ, वही उपमाएँ और वही अलंकार। उर्दू-कविता के सम्पर्क से हिन्दी-कविता में *अनुभूतिजन्य गम्भीर भावों के चित्रण की ओर भी उनकी* प्रवृत्ति हुई थी। सारांश यह है कि भारतेन्दु में जहाँ नवीनता है, वहाँ प्राचीनता भी बहुत है। वह अपने प्राचीन और नवीन युगों से समान रूप से प्रभावित हैं।

भारतेन्दु का महत्त्व

पर वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु का महत्त्व उन पर पड़े हुए इन प्रभावों के कारण नहीं है। लेखक और कवि अपने समय की विशेष परिस्थितियों से बराबर प्रभावित होते रहते हैं और उन प्रभावों का चित्रण करते रहते हैं। भारतेन्दु का महत्त्वांकन करते समय हमें यह देखना होगा कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को किन परिस्थितियों से निकालकर किस सीमा तक पहुँचाया और वह भविष्य के लिए कितना उपयोगी सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें उनके महत्त्व के सम्बन्ध में जो सब से पहली बात ज्ञात होती है वह है उनमें सफल नेतृत्व की क्षमता। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के उत्थान के लिए अपने जीवन का एक-एक क्षण, अपनी सम्पत्ति का एक-एक पैसा, अपनी प्रतिभा की एक-एक रेखा का दान कर दिया। वह हिन्दी के महान् नेता थे। विदेशी शासकों की परवाह न करके उन्होंने ऐसे समय में देश-प्रेम की मधुर रागिनी छेड़ी और उसका करुण स्वर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया जब राष्ट्रीय भावना की उद्भावना भी नहीं हुई थी। उनका प्रधान उद्देश्य था अकर्मण्यता और दासता के दल दल में फँसी हुई जनता का सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास कर उसे स्वदेशाभिमान का मूल्य बताना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक

उपलब्ध साधन का सम्यक् उपयोग किया। कविता, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, समाचार-पत्र—इन सब की ओर उनका ध्यान गया और इन सब को उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया। हिन्दी में राष्ट्रीय भावना के वह अग्रदूत थे।

भारतेन्दु के महत्त्व के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात है संधिकाल में सामञ्जस्य की भावना का सफल चित्रण। संधिकाल प्राचीन और नवीन कालों के संगम का काल होता है। ऐसे काल में जन्म लेकर वह कवि और लेखक सफल हो सकता है जो अपनी रचनाओं में दोनों कालों की मान्यताओं और उनकी विशेषताओं का अपनी मानसिक तुला पर उचित संतुलन कर जनता की मनोभावनाओं का सफल नेतृत्व करता है। भारतेन्दु इस दृष्टि से अद्वितीय हैं। भारतीय इतिहास में उनका संधिकाल अन्य संधिकालों की अपेक्षा अधिक भयंकर था। हिन्दूकाल का अवसान होने और इस्लामी सभ्यता का प्रादुर्भाव होने पर इस देश में चन्द ने हिन्दू-भावना का नेतृत्व किया, पर उनके नेतृत्व का प्रभाव चिरस्थायी नहीं रह सका। बात यह थी कि उन्होंने तत्कालीन जनता की भावना का नेतृत्व नहीं, अपनी काव्य-कल्पनाओं का, राजपूतों की युद्ध-प्रियता का चित्रण किया। कबीर भी संधिकाल के ही कवि कहे जाते हैं, पर उनकी साधना व्यक्तिगत साधना थी। लोक-जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण आदि मध्य युग के कवि थे। अतः हिन्दी में संधिकाल का सफल नेतृत्व करने वाला यदि कोई कहा जा सकता है तो वह भारतेन्दु हैं। उनके समय में हिन्दू-सभ्यता और साहित्य को एक ओर इस्लामी सभ्यता की लाडिली उर्दू भाषा से टक्कर लेनी थी और दूसरी ओर अँगरेजों की भरी-पूरी भाषा अँगरेजी से लोहा लेना था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी की रक्षा करना और उसे भारत के शिक्षित समुदाय में लोक-प्रिय बनाकर स्कूलों में स्थान दिलाना भारतेन्दु ही जैसे कर्मठ व्यक्तियों का काम था। इतना ही नहीं, उन्होंने भाषा का संस्कार किया, उसे जीवन प्रदान किया, काव्य की

प्राचीन शैलियों का परिमार्जन कर साहित्य और जीवन में सम्पर्क एवं समन्वय स्थापित किया और नयी उठती हुई उमंगों का पथ-प्रदर्शन किया। एक ही साथ, इतने कार्य और प्रत्येक कार्य में अभूतपूर्व सफलता! भारतेन्दु अपनी इस सफलता के कारण हिन्दी-जगत् में चिरस्मरणीय हैं और इसीलिए उनके नाम से उनका युग भारतेन्दु-युग कहा जाता है।

भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ

भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नव जागरण का युग माना जाता है। इस युग से रीतिकाल की परम्पराओं का अवसान और नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति इस युग की जननी है। भारतीय साहित्य में यह घटना आँधी की तरह आई और आँधी की तरह ही निकल गयी; पर इसने प्रत्येक समाज की नस-नस को हिला दिया। मानो हृदय में जो भावनाएँ सुषुप्त थीं उन्हें इसने जाग्रत कर दिया। देश का कोना-कोना नई चेतनाओं से, नई स्फूर्तियों से, क्रियाशील हो गया। पश्चात्य सुसम्पन्न साहित्य और सभ्यता के आलोक में भारतवासियों ने पहली बार अपनी हीनता का अनुभव किया जिससे उनमें प्रतिक्रिया की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। भारतेन्दु-युग की यही पहली विशेषता है। इस युग ने प्राचीन आदर्शों को नवजागरण के अनुकूल बना कर साहित्य में उन्हें स्थान दिया। फलतः तत्कालीन साहित्यकारों ने काव्य-परम्परा का क्रमशः परित्याग किया और हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति की एक ऐसी भावना को जन्म दिया जिसने आगे चलकर द्विवेदी-युग और प्रसाद-युग का प्रादुर्भाव किया।

भारतेन्दु-काल की दूसरी विशेषता है विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत करके हिन्दी के प्रति जनता में अनुराग उत्पन्न करना और हिन्दी-साहित्य को लोक-प्रिय बनाना। रीतिकालीन साहित्य-साधना का आदर्श ... था। वह रईसों, राजाओं और महाराजाओं के मनोरंजन तक ... था। इसलिए उस समय साहित्य के केवल एक अंग की—

शृंगार और अलंकार से लदी हुई कविता की—पुष्टि हुई। साहित्य का जनता के साथ, जनता के जीवन के साथ और उस जीवन के उत्थान-पतन, राग-द्वेष, दुःख-सुख के साथ, कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। भारतेन्दु-युग ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और उसे राजा-महाराजाओं के विध्वंस प्रकोष्ठों से निकालकर अनेकरूपता प्रदान की। फलतः नाटक, उपन्यास, निबन्ध, खण्ड-काव्य, गद्य-काव्य, इतिहास आदि लिखे जाने लगे। ऐसी दशा में कवियों में आश्रयदाताओं पर जीविका के लिये निर्भर रहने की जो दूषित भावना थी, उसका लोप हो गया और वह जनता के प्रति उत्तरदायी हो गये।

भारतेन्दु-युग की तीसरी विशेषता है अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल और प्रकृत चित्रण। रीतिकाल में सामान्य जनता से कवियों का सम्पर्क छूट गया था। इसलिए अपने आश्रयदाताओं के परितोष के लिए शृंगारी रचना में प्रवृत्त कवि सामयिकता तथा वास्तविकता से कोसों दूर जा पड़े थे। फलतः उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ान तो थी, पर भावों का यथार्थ और वास्तविक चित्रण नहीं था। सन् सत्तावन की आँधी ने रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाताओं का गढ़ तोड़ दिया। इस प्रकार विवश होकर उन्हें जनता के सम्पर्क में आना पड़ा और उसकी मनोभावनाओं का अध्ययन करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य में जहाँ शृंगार की प्रधानता थी, वहाँ लोक-भावनाओं की निर्मल धारा बहने लगी।

भारतेन्दु-युग की चौथी विशेषता है सामूहिक रूप से सभी साहित्यकारों का साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्द्धन में प्रशंसनीय सहयोग। इस दृष्टि से इस काल का साहित्य गोष्ठी-साहित्य था। इस युग में साहित्य का निर्माण भारतेन्दु और उनके इष्ट-मित्रों द्वारा ही हुआ। प्रत्येक लेखक अपनी मंडली के अन्य लेखकों से प्रोत्साहन पाने की आशा रखता था। वस्तुतः वह अपनी इष्ट मित्र-मंडली को सुनाने के लिए ही लिखता था। भारतेन्दु इस मंडली के केन्द्र थे। उन्हीं के पर पर

...ताओं और कवियों की बैठक होती थी। ऐसी बैठकों में हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओं पर वाद-विवाद होता था और नवीन रचनाओं पर टीका टिप्पणी होती थी। अपने उस समय की और आज की आलोचना में आकाश-पाताल का अन्तर था, तथापि उसमें व्यक्तिगत द्वेष की भावना नहीं थी। प्रत्येक कवि और लेखक अपने सम्बन्ध में की गई आलोचना को सहर्ष स्वीकार करता था और उसके आलोक में अपनी साहित्य-साधना का मार्ग निश्चित करता था। भाषा का परिमार्जन और संस्कार, काव्य-शैलियों की नवनिर्मित रूप-रेखा, काव्य-विषयों की छान-बीन आदि के निरूपण में सबका मत एक था। ऐसा जान पड़ता था कि उस युग के सब लेखक एक ही कुटुम्ब के व्यक्ति थे।

भारतेन्दु-काल की इन विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि हिन्दी का जो रूप आज हम देख रहे हैं वह वास्तव में उस युग का संशोधित और परिवर्धित संस्करण है। भक्तिकाल में कविता का विषय धर्म था, रीतिकाल में शृङ्गार था, भारतेन्दु-काल से इन दोनों का साहित्य में गौण स्थान हो गया। नवीन युग ने देश-प्रेम, स्वतंत्रता की भावना, समाज-सुधार की भावना आदि को प्राधान्य दिया है। पर इन धाराओं के साथ प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हैं। सारांश यह कि भारतेन्दु-युग अपनी सीमा के भीतर नवीन और प्राचीन दोनों है। उसमें भक्तिकाल का दैन्य भी है, रीतिकाल का माधुर्य भी है, नवीनकाल का देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावना भी है।

भारतेन्दु के पहले गद्य-साहित्य का सर्वथा अभाव था। आजकल जिस अर्थ में हम गद्य-साहित्य को स्वीकार करते हैं, उस अर्थ में गद्य-साहित्य का श्रीगणेश भारतेन्दु ने किया। उन्होंने गद्य के लिए खड़ी बोली को अपनाया और उसी का प्रचार किया। हिन्दी-साहित्य में उस समय गद्य शैली में जो ग्रन्थ उपलब्ध थे वह प्रायः ब्रजभाषा में थे। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने इतिहास, निबन्ध, कथा

भारतेन्दु का गद्य साहित्य

और उपन्यास लिखने की ओर ध्यान दिया। उन्होंने खड़ी बोली की रूप-रेखा निश्चित की और काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, बादशाह दर्पण आदि लिखकर इतिहास-रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में उन्होंने उपन्यास लिखने की ओर भी ध्यान दिया, पर वह कार्य उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया। उन्होंने कई निबन्ध लिखे। उनके निबन्ध गम्भीर, गवेषणापूर्ण, हास्यरसयुक्त और अपने में सम्पूर्ण होते थे। समाचार-पत्रों में वह बराबर कुछ न कुछ लिखा करते थे। उन्होंने गद्य-गीत भी लिखे थे। उनके कथात्मक निबन्धों में 'हमीर हठ', 'राजसिंह' और एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का स्थान है। ये तीनों निबन्ध अपूर्ण हैं। आख्यानों में मदालस, लीलावती, सुलोचना आदि महत्त्वपूर्ण हैं। आज के दृष्टिकोण से आलोचना करने पर इन आख्यानों का मूल्य कुछ भी नहीं है, पर जिस युग में भारतेन्दु ने इनकी रचना की थी उस युग मे इनका विशेष महत्त्व था और आज भी इसलिए उनका महत्त्व है। वेश्या-स्तोत्र, अंग्रेज-स्तोत्र, पाँच पैग़म्बर, कंकड़-स्तोत्र आदि उनके छोटे-छोटे हास्य-लेख हैं। इन निबन्धों और लेखों के अतिरिक्त उनके गद्य-साहित्य म नाटकों का भी स्थान है। इन नाटकों की चर्चा हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ हमें सारांश में यह समझ लेना चाहिए कि भारतेन्दु अपने समय के अप्रतिम गद्यकार और खड़ी बोली के प्रथम आचार्य थे

गद्य-लेखक होने के नाते भारतेन्दु अच्छे पत्रकार भी थे। उनका युग प्रचार का युग था और इसका प्रमुख साधन था समाचार-पत्र।

भारतेन्दु की पत्र-कला

भारतेन्दु ने हिन्दी-प्रचार के लिए इस साधन से भी पूरा लाभ उठाया। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के क्षेत्र में समाचार-पत्र और पत्र-कला का जन्म हो चुका था, पर वह अत्यन्त अधकचरी दशा में था। भारतेन्दु ने उसका संस्कार किया। सन् १८६७ ई० में उन्होंने 'कवि-वचन सुधा' प्रकाशित की और

यह इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके बाद हिन्दी पत्रों की शृङ्खला कभी नहीं टूटी। पहले यह मासिक पत्रिका थी और इसमें प्राचीन सामाजिक कवियों की रचनाएँ पुस्तिका-रूप में प्रकाशित होती थीं। कुछ समय पश्चात् यह पत्रिका पाक्षिक हो गई और इसमें राज-नीति तथा समाज सम्बन्धी निबन्ध प्रकाशित होने लगे। अन्त में यह साप्ताहिक हुई। इससे इस पत्रिका की लोक-प्रियता स्वयं सिद्ध हो जाती है। यह पत्रिका भारतेन्दु की मृत्यु तक बराबर निकलती रही।

पत्र-कला में भारतेन्दु का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न हरिश्चन्द्र मैगज़ीन है। यह पत्र सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ। दूसरे वर्ष इसका नाम हरिश्चन्द्र चन्द्रिका रख दिया गया। यह पत्र १८८० तक बड़ी सजधज से निकलता रहा। मासिक पत्रों में इस पत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त नाटक और पुरातत्त्वसम्बन्धी लेख भी रहते थे। १८८० ई० के पश्चात् आर्थिक संकट के कारण भारतेन्दु ने इससे अपना हाथ खींच लिया और यह मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के सम्पादकत्व में उदयपुर से निकलने लगा। नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के नाम से पुनः भारतेन्दु ने एक पत्रिका निकाली, पर इसकी दो संख्याएँ ही निकल पाई थीं कि उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने बालिकाओं के लिये बाला-बोधनी नाम की एक पत्रिका सन् १८७४ ई० में निकाली थी। यह पत्रिका भी कुछ ही समय तक निकल सकी। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक पत्रिका 'भगवत् तोषिणी' भी प्रकाशित की थी। यह वैष्णव-धर्म-प्रधान पत्रिका थी। यह भी एक वर्ष तक निकल कर बन्द हो गई।

भारतेन्दु के इन पत्रों से उनकी पत्र-कला का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। उनके इन पत्रों में उनके युग के सभी लेखकों ने योग दिया था और बाद को बड़े पत्रकार और साहित्यकार के रूप में हमारे सामने आये। इस दृष्टि से इन पत्रों ने उस युग में हिन्दी-प्रचार के साथ-साथ हिन्दी साहित्य-सेवियों की एक ऐसी सेना तैयार कर दी जो भारतेन्दु

की मृत्यु के पश्चात् भी हिन्दी साहित्य का भण्डार भरती रही। भारतेन्दु के जीवन-काल ही में लगभग २५ पत्र निकलने लगे थे। उस समय हिन्दी के लिए यह बड़े गौरव की बात थी।

अब तक हमने भारतेन्दु के गद्य-साहित्य की जो चर्चा की है उसमें उनके नाटकों को स्थान नहीं मिला है। अतः यहाँ हम संक्षेप में उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। उनके नाटकों के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वे कुछ तो मौलिक हैं और कुछ अनूदित। मौलिक नाटकों की रचना में भारतेन्दु ने नाटक की प्राचीन परम्पराओं का उसी सीमा तक अनुकरण किया है जहाँ तक हिन्दी नाट्य कला की आधुनिक आवश्यकताओं ने उन्हें आज्ञा दी है। अनावश्यक रूढ़ियों का परित्याग और नवीनता का आवश्यकतानुसार ग्रहण भारतेन्दु की एक विशेषता रही है और इस विशेषता का यथार्थ परिचय हमें उनकी मौलिक रचनाओं में मिलता है।

भारतेन्दु के नाटक

अब हमें यह देखना है कि भारतेन्दु अपनी नाट्य-कला में कहाँ तक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्य के विभिन्न अंगों के परिवर्तन एवं विकास में जहाँ वह अग्रसर रहे वहाँ इस दिशा में वह प्रथम आचार्य सिद्ध हुए। उनके पूर्व हिन्दी में नाटक थे ही नहीं। कुछ तो गद्य की भाषा का रूप स्थिर न होने के कारण और कुछ रंगमंचों के अभाव के कारण हिन्दी नाटकों की ओर किसी पूर्ववर्ती लेखक का ध्यान नहीं गया। श्रव्य काव्य का ही प्रत्येक दशा में बोलबाला रहा। मुसलमानों की धार्मिक भावना भी दृश्य काव्य-विरोधिनी थी। इसलिए उनके शासन काल में भी हिन्दी नाट्य रचना को प्रोत्साहन नहीं मिला। इस युग में नाटक नाम से कुछ चीजें अवश्य लिखी गई थीं, पर उनमें नाटकीय तत्त्वों का सर्वथा अभाव था। रामचरितमानस में जो नाटकीय छटा थी उसी को लेकर रामलीला के अवसरों पर कुछ खेल-तमाशे हो जाया करते थे। ऐसी ही कुछ मौलिक रचनाएँ भी हो

चुकी थीं। ब्रज-प्रदेश में भी इसी प्रकार के संवाद और गेय कृष्ण-लीला के नाम से लिखे गये थे। संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी पद्य में हुए। इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी नाटक के तीन रूप थे—१. राम लीला के लिए दोहे-चौपाइयों में गद्य-संकेतों के साथ संवाद, २. ब्रजभाषा पद्य में संस्कृत से अनुवाद जिनमें प्रायः संकेत रूप में गद्य होता था। और ३. संस्कृत के गद्य-अनुवाद। नाटक के इन रूपों में कोई साहित्यिक नाट्य कौशल नहीं था। भारतेन्दु-युग ने इस युग का अवसान देखा और नाट्य प्रिय अँगरेजी सभ्यता का अभ्युत्थान। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली का रूप भी उनके समय तक बहुत कुछ स्थिर हो गया था। अतः ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु को अपनी नाट्य-कला प्रदर्शित करने का अच्छा अवसर मिला। इस दिशा में उनके पिता ब्रजभाषा में नहुष नाटक लिखकर उनका पथ-प्रदर्शन कर चुके थे। वह नाट्य-प्रेमी थे, और नाट्य-कला से भली भाँति परिचित थे। भारतेन्दु पर इसका प्रभाव पड़ा। नाट्य कला में वह भी पारंगत थे। अभिनय में वह स्वयं भी भाग लेते थे। उन्होंने नाट्य-शास्त्र का अध्ययन भी किया था और उस पर हिन्दी में 'नाटक' नाम से एक निबन्ध भी लिखा था। कहने का तात्पर्य यह कि नाटक की रचना के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह समस्त गुण भारतेन्दु में थे। अपनी जगन्नाथ-यात्रा में वह बँगला नाटकों और नाटक-मंडलियों से भी परिचित हो गये थे। अतः उनका ध्यान इस ओर गया। उन्होंने संस्कृत के नाटकों की ओर भी ध्यान दिया। इसलिए उन्होंने नाटक रचना का अभ्यास अनुवाद से आरंभ किया। अँगरेजी नाटकों से उनका विशेष परिचय नहीं था। उनका 'दुर्लभ बन्धु, 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है। अनुवाद के साथ-साथ उन्होंने मौलिक नाटकों की भी रचना की। उनके मौलिक नाटक पौराणिक और ऐतिहासिक हैं।। 'भारत-दुर्दशा' उनकी मौलिक कल्पना का प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ही हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक नाटककार थे और इस रूप में भी हम उनको बहुमुखी और बहुरंगी पाते हैं।

भारतेन्दु के नाटक मर्मस्पर्शी होते हैं। उनमें जीवन की उठान के लिए पर्याप्त सामग्री रहती है। उनमें जातीय आदर्शों का सौंदर्य रहता है, सद्भाव की प्रखर प्रेरणा रहती है और राष्ट्रीय शक्ति का प्रभावशाली उद्घोष रहता है। उनको पढ़ने से जितना आनन्द आता है उतना ही रंगमंच पर उन्हें देखने से। उनसे हमारी अधोगामिनी मनोवृत्तियाँ परिष्कृत और शुद्ध होती हैं। उनमें हास्य और व्यंग्य की मात्रा भी अधिक रहती है। उनमें आत्मनिर्भरता और कर्मठता का भाव भरा रहता है। आडम्बरशून्य होने के कारण वह रंगमंच की शोभा भी बढ़ा सकते हैं। साधारण रंगमंच पर भी वे आसानी से खेले जा सकते हैं। उनका आकार भी इतना परिमित है कि दो-तीन घंटे उनके आद्योपान्त अभिनय के लिए पर्याप्त होते हैं। आज भी उनके अभिनय-द्वारा ग्रामों और नगरों में जन साधारण के बीच राष्ट्रीय समुत्साह का प्रचार किया जा सकता है। हम जहाँ भी चाहें वहाँ जाकर उनके उपयुक्त छोटा-मोटा रंगमंच खड़ा कर सकते हैं। सारांश यह कि जन-हित की दृष्टि से नाटकों के यथार्थ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आज हमें जैसे नाटकों की आवश्यकता है वैसे नाटक एकमात्र भारतेन्दु से ही प्राप्त होते हैं।

रचना-शैली की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक संस्कृत के नाटकों से अधिक प्रभावित हैं, पर उनमें सर्वत्र मौलिकता बनी हुई है। उनकी रचना-शैली में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों की रचना में न तो ऐकान्तिक रूप से प्राचीन नियमों का पालन किया है और न बँगला-नाटककारों की भाँति उनका सर्वथा परित्याग, अँगरेजी-नाटकों का अन्धानुकरण भी उनमें नहीं है। उनके सभी नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती है। पताका, स्थानक आदि का प्रयोग भी वह कहीं-कहीं करते हैं। इस प्रकार वह अपने नाटकों में प्राचीन भी है और नवीन भी। उनकी शैली इन दोनों युगों के कूल छूती हुई चलती है। वस्तुतः उनका युगान्तरकारी स्वरूप हमें उनके नाटकों में ही देखने को मिलता है।

भारतेन्दु की श्रेष्ठ तथा सबसे अधिक लोकप्रिय कृति सत्य हरिश्चं
नाटक है। इसमें सत्य का जो आदर्श अंकित है वह उनकी कला
सर्वथा मौलिक देन है। इस नाटक की रचना में उन्होंने क्षेमीश्वर
'चंडकौशिक' से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ली है, पर कथानक, उद्दे
और आदर्श की दृष्टि से यह उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली
उन्नत है। इसमें करुण, वात्सल्य, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रसों
परिपाक भी अच्छा हुआ है। हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और शैब्या
चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और सराहनीय है। भारतीय आदर्शों
इसमें पूरी रक्षा हुई है। वात्सल्य के चित्र तो बड़े ही मार्मिक हैं
नाटक के उपक्रम में भारतेन्दु ने बताया है कि यह रचना विद्यार्थि
के अध्ययन के लिए की गई थी। फलतः इसमें शृंगार का अभा
है। परन्तु स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तक में भी 'स्वत्व निज भा
गहै, कर दुख बहै' जैसी बातें लिखना, वह भी ऐसे स
में जब कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता आज-जैसी नहीं थी, भार
की देश-प्रेम भावना, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का द्योतक है
उत्कृष्ट जातीय भावना तथा देश हितैषिता की सच्ची लगन
अनेकानेक भावों का सम्मिश्रण रहता है। पूर्व गौरव की स्मृति, व
ग्लानि, भर्त्सना, व्यंग्य, फटकार, कातरता, उद्बोध आदि की भिन्न-
अनुभूतियाँ समय-समय पर अपनी झाँकी दिया करती हैं। भारत दु
देश-भक्ति पूर्ण राष्ट्रीय नाटक है और इसमें ये सब अनुभूतियाँ हृदय के सच्चे
के साथ स्थल-स्थल पर दिखाई देती हैं। रोग, आलस्य, मदिरा, अ
आदि भारत-दुर्दैव के सैनिक हैं। इनके कारनामों का वर्णन [illegible]
और [illegible] है। भारत की दुर्दशा को देखकर नील देवी में [illegible]
[illegible] का [illegible] पड़ता है। 'कहाँ करुणानिधि केशव [illegible]
में उनकी [illegible] का [illegible] देखने-योग्य है। 'जगत् [illegible]
[illegible] करे [illegible]' में उनकी [illegible] का [illegible]
—— है। ईश्वर की अनुकम्पा और उसकी शक्ति में विश्वास

हुए भी भारतेन्दु क्रियाशील हैं। अपने जीवन में भी और साहित्य में भी। वह रोते हैं, पर रोकर चुप नहीं रहते; समर-क्षेत्र में उतरकर लोहा लेने की क्षमता रखते हैं। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए इस युग के उपयुक्त नारी-चरित्र का चरम आदर्श उन्होंने नील देवी के चरित्र में चित्रित किया है। अँगरेजी रमणियों की उच्छृंखल विलासिता और तितलीपन से भारत के नारी-समाज को बचाने का यह एक सफल प्रयास है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति एक प्रहसन है जिसमें मांस तथा मदिरा सेवन करनेवालों का मज़ाक उड़ाया गया है और तत्कालीन समाज-सुधारकों, धर्म-प्रचारकों, विधवा-विवाह के पक्षपातियों और पाखंडी पण्डितों पर व्यंग्य के हास्यपूर्ण छींटे कसे गये हैं। चन्द्रावली शृंगार रसपूर्ण नाटिका है। इसकी भाषा बड़ी मधुर और परिमार्जित है और इसमें पीयूषवाही प्रेम का मंजुल चित्र अंकित किया गया है। संयोग और विरह के मार्मिक चित्रों से यह परिपूर्ण है। प्रेम और औत्सुक्य का इसमें अच्छा सामञ्जस्य हुआ है। अंधेरनगरी भी एक प्रहसन है। इसमें देश की वर्तमान स्थिति के बड़े आकर्षक और व्यंग्यपूर्ण चित्र हैं।

यह तो हुआ भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटकों का सामान्य परिचय। अब हम उनकी नाट्य-कला पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में हम पहले बता चुके हैं कि उन्होंने नाट्य शास्त्र के प्राचीन सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। उनके नाटकों में न तो अर्थ-प्रकृतियों का ही पता चलता है और न संधियों का ही। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी शास्त्र-सम्मत नहीं है। उनमें कम-विकास का भी अभाव है। वस्तुतः उनके नाटक आधुनिक शैली के अनुकूल हैं। अतः इसी दृष्टि से हमें उन पर विचार करना चाहिए :—

१. कथावस्तु—भारतेन्दु के नाटकों का विषय प्रेम और राष्ट्रीयता है। उनकी राष्ट्रीयता ही आर्य-गौरव और देश-प्रेम आदि के रूप में प्रकट हुई है। उनके नाटकों में सामाजिक जीवन के भी मार्मिक चित्र हैं।

यथार्थ विषयों का आधार प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक तथा
प्रागैतिहासिक अथवा पौराणिक में सत्य हरिश्चन्द्र,
नीलदेवी और काल्पनिक में भारत-दुर्दशा का स्थान मुख
दुर्दशा में कोई कथावस्तु नहीं है। इसमें भारतेन्दु की र
ही कथा के रूप में चित्रित हुई हैं।

भारतेन्दु ने अपने कथानकों का संगठन अपने निजी
है। उनके प्रत्येक नाटक अंकों में और फिर दृश्यों में विभा
सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली आदि तो अंकों में विभक्त हैं;
तथा भारत-दुर्दशा आदि दृश्यों में। कथानक में क्रम-
नहीं है। कुछ नाटक तो आदि से अन्त तक एक ही स
हैं। अंकों के छोटे-बड़े होने के नियम को भी कोई महत्
गया है। साधारणतः बाद वाले अंकों को पिछले अंकों की
होना चाहिए, पर सत्य हरिश्चन्द्र में इस सामान्य नियम क
की गई है। अंधेरनगरी आदि नाटकों में दृश्य शृंखलाबद्ध
की रुचि को स्थापित देने के लिए भिन्न-भिन्न दृश्यों में
का समावेश किया गया है।

भारतेन्दु के कथानक मनोरंजक, प्रभावोत्पादक और
उन्होंने अपने सभी नाटकों में हास्य की कुशल योजना क
साथ ही वह राष्ट्रीयता और आर्य-गौरव को भी नहीं भूले
की सामग्री एकत्र करने में उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक रही
अमीर, कर्मण्य, अकर्मण्य, पंडित-मूर्ख, देश-विदेश सभी और
गई है। फलतः कल्पना और अनुभूति, आदर्श और यथ
और पृथ्वी का अत्यन्त सुन्दर सम्मिलन उनके नाटकों में हुआ है

२. चरित्र चित्रण—भारतेन्दु के नाटक चरित्र-प्रधान
अतः उनमें घटनाओं की सर्वथा गौणता रहती है। आरम्भ
और नटी आदि के सम्भाषण से नायक के चरित्र पर

रहती हैं और अपने स्पर्श और चोट से नायक के चरित्र का विकास करती हैं। भारतेन्दु अपने पात्रों के एक-एक अंग को धीरे-धीरे अनावृत करते हैं। उनके पात्र मानव और देव, सज्जन और दुष्ट, वास्तविक और कल्पित सभी प्रकार के होते हैं, जिनके गुण-दोषों का आरम्भ में निर्देश-सा कर दिया जाता है। उनके पात्र स्थिर होते हैं, परिवर्तन-शील नहीं। वह एक निश्चित लीक पर उत्तरोत्तर बढ़ते हैं और अन्त में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाते हैं। आरम्भ में पात्रों के जिन रूपों के धूमिल रेखा चित्र लेकर नाटककार उपस्थित होता है, अन्त में उन्हीं रूपों का स्पष्ट और अनुरंजित चित्र देकर वह रंगमंच से तिरोहित हो जाता है। प्रथम झांकी में पात्रों के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा बँधती है वही अन्त तक बनी रहती है। उसमें किसी प्रकार का कहीं भी परिवर्तन नहीं होता। हरिश्चन्द्र, नील देवी आदि ऐसे ही पात्र हैं। विश्वामित्र इसके अपवाद रूप हैं।

भारतेन्दु का चारित्र-चित्रण सजीव और स्वाभाविक होता है। उनके सभी पात्र जीते-जागते होते हैं और हमारे हृदय को छूने और उसे अनुप्राणित करने में समर्थ होते हैं। उनके पात्र सामान्य भूमि से ऊपर उठे हैं और कुछ अतिरंजित भी हैं। हरिश्चन्द्र और चौपट्ट राजा ऐसे ही पात्र हैं। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण में मानव की सरल मनोवृत्तियों का ही अंकन मिलता है। सूक्ष्म मनोभावों की इनमें बड़ी कमी है। मानव हृदय का अन्तर्द्वन्द्व इन पात्रों में नहीं है। भारतेन्दु के पात्र अपने मनोविकारों और कुवृत्तियों से उतना नहीं लड़ते जितना अपनी परिस्थितियों से। इसका एक कारण है। उनके पात्र वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। हरिश्चन्द्र उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो सत्य के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है। चन्द्रावली, नील देवी आदि नारियाँ भी किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु ने अपने चरित्र-चित्रण में उन सभी

उपादानों से काम लिया है। जिनके कारण उसकी रोचकता में अभिवृद्धि होती है। चरित्र-चित्रण में निम्न उपादान होते हैं :—

१. कथोपकथन में पात्रों की उक्तियाँ,
२. उनका स्वगत भाषण,
३. उनके सम्बन्ध में अन्य पात्रों के कथोपकथन, और
४. उनका निजी कार्य-व्यापार।

भारतेन्दु सर्वप्रथम अन्य पात्रों के कथोपकथन द्वारा अपने नायकों का संक्षिप्त परिचय दे देते हैं और तब उनके कार्य-कलापों द्वारा अपने अभिमत की परिपुष्टि करते हैं। बीच-बीच में स्वगत-कथन और आकाश भाषित द्वारा पात्रों की मानसिक अवस्था और आन्तरिक भावनाओं पर भी प्रकाश पड़ता रहता है। पात्रों की भाषा उनकी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल है।

१. कथोपकथन – भारतेन्दु के नाटक इतिवृत्तात्मक होते हैं, इसलिए उनमें कथोपकथन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। नाटक की रचना में नाटकत्व और कवित्व लाने, कथानक के प्रभाव को गतिशील और रोचक बनाने तथा पात्रों के मनोवेगों और भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए कथोपकथन की आवश्यकता होती है। वह जितना ही सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक, शिष्ट, चुटीला और देश-काल तथा पात्र के अनुकूल होता है उतना ही नाटक की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु ने पात्रोचित भाव और भाषा पर पूर्ण रूप से ध्यान दिया है। जो पात्र जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है अथवा जिस संसर्ग में रहता है उसके भाव भी वैसे ही हैं; दुष्टों के विचार दुष्टतापूर्ण और सज्जन के सज्जनतापूर्ण। भारतेन्दु में जब सिद्धान्तों के प्रतिपादन और राष्ट्रीयता के भाव तीव्र हो जाते हैं तब उनके कथोपकथन कुछ अस्वाभाविक हो जाते हैं, ऐसा जान पड़ता है वह नाटककार नहीं बक्ता है। ऐसे प्रसंगों पर कथोपकथन की रोचकता नष्ट हो जाती है और दर्शक या पाठक ऊब जाता है। कथोपकथन छोटा, संक्ष

गम्भीर, संदर्भपूर्ण और सुचीना होना चाहिए। भारतेन्दु स्थान स्थान पर वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं और उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि के फेर में पड़ गये हैं।

४. अन्य विशेषताएँ—भारतेन्दु के प्रायः सभी नाटक अभिनय-शील हैं। उनमें मनोरंजन का केन्द्र आदि से अन्त तक बना रहता है। उनके नाटकों में कविता का विशेष स्थान रहता है। उनमें ऐसे अनूठे और विलक्षण दृश्य नहीं रहते जो रंगमंच पर न दिखाये जा सकें। उनमें प्राचीनता और नवीनता का अद्भुत संगम रहता है। उनके सभी पात्रों में भारतीय संस्कृति भरी रहती है और वह अपनी तत्कालीन परि-स्थितियों से परिचित और प्रभावित रहते हैं। उनकी वेश-भूषा भारतीय होती है। वह उच्च उद्देश्यों और आदर्शों के पोषक और रक्षक होते हैं। जीवन की उदात्त वृत्तियाँ उनमें भरी रहती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु का वही स्थान है, जो संस्कृत के नाट्य-साहित्य में भरत मुनि का है। उन्होंने हिन्दी का रंगमंच तैयार किया और जनता का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया। उनके समय में नाटकों की दशा बड़ी शोचनीय थी। उनका न तो अपना रंगमंच था और न अपनी शैली। पारसी रंगमंच पर अश्लील अभिनय होते थे, इसलिए शिक्षित समाज में नाटक का नाम लेना ही निन्दनीय समझा जाता था। लोगों की यह धारणा हो चली थी कि नाटक देखना चरित्र भ्रष्ट करने का एक साधन है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भारतेन्दु ने हिन्दी-नाटकों की लोकप्रियता सिद्ध की। इतना ही नहीं, उन्होंने नाटक लिखे; उनका अभिनय किया और स्वयं उनमें सक्रिय भाग लिया। इसका फल यह हुआ कि शिक्षित वर्ग का नाटकों के प्रति जो प्रतिकूल दृष्टिकोण था उसका परिमार्जन हो गया। पर केवल दृष्टि-कोण का परिमार्जन करना ही उस समय अलम् न था। नाटकों को प्रेम के अश्लील क्षेत्र से निकालकर धार्मिक क्षेत्र में लाने की भी आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने

कुछ तो प्राचीन संस्कृत नाटकों के अनुवाद द्वारा की और कुछ मौलिक रचनाओं द्वारा। उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता के उच्च उद्देश्य ही जनता के सामने रक्खे। देश के तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रों से भी उन्होंने अपने नाटकों को सजाया और इस प्रकार उन्हें पूर्ण बना दिया। हिन्दी आज उनकी इस कार्य-कुशलता का आभार मानती है और अपने नाट्य-साहित्य में उन्हें प्रथम स्थान देती है।

नाट्य-साहित्य की भाँति भारतेन्दु का काव्य-साहित्य भी बहुत विस्तृत और विविधतापूर्ण है। वस्तुतः उनका सारा जीवन ही काव्यमय था। वह साधारण कवि नहीं, आशु कवि थे। इसलिए लिखने का सामान सदैव उनके साथ रहता था। उनके मन में जब तरंग उठती थी तब वह लिखने बैठ जाते थे और धारावाही रूप से लिखते थे। उन्हें कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वह भावावेश में जो कुछ लिखते थे वह कविता ही होती थी। भावुकता उनमें इतनी अधिक थी कि उसका उद्रेक होने पर उन्हें अपनी स्थिति तक का ध्यान नहीं रहता था। वह खाना-पीना तक भूल जाते थे।

भारतेन्दु की काव्य-साधना

भारतेन्दु का काव्य कई रूपों में हमें मिलता है। उनकी रचनाओं में प्रत्येक युग का प्रतिनिधित्व हुआ है। वह प्रत्येक युग की जिन विशेषताओं से प्रभावित थे उन्हीं के अनुरूप उन्होंने कविता की थी। वह अपनी रचनाओं में कभी भक्ति-कालीन हैं, कभी रीति कालीन और कभी एकदम शुद्ध आधुनिक। इन विविध रूपों के अतिरिक्त उन्होंने बँगला और उर्दू कविताएँ भी लिखी हैं। वह अपने समय के उर्दू के प्रतिष्ठित कवि थे और मुशायरों—उर्दू-कवि-सम्मेलनों—में बराबर भाग लेते रहते थे। 'रसा' उनका उपनाम था। उनकी बहुत सी कविताएँ इस श्रेणी में आती हैं। अपनी सुविधा के लिए हम उनकी समस्त कविताओं को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. भक्ति प्रधान, २. शृंगार प्रधान, ३. देश-प्रेम प्रधान और ४. सामाजिक समस्या प्रधान।

१. भक्ति-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु पुष्टि-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त थे। इससे उनकी कविता का सबसे बड़ा भाग वैष्णव-साहित्य के अन्तर्गत आता है। वैष्णव-कृष्ण-भक्ति काव्य के जितने भी अंग हैं, उन सब पर उन्होंने कुछ-न-कुछ लिखा है। उनका धार्मिक दृष्टिकोण इस पद में देखिए :—

> हम तो मोल लिये या घर के,
> दास-दास श्री वल्लभ कुल के, चाकर राधावर के।

भारतेन्दु का भक्ति-साहित्य गीत-काव्य की श्रेणी में आता है। इसके अन्तर्गत हमें लगभग डेढ़ हजार पद मिलते हैं। इतने सुन्दर पद इतनी बड़ी संख्या में अष्टछाप के कवियों के पश्चात् भारतेन्दु ही ने लिखे हैं। इन पदों का विषय राधा-कृष्ण-लीला है, पर अन्य विषयों का समावेश भी कुछ पदों में हुआ है। बाललीला, राधाकृष्ण प्रेम-विलास, मान, रूप-वर्णन, वंशी, दान, विरह, मिलन, भ्रमर-गीत, नैन और मन के प्रति कहे पद उनके रीति-काव्य में विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति, विनय, दैन्य, होली, वसन्त, फाग वर्षा आदि का वर्णन भी उनके पदों में पाया जाता है। इनमें हम कवि को कृष्ण-भक्त-कवियों की परम्परा का विकास करते पाते हैं। भारतेन्दु का समस्त कृष्ण-काव्य सूर के काव्य के आधार पर खड़ा है। वही विषय, वही भाषा, वही शब्द-विन्यास, वही दैन्य, वही भाव-भंगिमा। जयदेव के गीतगोविन्द की छाप भी इन पर पड़ी है, पर सूर की अपेक्षा कम। कुछ नमूने देखिये :—

> चिर जीवो मेरे कुँवर कन्हैया।
> इन नैनन हौं नित नित देखौं रामकृष्ण दोऊ भैया॥
> × × ×
> ब्रज के लता पता मोहिं कीजै।
> गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
> × × ×

> छिपाये छिपत न नैन लगे।
> उघरि परत सब जानि जात हैं, घूँघट में न रुगे।

× × ×

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु अपने कृष्ण-काव्य में सूर की शैली से अत्यधिक प्रभावित हैं और उसी के अनुकूल उनकी पद-योजना हुई है। इस दृष्टि से वह कृष्ण-काव्य की परम्परा के अन्तिम कवि हैं।

हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु पर सूर का अधिक प्रभाव है, पर इस प्रभाव से सर्वत्र उनकी मौलिकता नष्ट नहीं हुई है। देवी-छद्मलीला, और तन्मय लीला आदि खण्ड-काव्यों में जो कथायें हैं, वह सर्वथा मौलिक हैं। इन मौलिक प्रसंगों के अतिरिक्त उन्होंने राधा के जन्म, प्रेम विकास और कृष्ण के प्रति प्रेम भाव के बड़े अनूठे और सुन्दर चित्र उतारे हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त उनके कई पदों में ब्रजभूमि के कृष्ण-उत्सवों का भी सफल चित्रण हुआ है। संत-काव्य की शैली में उनकी एक रचना देखिये :—

> याओ एक दिन मौत जरूर।
> फिर क्यों इतने गाफिल होकर बने नशे में चूर॥

इस प्रकार के पद भारतेन्दु की भक्ति-भावना के विषय नहीं हैं, पर फिर भी ऐसे ज्ञान प्रधान पदों को लिखकर उन्होंने अपने साहित्य में संत कवियों की भावना और उनकी शैली का प्रतिनिधित्व किया है।

२. शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु की भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं के पश्चात् उनकी शृङ्गार-प्रधान रचनाएँ आती हैं। ऐसी रचनाएँ प्रायः कवित्त और सवैये में पाई जाती हैं। उनके कवित्त और सवैये अनुभूति से भरे हैं। इस दृष्टि से वह पद्माकर, घनानन्द, और रसखान

की श्रेणी में आते हैं। उन्होंने इन कवियों की भाँति शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इस क्षेत्र में उनके काव्य का विषय है राधा-कृष्ण का प्रेम। उन्होंने प्रेम के दोनों पक्षों का—संयोग और वियोग का—सफल चित्रण किया है। वियोग के चित्रण में संयोग के चित्रण की अपेक्षा उन्हें अधिक सफलता मिली है। उनकी कविता में प्रेम की सरिता का अजस्र प्रवाह है। कुछ काव्य-पुस्तकों का प्रणयन ही प्रेम के नाम से हुआ है। प्रेम-फुलवारी, प्रेम-माधुरी, प्रेम तरंग आदि काव्य-ग्रन्थ प्रेम की उदात्त वृत्तियों से भरे पड़े हैं। उनकी प्रेम भावना संयत और शिष्ट है। रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने प्रेम के अश्लील वर्णन से अपनी शृङ्गारी रचनाओं की रक्षा की है। उनकी रचनाएँ इतनी सरस, भावपूर्ण, चुटीली और प्रभावपूर्ण होती हैं कि पाठक के हृदय को अपने में तन्मय कर लेती हैं।

३. देश-प्रेम-प्रधान रचनाएँ—वस्तुतः भारतेन्दु की जीवन-ज्योति का केन्द्रिय बिन्दु प्रेम ही है। यह प्रेम कभी गंगा के समान भगवान् के श्री चरणों से उच्छ्वसित हुआ है, कभी राधा और कृष्ण के सम्मिलित हृदय से प्रवाहित होकर काव्य की पृष्ठभूमि बना है और कभी देश और राष्ट्र के कल्याण के लिए फूट पड़ा है। उनके प्रेम के प्रथम दो रूपों का चित्र हम देख चुके हैं, तीसरे का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

> पृथ्वीराज-जयचंद कलह करि यवन बुलायो,
> तिमिरलंग चँगेज आदि बहु नरन कटायो,
> अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो,
> विषय वासना दुसह मुहम्मदसा फैलायो,
> तब लौं बहु सोये वत्स तुम जागे नहिं कोऊ जतन।
> अब तौ रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छाँड़ि मन ॥

भारतेन्दु का युग विक्टोरिया का शासन-काल था। इस काल में

एक लम्बी अवधि के पश्चात् शांति स्थापित हुई थी। अतः भारतेन्दु ने इस काल में लोगों का ध्यान देश की ओर आकर्षित किया। सर्व प्रथम उन्होंने भारत-दुर्दशा में अपने प्रेम का परिचय इस प्रकार दिया :—

> रोअहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
> हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

इसी नाटक के छठे अंक में उन्होंने भारत-भाग्य से यह भी कहलाया :—

> अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
> फिरि पछताए कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में राष्ट्रीय आत्मा का जैसा स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी प्रायः समस्त रचनाएँ ऐसे चित्रों से भरी पड़ी हैं। चाहे जैसा अवसर, हो चाहे जैसी रचना हो वह अपने देश को कभी नहीं भूलते। घूम फिर कर उन्हें उसके पूर्व गौरव, उसकी वर्तमान हीनावस्था और उसके भविष्य का ध्यान आ ही जाता है। उस समय वह अपने विचारों को रोक नहीं सकते। भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करके उनका यह कहना—'सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय'—उनके क्षोभ उनकी निराशा और उनकी उद्विग्नता को सूचित करता है। 'कहाँ करुनानिधि केशव सोए' में उनकी करुणा का बड़ा ही मार्मिक रुदन है। विदेशी सत्ता के अत्याचारी पंजों से कसा हुआ भारत पग पग पर जिन कठिनाइयों का अनुभव कर रहा था उनसे वह भलीभाँति परिचित थे। वह जानते थे कि भारत के हित में विदेशी शासन घातक है। वह यह भी अनुभव करते थे कि भारत में जितनी मार और कराह है, जितना रुदन और कोलाहल है उसका कारण आर्थिक संकट है। इस लिए स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं

के विरुद्ध भी उन्होंने अपनी रचनाओं में संकेत किया। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' और 'उपधर्म छूटे, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै' आदि पंक्तियों में उनकी यही भावना चित्रित हुई है। वह यह भी कहते हैं :—

> कछु तौ वेतन में गयो, कछुक राजकर माँहिं।
> बाकी सब व्योहार में गयो रह्यो कछु नाहिं॥

सारांश यह कि उनके हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति जाग्रत हो उठती थी। वस्तुतः आज की राष्ट्रियता का प्रथम मंत्रोच्चार उन्होंने ही किया था।

४. सामाजिक समस्या-प्रधान रचनाएँ—भारतेन्दु की सामाजिक विषयों में भी रुचि थी। वह प्रत्येक कल्याणकारी सामाजिक आन्दोलन को सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। समाज के दोष उनसे छिपे नहीं थे। उनका कहना था :—

> रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।
> शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए॥
> करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो।
> विधवा ब्याह निषेध कियो व्यभिचार प्रचारयो॥

भारतेन्दु की इन पंक्तियों में तत्कालीन हिन्दू-समाज की उन समस्याओं का विवरण है जिनकी ओर सुधारवादियों का ध्यान था। धार्मिक *पाखण्ड, विभिन्न मत-मतांतरों का प्रचार, अनेक जातियों की उत्पत्ति,* छुआछूत की दूषित प्रणाली, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अंधविश्वास, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि समस्याएँ भारतेन्दु के सामने थीं। उन्होंने इन समस्याओं को अपने दृष्टिकोण के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न किया। समाचार-पत्रों द्वारा उन्होंने सामाजिक आन्दोलन चलाया और कविताएँ लिख-लिखकर जनता का ध्यान सामाजिक दोषों की ओर आकर्षित

किया। उनके समय में समाज-सुधारकों के तीन दल थे—१. अपरिवर्तनवादी सनातनी, २. वैदिक धर्म के पक्षपाती और ३. अँगरेजी सभ्यता के पोषक। अपरिवर्तनवादी युग-परिवर्तन की ओर आँखें बन्द करके लकीर के फकीर बने थे। वैदिक धर्म के पक्षपाती स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में सनातनियों का खंडन और ईसाई तथा इस्लाम धर्म का विरोध कर रहे थे। अँगरेजी सभ्यता के पोषकों को न तो अपने समाज की चिन्ता थी और न अपने देश की। भौतिकता की आँधी में वे चले जा रहे थे। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। वह न तो हिन्दू-समाज को छोड़ने के लिए तैयार थे और न उसे ज्यों का त्यों अपनाने के लिए। उन्होंने समाज में सुधारों का समावेश सामंजस्य की भावना की दृष्टि से किया। धार्मिक एकता स्थापित करते हुए उन्होंने जैन कुतूहल में कहा :—

> खंडन जग में काको कीजै।
> सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै॥
>
> × × ×
>
> नहिं मन्दिर में, नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में।
> हरीचन्द वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में॥

भारतेन्दु स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि स्त्रियाँ शिक्षित होकर वीर प्रसविनी बनें।

सारांश यह कि भारतेन्दु केवल साहित्यकार ही नहीं, समाज-सुधारक भी थे। उनका साहित्य उनके नेतृत्व का एक रूप है। उन्होंने जन-साहित्य भी लिखा है। ठुमरी, लावनी, गजल, ख्याल, नौटंकी के गाने और सामाजिक आचार-व्यवहार तथा उत्सवों पर गाये जानेवाले गानों की भी उन्होंने रचना की है। उन्हें इस जन-शैली में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है।

भारतेन्दु ने प्रकृति के भी चित्र उतारे हैं, पर इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। उनके मानव-प्रकृति के चित्र शुद्ध और यथार्थ हैं।

भारतेन्दु का प्रकृति-चित्रण

इसका एक कारण है। भारतेन्दु का समस्त जीवन एक नगर के बीच भव्य भवन में व्यतीत हुआ था। उन्हें उद्यानादि की भी विशेष रुचि नहीं थी। पर्यटन आदि में भी वह वन्य शोभा की ओर विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए थे। फलतः प्रकृति-चित्रण में उन्हें विशेष आनन्द नहीं मिला। शुद्ध प्राकृतिक वर्णन का इसीलिए उनके साहित्य में अभाव है। सत्य हरिश्चन्द्र में जिस गंगा का वर्णन है वह उच्च पर्वत-मालाओं तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होने वाली गंगा न होकर काशी की विशालकाय घाट-माला के नीचे प्रवाहित होने वाली गंगा-धारा का है। इस गंगा-धारा के धार्मिक महत्त्व से प्रेरित होकर भारतेन्दु ने उसका जो चित्र अंकित किया है, उसमें मानव प्रकृति ही का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। देखिये :—

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

चन्द्रावली में यमुना की शोभा भी कुछ इसी प्रकार [illegible] है। उसमें कवि-कौशल ही अ[illegible] की [illegible] है कम है।

भारतेन्दु मुग्ध भी नहीं होने पाते थे कि मानव-प्रकृति का वेग उन्हें
बहा ले जाता था और वह प्रकृति का वर्णन करते-करते मानव-प्र
वर्णन करने लग जाते थे।

पक्षियों के नाम गिनना या उनकी बोलियों को अपनी
व्यक्त करना प्रकृति-चित्रण नहीं है। भारतेन्दु ने अपने प्रकृति-वर्णन
प्रकार का भी प्रयास किया है :—

> कूजत कहुँ कल हंस, कहूँ मज्जत पारावत।
> कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल कुक्कट धावत॥

यह प्रकृति का सांगोपांग चित्र नहीं, उसका इधर-उधर बिख
वर्णन-मात्र है। इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण एक कविका
चित्रण नहीं कहा जा सकता। प्राकृति-चित्रण में कवि अपना
का प्रकृति की आत्मा के साथ सामजस्य स्थापित करता है
उसका चित्रण करता है। प्रकृति के ऐसे चित्रों में सजीवता हो
भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण में सजीवता नहीं है। उसके पढ़ने से
काव्य-कौशल तो सामने आता है, प्रकृति का यथार्थ चित्रण नहीं
दशा म हम भारतेन्दु को प्रकृति-चित्रण का सफल कवि नहीं कह
पर एक दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य है। उनके पहले प्रकृति
एक बँधी हुई सीमा के भीतर केवल परम्परा-पालन की दृष्टि से
जाता था। रीतिकालीन कवियों का प्रकृति के प्रति अनुराग नहीं
वह तो नारी-सौंदर्य के उपासक थे। यदि कभी प्रकृति-वर्णन की
झुके भी तो वह केवल नारी-सौंदर्य में चमत्कार उत्पन्न करने के
उनके ऐसे प्रकृति-वर्णनों में काव्य-कौशल ही रहता था, प्रकृति
का चित्र नहीं। भारतेन्दु ने अपने युग में साहित्य के इस अज्ञ
पर भी ध्यान दिया। प्रकृति-चित्रण का कोई आदर्श उनके सामने
था, अतः उन्होंने अपने ढंग से उसका चित्र अङ्कित किया।
फल यह हुआ कि उनका संकेत पाकर तत्कालीन कतिपय कवि

प्रकृति के घड़े ही भव्य चित्र उतारे और आज भी उतारते चले आ रहे हैं।

भारतेन्दु की रस-योजना उनके साहित्य में दो स्थलों पर देखने को मिलती है—१. नाटकों में और २. काव्यों में। भारतेन्दु के नाटकों की आलोचना करते समय हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने अपने हरिश्चन्द्र नाटक में करुण, वीर, रौद्र, वात्सल्य, बीभत्स तथा भयानक रस के बड़े ही स्वाभाविक स्थल उपस्थित किये हैं। विद्यार्थियों की दृष्टि से लिखा जाने के कारण इसमें शृंगार का अभाव है। चन्द्रावली नाटिका में शृंगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। उसमें संयोग और वियोग दोनों के चित्र हैं। वियोग का चित्र संयोग के चित्र की अपेक्षा अधिक मार्मिक और व्यंजनापूर्ण है।

भारतेन्दु की रस-योजना

वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसके चार भेद मुख्य हैं—१. युद्धवीर, २. धर्मवीर, ३. दानवीर और ४. दयावीर। हरिश्चन्द्र प्रथम रूप को छोड़कर शेष तीनों रूपों में चित्रित किये गये हैं।

करुण रस से तो सत्य हरिश्चन्द्र भरा हुआ है। रोहिताश्व को धूल में लोटता हुआ देखकर कवि के हृदय में रस का उद्रेक देखिये :—

जेहि सहसन परिचारिका राखत हाथहिं हाथ।
सो सुत लोटत धूरि में दास-बालकन साथ॥

शान्त, रौद्र, भयानक, बीभत्स, वात्सल्य, अद्भुत तथा हास्य रसों का परिपाक भी इतना ही सफल हुआ है। काव्य में शृंगार और शान्त रसों का प्राधान्य है। विलास, उद्दाम, काम-वासना अथवा व्यभिचार को प्रोत्साहन देना भारतेन्दु की शृंगारिक रचनाओं का उद्देश्य नहीं है। उनकी शृंगारिक रचनाएँ वस्तुतः उनके तत्सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्तों के उदाहरणस्वरूप ही हैं। इस दृष्टि से वह इस क्षेत्र में भी युगान्तकारी सिद्ध होते हैं। उन्होंने प्राचीन रसों में कुछ नवीन

रसों की योजना भी की है। मनोवैज्ञानिक एवं विद्वत्तापूर्ण तर्कों के आधार पर वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनन्द इन चार रसों की उद्भावना हिन्दी-काव्य को उनकी मौलिक देन है।

रसों के साथ-साथ भारतेन्दु की रचनाओं में अलंकारों की छटा भी दिखाई देती है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग किया है। रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों की कलाबाजी से अपनी रचना को बहुत बचाया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक, उदाहरण, संदेह, उदात्त, वक्रोक्ति, उल्लेख, अतिशयोक्ति, प्रतीप, विभावना, निदर्शना, स्वभावोक्ति, अनुज्ञा, सम, तुल्ययोगिता, अत्युक्ति, व्याजस्तुति आदि अलंकार उनकी रचनाओं में मिलते हैं—कहीं अपने स्वाभाविक रूप में और कहीं अपने कृत्रिम रूप में। सत्य हरिश्चन्द्र में प्रायः इन सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। अन्य रचनाओं में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की प्रधानता है। रूपक का एक उदाहरण लीजिए :—

भारतेन्दु की अलंकार-योजना

पल पटुला पै प्रेम-डोर की लगाय चारु
आभा ही के खंभ दोय गाढ के धरत हैं।
सुमका ललित काम पूरन उछाह भरयो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
हरीचन्द आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे
पिया गुन गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोटन बढ़ाय सदा,
बिरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

इस उद्धरण में भारतेन्दु के काव्य-कौशल का चमत्कार अधिक है,

स्वाभाविकता कम। ऐसे अवसरों पर वह रीतिकालीन परम्परा में आ जाते हैं। यह दोहा भी रीतिकालीन परम्परा का एक उदाहरण है :—

सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकन्द।
जनहित कमला तजन जय, शिव नृप कवि हरिचन्द॥

यह श्लेष का उत्कृष्ट उदाहरण है और शिव, राजा हरिश्चन्द्र, श्रीकृष्ण, चन्द्रमा और कवि पाँच का वर्णन करता है। अनुप्रास और उत्प्रेक्षा की छटा इन पंक्तियों में देखिए :—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति।
बिच बिच छहरत बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥

निदर्शना का एक उदाहरण लीजिए :—

यहाँ सत्य भय एक के, काँपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिचन्द को, करन इन्द्र-उर सोक।

भारतेन्दु की रचनाओं में ऐसे स्थल जहाँ अलंकारों की छटा दिखाई गई है, नारस और क्लिष्ट हैं। इसका कारण है भावावेश का प्रभाव। भावावेश के प्रवाह में उन्हें अलंकारों की चिन्ता नहीं रहती। ऐसे अवसर पर अलंकार स्वाभाविक रीति से आते हैं।

रस और अलंकार-योजना के समान ही उनकी छन्द-योजना भी अत्यन्त सफल है। उन्होंने इस क्षेत्र में रीतिकाल की प्रक्रिया और प्रणाली को ही अंगीकार किया है, किसी नवीन शैली की उद्भावना नहीं की है। उसमें छंद-सौन्दर्य का नवीन उपक्रम भी लक्षित नहीं होता। भक्ति तथा रीतिकाल के पद, कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छन्दों का उनकी रचनाओं में प्रचुर विधान है। कवित्त में मनहरण और सवैया में मत्तगयन्द, दुर्मिल तथा अरसात मिलते हैं। इन छन्दों के अतिरिक्त हरगीतिका,

भारतेन्दु की छन्द-योजना

बसन्ततिलका, ललित, पद, चौपाई, बरवै आदि भी लिखे हैं। इनका छन्दों का चुनाव विषय के अनुकूल हुआ है। भक्ति-भावना की अभिव्यंजना के लिए गेय पद ही उपयुक्त होते हैं। भारतेन्दु सूर की शैली के अनुकरण पर अपनी भक्ति-भावना का प्रकाशन गेय पदों में ही करते हैं। शृंगारी रचनाएँ अधिकांश कवित्त और सवैये में ही सम्पन्न होती हैं। भारतेन्दु ने उर्दू-छन्दों को भी अपनाने का प्रयास किया है, पर उन्हें इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली है।

इन काव्य-छन्दों के अतिरिक्त लोक-साहित्य के सृजन के लिए भारतेन्दु ने ठुमरी, दादरा, ख्याल, नौटंकी की शैली के गाने, गज़ल, लावनी, कजली, बधैयाँ आदि में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया है। उनके समय में लावनी का बड़ा आदर था, इसलिए उन्होंने लावनी को साहित्यिक रूप देकर उसे हिन्दी-छन्द-योजना में स्थान दिया है। यह नवीन प्रयोग तो नहीं था, पर इससे काव्य-क्षेत्र में कुछ नूतनता अवश्य आ गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की छन्द-योजना समयानुसार सफल है और कवि के पिंगल-ज्ञान की समर्थक है। उनकी छन्द-योजना निर्दोष, विषयानुकूल, और विविधरूपिणी है।

भारतेन्दु की भाषा

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु का लक्ष्य था हिन्दी का भारतीय जनता में प्रचार और इस प्रचार-द्वारा हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें जनता की भाषा अपनाना आवश्यक था। उस समय शिक्षित समाज की भाषा खड़ी बोली थी और उर्दू की गद्य-भाषा का बोलबाला था। हिन्दी का गद्य पिछड़ा हुआ था। लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशा अल्ला खाँ, सदासुखलाल प्रभृति लेखकों की गद्य-रचनाओं में न उर्दू गद्य-साहित्य की-सी मिठास थी और न चुलबुलापन था। किसी में ब्रजभाषापन था, किसी में पूर्वीपन और किसी में पण्डिताऊपन। गद्य की भाषा में जैसी चुस्ती और शक्ति होनी चाहिए, वैसी इन

लेखकों की शैलियों में से किसी में भी नहीं थी। उनके शब्द-विन्यास असंयत, वाक्य-विन्यास शिथिल और प्रभावशून्य होते थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की शैली परिष्कृत अवश्य थी, पर वह वास्तव में हिन्दी-अक्षरों में उर्दू-शैली थी। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इन सब से भिन्न थी। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी हुई थी। हिन्दी के प्रचार में ये सब शैलियाँ बाधक थीं। आवश्यकता थी ऐसी भाषा की जो सरल, सुबोध, प्रभावपूर्ण और प्रसादयुक्त होने के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल हो। इस आवश्यकता की पूर्ति भारतेन्दु ने की। उन्होंने गद्य-साहित्य के निर्माण के लिए खड़ी बोली को अपनाया और उसका परिष्कार एवं परिमार्जन किया। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित सभी शैलियों के अध्ययन से एक नवीन शैली को जन्म दिया। उनकी इस शैली में न तो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों की भरमार थी और न संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य। उनकी भाषा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मणसिंह के बीच की भाषा थी। अपनी इस भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए उन्होंने तत्कालीन हिन्दी शब्द-कोष के ऐसे समस्त अप्रचलित शब्दों को निकाल दिया जिनसे प्रवाह में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन विदेशी शब्दों को अपनाया उन पर हिन्दी की छाप लगा दी। भाषा का रंग-रूप सँवारने में उन्होंने हिन्दी-व्याकरण के सिद्धान्तों का भी ध्यान रक्खा। उन्होंने कर्णकटु शब्दों को मधुर बनाया और उन्हें हिन्दी के साँचे में ढालकर अपनी भाषा में स्थान दिया। वह अपनी भाषा की प्रकृति को अच्छी तरह पहचानते थे। वह उसकी आवश्यकताओं से भी परिचित थे। इसलिए उन्होंने इस क्षेत्र में जो काम किया वह स्थायी रूप से हिन्दी के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपने इस कार्य में बड़ी-बड़ी बाधाओं का—भाषा-सम्बन्धी जटिलताओं एवं सरकारी कर्मचारियों की अड़चनों का—सामना करना पड़ा, पर उन्होंने अपने बुद्धि-बल और

र सब पर विजय प्राप्त की और हिन्दी की लोकप्रिय
।

बोली का जैसा संस्कार भारतेन्दु ने किया वैसा ही उन्होंने ब्रज-
भी किया। उनके समय में ब्रजभाषा काव्य-भाषा थी, पर
जटिल और दुरूह हो गई थी कि पाठकों को उसमें विशेष
हीं मिलता था। खड़ी बोली में काव्य रचना का प्रयास यद्यपि
म्भ था, तथापि उसमें अभी इतना साहित्य न था कि वह
में समर्थ हो सके। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने ब्रजभाषा का
न किया। उन्होंने उसमें से ऐसे बहुत से शब्द निकाल दिये
त और कुण्ठित हो गये थे। इन शब्दों के स्थान पर उन्होंने
शब्दों को ब्रजभाषा में ढालकर चालू किया। सारांश यह
गद्य और पद्य, साहित्य के दोनों क्षेत्रों, की भाषा को समुन्नत,
और प्रसाद-गुणयुक्त बनाकर अन्य भाषाओं पर हिन्दी का
दिया।

ार हम देखते हैं कि भारतेन्दु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी-
र्माता थे। उनके समय में जो शब्द जिस रूप में जनता में
उसे उसी रूप में उन्होंने स्वीकार कर लिया। यही उनका
धी दृष्टिकोण था। संस्कृति, अरबी, फ़ारसी, अँग्रेजी आदि
उन्हें चिढ़ नहीं थी, पर हिन्दी को व्यावहारिक रूप देने के लिए
ओं के उन्हीं शब्दों को ग्राह्य समझते थे जो जनता में प्रचलित
उनके तत्सम रूप हों चाहे तद्भव। उनके नाटकों में भाषा
भव रूप स्पष्ट दिखाई देता है।

रतेन्दु की भाषा पर विचार कीजिये। जैसा कि अभी बताया
ी भाषा के दो रूप हैं—१. खड़ी बोली और २. ब्रजभाषा।
बोली शुद्ध खड़ी बोली नहीं है। हिन्दी शब्दों का बाहुल्य
-साथ उसमें फ़ारसी, अरबी, अँग्रेजी और संस्कृत के शब्द
, पर वे हैं सब हिन्दी के साँचे में ढले हुए। उन्होंने

विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में स्वीकार न करके तद्भव रूप में स्वीकार किया है। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविकता और मिठास आ गई है। ब्रजभाषा का भी पुट उनके शब्दों पर रहता है। फ़ारसी और अरबी के शब्द उनकी रचनाओं में बहुत कम रहते हैं। उनका शब्द-चयन अर्थपूर्ण होता है और उनके वाक्य भावानुकूल कभी बड़े कभी छोटे होते हैं। उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, सरल, सरस प्रसादगुणयुक्त, चुटीली और बोधगम्य होती है। उन्होंने कोमल शब्दों को अधिक अपनाया है। अंचल के बदले आँचल, स्वभाव के बदले सुभाव, स्नेह के बदले नेह उन्हें अधिक पसन्द हैं। देशज शब्दों का भी उन्होंने व्यवहार किया है। फ़ारसी, अरबी और अँगरेजी के शब्द भी उनकी भाषा में मिलते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग भी उन्होंने किया है। नाटकों में इनका प्रयोग कम हुआ है। जहाँ-कहीं भी उन्होंने इनका प्रयोग किया है, भाषा सजीव हो गई है। संस्कृत की उक्तियाँ और वाक्यांश भी उनकी भाषा में पर्याप्त हैं।

भारतेन्दु के समय में हिन्दी-भाषा-शैली के दो रूप थे—१. राजा शिवप्रसाद की शैली और २. राजा लक्ष्मणसिंह की शैली। भारतेन्दु ने इन दोनों शैलियों को त्याग कर पहले पहल भाषा को सर्वविषयोपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंग्यात्मक, परिहासात्मक आदि जिस प्रकार के भी विषय थे उनके व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने तदनुकूल भाषा शैली को जन्म दिया। अपनी शैली के इस गुण के द्वारा उन्होंने अपने नाटकों में सर्वदा पात्रोचित भाषा का प्रयोग किया। जो जिस स्थान का पात्र है, जिस वर्ग का प्रतिनिधि है, जिस सभ्यता का उपासक है, उसी के अनुकूल उसकी भाषा है। उच्च पात्रों के लिए विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग है और निम्न वर्गों के पात्रों के लिए गँवारू भाषा का। मराठी और बंगाली पात्रों के उच्चारण और शब्द उन प्रान्तों के निवासियों के

भारतेन्दु की शैली

अनुकूल ही हुए हैं। इनमें उनके कथोपकथन में स्वाभाविकता और सजीवता आ गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी शैली का आदर्श उनके नाटकों में मिलता है। विषय के अनुसार उनकी शैली के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं :—

१. परिचयात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने साधारण आख्यायों में किया है। इतिहास के साधारण वर्णन में तथा अन्य छोटे छोटे लेखों में इस शैली के दर्शन होते हैं। उनकी इस शैली में न तो संस्कृत के कठिन शब्दों का बाहुल्य रहता है और न फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार। इस प्रकार उनकी यह शैली राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह की शैलियों के बीच की शैली है। इसमें वाक्य छोटे-छोटे और जनता के बीच प्रचलित शब्द होते हैं। इसलिए यह शैली सरल, सुबोध और प्रसाद-गुणयुक्त होती है। मुहावरे और कहावतों का प्रयोग भी इसमें होता है।

२. भावात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने अपनी भावनापूर्ण रचनाओं में किया है। हृदय के दुःख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह, प्रेम आदि के चित्रण में इसी शैली का मान्य है। इसलिए भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावली आदि नाटकों में यही शैली पाई जाती है। आवेशपूर्ण स्थलों पर छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग और उनका गठन, सरल शब्दों का प्रयोग तथा प्रवाह इस शैली की विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु की इस शैली में इन सब विशेषताओं का पूर्णरूप से समावेश हुआ है। उनकी यह शैली सर्वोत्कृष्ट है।

३. गवेषणात्मक शैली—भारतेन्दु-साहित्य में इस शैली के दो रूप मिलते हैं। इसका एक रूप उनके साहित्यिक निबन्धों में है और दूसरा रूप ऐतिहासिक निबन्धों में। साहित्यिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली ऐतिहासिक निबन्धों की गवेषणात्मक शैली की अपेक्षा सरस, मधुर और आकर्षक है। इन दोनों रूपों की भाषा संस्कृत-शब्द-प्रधान है। तथ्यातथ्य का निरूपण करने के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त होती

है। इसमें वाक्य छोटे-बड़े होते हैं। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी होता है।

४ व्यंग्यात्मक शैली—भारतेन्दु व्यंग्यात्मक शैली के जन्मदाता हैं। उनके पहले इस शैली का हिन्दी-साहित्य में अभाव था। सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डी पण्डितों का खण्डन करने के लिए इन्होंने इस शैली का सहारा लिया। इस शैली का इनके जीवन-काल ही में अत्यधिक प्रचार हुआ। उनकी इस शैली में सरल हास्य-विनोद और व्यंग्य की मात्रा अधिक रहती है। शिष्ट शब्दों द्वारा वह अपनी बात को इतने अनूठे ढंग से कहते हैं कि पाठक पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। कंकर-स्तोत्र में उनकी व्यंग्यात्मक शैली देखने योग्य है।

संक्षेप में इन शैलियों की विशेषताएँ निम्न लिखे प्रकार हैं:—

१. भारतेन्दु की शैली सरस, सरल, भावानुकूल, प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणयुक्त होती है।

२ भारतेन्दु की शैली विषयानुकूल परिवर्तित होती रहती है। जैसा विषय होता है, उसी के अनुकूल वह अपनी शैली का रूप स्थिर करते हैं।

३ भारतेन्दु की शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाप रहती है। समसामयिकों की भाषा-शैली से वह मेल नहीं खाती। उसमें कृत्रिमता का अंश नहीं रहता।

४. लोक-जीवन में स्वतंत्र रहने पर भारतेन्दु अपनी शैली का लोक-जीवन के साथ समन्वय स्थापित करते हैं। उनकी शैली लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब होती है।

५. भारतेन्दु की शैली में कहीं-कहीं पण्डिताऊपन भी मिलता है। इस दृष्टि से उनकी शैली सदल मिश्र की शैली से किंचित् मेल खा जाती है। भई, सो, करके इत्यादि शब्द पण्डिताऊपन के द्योतक हैं।

भारतेन्दु की शैली में व्याकरण के दोष हैं। स्वामत्व के लिए स्वामताई, अधीरता के लिए अधीरजमना, कृपा करके के लिए कृपा

किया है आत्माभिव्यक्ति नहीं है। इस प्रकार के दोषों के लिए वह युग है। उनके युग में आत्माभिव्यक्ति का इतना प्रचार नहीं था जितना आज है।

इस प्रकार हम देखते हैं भारतेन्दु कई शैलियों के जन्मदाता हैं और इन शैलियों की विशेषताओं से वह भली भाँति परिचित भी हैं।

अब तक हमने भारतेन्दु-साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। हमने यह देखा है कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु का स्थान

उनके विचार नये हैं, उनकी भावना नई है, उनकी भाषा और शैली नई है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनके जन्म से एक नये अध्याय का, एक नये युग का प्रादुर्भाव होता है। इस नये युग के वह नेता हैं। अपने नेतृत्व से उन्होंने हिन्दी को गौरवान्वित किया है। आज हम जो कुछ हिन्दी में देख रहे हैं वह उन्हीं की देन है, उन्हीं का प्रसाद है। हिन्दी के तत्कालीन एवं परवर्ती लेखकों को उनसे स्फूर्ति मिली है। उन्होंने अपने युग की लोक-भावना को वाणी दी है और उसका संस्कार किया है। उनके साहित्य में हम उनके कई रूप देखते हैं। वह वैष्णव, भक्त, देशभक्त, समाज-सेवी और समाज-सुधारक सब एक साथ हैं और प्रत्येक रूप में महान् हैं। उनके जीवन में अद्भुत सामंजस्य है। उनका एक रूप दूसरे से भिन्न नहीं है, उनकी ईश्वर-प्रेम-भावना जीवन के प्रत्येक क्षत्र में देखने को मिलती है, उनका राष्ट्र-प्रेम जीवन के प्रत्येक स्थल को छूता हुआ प्रवाहित होता है, उनका सामाजिक प्रेम जीवन के प्रत्येक पक्ष को आन्दोलित और अनुप्राणित करता है। वह भक्त होते हुए भी राष्ट्र-प्रेमी हैं और राष्ट्र-प्रेमी होते हुए हिन्दू-समाज-प्रेमी। वह अपने युग की, अपने राष्ट्र की, अपने समाज की, अपने साहित्य की आवश्यकताओं से परिचित हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी पहुँच है। अपनी इस पहुँच के कारण ही उन्होंने सुधारों की योजना

प्रस्तुत की है। उनका साहित्य वस्तुतः लोक-साहित्य है, जीवन का साहित्य है। उसमें हम सब कुछ पाते हैं।

भाषा के क्षेत्र में भारतेन्दु खड़ी बोली और ब्रजभाषा के उन्नायक हैं। खड़ी बोली को सजा-सँवारकर उन्होंने उसे साहित्यिक गद्य का रूप दिया है और इस योग्य बना दिया है कि वह पद्य की भाषा भी बन सकती है। वह बहुत से दोषों से मुक्त है। उनके नेतृत्व में उसका रूप निखर आया है। ब्रजभाषा का भी उन्होंने संस्कार किया है। अप्रचलित, रूढ़, कुण्ठित और कर्कश शब्दों को उसकी शब्दावली से निकाल कर उन्होंने उसे जनता के बीच लोकप्रिय बना दिया है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में कविवर सुमित्रानन्दन पंत का यह कहना कि हमारी भारती की वीणा का निर्माण भारतेन्दु ने ही किया था, अक्षरशः सत्य है। उनके पहले किसी को भी यह ठीक ठीक नहीं मालूम था कि हिन्दी-भाषा को किस रूप में ढाला जाय। वस्तुतः उनके पहले हिन्दी दलबन्दी के दलदल में फँसी हुई थी। उसे दलदल से निकालकर शुद्ध करना और फिर लोक-जीवन से उसका सम्बन्ध स्थापित करना उन्हीं-जैसे प्रतिभाशाली कलाकार का काम था। हिन्दी-जगत् उनके इस महत्त्व को आज मुक्त हृदय से स्वीकार करता है और उन्हें भाषा के सुधारकों में सर्वोच्च स्थान देता है।

भावना के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का महत्त्व कम नहीं है। उनके साहित्य की आलोचना करते समय हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को एक नहीं, अनेक नवीन भावनाओं से अलंकृत और अनुप्राणित किया है। उन्होंने अपने साहित्य में सभी युगों का प्रतिनिधित्व बड़ी सफलतापूर्वक किया है। संत कवियों की दार्शनिकता, भक्त कवियों की सरसता, रीतिकालीन कवियों की अलंकार-प्रियता और शृंगारिकता के साथ-साथ उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-प्रेम और जातीय प्रेम का भी अङ्कन हुआ है। उन्हें जहाँ प्राचीन युग से साहित्य-निर्माण की प्रेरणाएँ मिली हैं, वहाँ उन्हें अपने युग से भी प्रोत्साहन मिला है।

दोनों युगों का सुन्दर सामञ्जस्य उनके साहित्य की एक विशेषता है। अपने युग के वह प्रथम राष्ट्रीय और सामाजिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक रचना राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत है। देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सार्वजनिक परिस्थितियों के उन्होंने बड़े भावपूर्ण और मार्मिक चित्र उतारे हैं। उनके इन चित्रों में भारत की तत्कालीन भावनाओं का इतिहास अपने प्रकृत रूप में चित्रित हुआ है। इस दृष्टि से वह हिन्दी-साहित्य में अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कला का प्रकाशन साहित्य के संधिकाल में हुआ है। इसलिए उनका साहित्य प्राचीन और नवीन युग का संगम-स्थल है। उनकी रसिकता दुरङ्गी है। वह सात्विक तथा राजस दोनों है। सात्विक रसिकता साहित्य में ईश्वर-भक्ति और देश-भक्ति के रूप में प्रकट हुई है और राजस रसिकता शृङ्गारी स्निग्ध रचनाओं के रूप में। इन दोनों प्रकार की रचनाओं से उनकी प्रकृति-अनुभूति लक्षित होती है। उनके प्रत्येक विषय में देश-भक्ति का राग अत्यन्त प्रबल है। समाज-सुधार की ओर भी उनकी प्रवृत्ति गई है। इस प्रकार वह एक में अनेक और अनेक में एक हैं। उनका प्रत्येक रूप अपने में महान् हैं।

एक साहित्यकार के नाते हम उनको कई रूपों में पाते हैं। वह नाटककार हैं, निबन्धकार हैं, इतिहास-लेखक हैं, कथाकार हैं, कवि हैं, आलोचक हैं। नाट्य-कला के क्षेत्र में वह हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं। हिन्दी में नाटक-रचना का सूत्रपात उन्हीं के नाटकों से हुआ है। उनके नाटक मौलिक भी हैं और अनूदित भी। नाट्य-शास्त्र पर उन्होंने एक निबन्ध भी लिखा है। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं जो भाषा, भाव और विषय आदि की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सत्य हरिश्चन्द्र और भारत दुर्दशा उनके नाटकों में सर्वोच्च हैं। वे अभिनेय भी हैं। इन नाटकों-द्वारा उन्होंने जनता की रुचि का परिष्कार किया है और उसे प्रकृत नाट्य-कला से परिचित कराया है। अंधेरनगरी आदि उनके व्यंग्यपूर्ण नाटक हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त

उन्होंने कई गद्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं। काश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण आदि उनके ऐतिहासिक निबन्ध हैं। सुलोचना, शीलवती, सावित्री आदि उनके आख्यान हैं। उन्होंने गंभीर और हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। तत्कालीन जनता का मानसिक क्षितिज विस्तृत करने के लिए उन्होंने कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा बाला-बोधिनी का सम्पादन भी किया है। इन साहित्यिक सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी काम किया है। बाल विवाह, विधवा-विवाह, छूआछूत, धार्मिक पाखण्ड, समुद्रयात्रा, गोरक्षा आदि सामाजिक विषयों पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विचार किया है और उन विचारों से तत्कालीन जनता का परिचय कराया है। अपने युग में वह इन सब बातों के केन्द्र रहे हैं। हिन्दी का कोई कवि इतनी समस्याओं को एक साथ लेकर साहित्य की सेवा में संलग्न नहीं हुआ, अतः इस दृष्टि से भी वह सर्वोपरि हैं, सबसे ऊँचे हैं।

भारतेन्दु ने कुल चौंतीस वर्ष की आयु पाई। अपने जीवन के सोलहवें वर्ष से उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और लगभग अठारह वर्ष तक वह बराबर एक हृदय से, एक मन से हिन्दी, हिन्दू-जाति और राष्ट्र की सेवा करते रहे। इस अल्पकाल में उन्होंने हिन्दी को जो दान किया, वह उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है। जब तक हिन्दी-भाषा और उसके बोलनेवाले संसार में जीवित रहेंगे, तब तक भारतेन्दु मर कर भी अमर हैं। हिन्दी के लिए उनकी सेवाएँ महान् हैं और वह आधुनिक युग के साहित्यकारों में सर्वप्रथम और सर्वोच्च हैं।

हो गये तब इस ब्राह्मण वंश के लोगों ने भी उस धर्म में दीक्षा ले ली। इस प्रकार दोनों वंश सिक्ख हो गये।

हरिऔध के पिता का नाम पं० भोलासिंह था। वह बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उनके भाई पंडित ब्रह्मसिंह ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे। वह निःसन्तान थे। अपने भतीजों को वह बहुत मानते थे। वस्तुतः उनके जीवन का प्रभाव उनके भतीजों पर बहुत पड़ा। उन्हीं की देख-रेख में हरिऔध की शिक्षा पाँच वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ हुई थी। आरम्भ में उन्हें फ़ारसी पढ़नी पड़ी। सात वर्ष की अवस्था में उनका प्रवेश स्थानीय तहसीली स्कूल में हुआ। वहाँ से उन्होंने सं० १९३६ में सम्मान सहित मिडिल पास किया जिसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसके बाद वह काशी के *क्वींस कालेज में अँगरेज़ी पढ़ने के लिए भेजे गये, पर वहाँ स्वास्थ्य बिगड़* जाने के कारण वह आगे न पढ़ सके, इसलिए घर पर ही वह फ़ारसी, उर्दू तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते रहे।

सं० १९३९ में हरिऔध का विवाह हुआ। उनका प्रारम्भिक जीवन आर्थिक संकटों का जीवन था। उनके पिता और चाचा खेती बाड़ी और पुरोहित का कार्य करते थे। अपने भाई गुरुसेवकसिंह की शिक्षा का भी उन्हें ध्यान था। इसलिए विवश होकर उन्हें सं० १९४१ में नौकरी करनी पड़ी। सर्वप्रथम वह निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए और संवत् १९४४ में उन्होंने नार्मल परीक्षा पास की। इस प्रकार कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् बन्दोबस्त के समय में वह क़ानूनगो हो गये और अपने अध्यवसाय तथा योग्यता के कारण *उत्तरोत्तर उन्नति करके रजिस्ट्रार क़ानूनगो, सदर नायब क़ानूनगो तथा* सदर क़ानूनगो हो गये। इन पदों पर लगभग चौंतीस वर्षों तक बड़ी सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् उन्होंने पेन्शन ले ली और अपना शेष जीवन साहित्य-सेवा में अर्पित कर दिया। इस समय काशी-विश्व-विद्यालय में हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा के लिए एक सुयोग्य

आजमगढ़ की आवश्यकता थी, अतः हरिऔध ने १ नवम्बर सन्
से वहाँ कौंसिल कानूनगो के रूप में कार्य-भार ग्रहण
किया और सन् १९४१ तक वह बड़ी सफलतापूर्वक यह कार्य करते
यहाँ से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने आजमगढ़ को
रूप से अपना निवास-स्थान बनाया और वहीं ६ मार्च सन् १९४
उनका स्वर्गवास हुआ।

हरिऔध का जीवन भारतीय जीवन का आदर्श था। उनके
गुरुसेवकसिंह ने इंग्लैंड जाकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से सिक्
धर्म का बाना त्याग दिया, पर हरिऔधजी ने अपना पगड़ीनुमा
कभी नहीं छोड़ा। वह अपनी बाल्यावस्था से ही निजामाबाद के सिक्
गुरु बाबा सुमेरसिंह के प्रभाव में आ गये थे। बाबा सुमेरसिंह के
सत्संग से उनमें धार्मिक भावना का जो विकास हुआ उसने उनकी
जीवन-दशा को ही परिवर्तित कर दिया। इसलिए कर्मकांडी पंडितों
के वंश में जन्म लेने पर भी उनमें वास्तविक धर्म में शुद्ध सनातनी
पंडितों की धार्मिकता का विकास नहीं हो पाया। सिक्ख-धर्म में उनका
विश्वास था और अन्त समय तक वह सिक्ख बने रहे।

हरिऔध आजमगढ़ की दिव्य-विभूति थे। अपनी जन्मभूमि
निजामाबाद से उन्हें विशेष प्रेम था। वह अपने गाँव के छोटे-बड़े
प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह जानते और पहचानते थे। सरकारी नौकरी
करते समय वह प्रायः आजमगढ़ में ही रहते थे, पर प्रति शनिवार को
सन्ध्या समय वह निजामाबाद में आजाया करते थे। वह सदर क़ानूनगो
थे। उस समय सदर क़ानूनगो होना साधारण बात नहीं थी, पर अपने
इस पद का गर्व उनमें नहीं था। उनके स्वभाव में कृत्रिमता नहीं थी,
चापल्य नहीं था। बाल्यावस्था से ही वह सौम्य और गंभीर थे। पत्नी
के देहावसान के पश्चात् तो वह और भी गंभीर हो गये और उनमें
वैराग्य की भावना आ गई। उनके स्वभाव में कोमलता और व्यवहार में
सरलता थी। अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति उनका अटल

अनुराग था। हास-परिहास में भी वह भाग लेते थे, पर बहुत कम। एकान्त-जीवन उन्हें अधिक प्रिय था। वह अच्छे वक्ता और आलोचक भी थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वह सभापति भी रह चुके थे। 'प्रिय-प्रवास पर उन्हें संवत् १६६६ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला और वह सम्मेलन की 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से भी विभूषित किये गये थे। उनके इकलौते पुत्र पं० सूरजनारायण इस समय आजमगढ़ में रहते हैं।

हरिऔध की रचनाएँ

हरिऔध की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। हरिऔध की अनूदित रचनाएँ दो प्रकार की हैं—गद्य और पद्य। १. गद्य में 'वेनिस का बाँका' अनूदित उपन्यास है; 'रिपवान विंकिल' हिन्दी में उर्दू-रिपवान विंकिल का अनुवाद और कहानी है; 'नीति-निबन्ध' अनूदित निबन्धों का संग्रह है। २. पद्य में 'उपदेश-कुसुम' के तीन भाग जो गुलिस्ता के आठवें अध्याय के अनुवाद हैं और विनोद-वाटिका जो गुलज़ार दबिस्तां का रूपान्तर है। हरिऔध की मौलिक रचनाएँ चार प्रकार की हैं:—

१. महाकाव्य—प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास।

२. स्फुट काव्य-संग्रह—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रसकलस, पद्यप्रसून, कल्पलता, पारिजात, ऋतु-मुकुर, काव्योपवन, प्रेम-पुष्पोहार, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह और प्रेमाम्बु वारिधि।

३. उपन्यास—ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल।

४. आलोचनात्मक—हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली की आलोचना आदि।

हरिऔध की इन रचनाओं से उनकी साहित्यिक प्रतिभा तथा अध्य-वसायशीलता का अच्छा परिचय मिल जाता है।

हम पहले बता चुके हैं कि आरम्भ में हरिऔध की जीवन-दिशा को मोड़ने में बाबा सुमेरसिंह का हाथ था। बाबा सुमेरसिंह अपने समय के सिक्ख गुरु ही नहीं, एक प्रसिद्ध कवि भी थे। बालक हरिऔध अपने पिता और चाचा के साथ उनके यहाँ प्रायः जाया करते थे और सत्संग में भाग लिया करते थे। उनके सत्संगों में दो ही बातों की चर्चा होती थी—सूर, कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों की पवित्र वाणियों का कीर्तन या समस्या-पूर्ति। प्रति दिन उनके सत्संग में कोई-न-कोई नया गायक या कवि आ ही जाता था और अपनी वाणी से बाबाजी का मनोरंजन करता था। ऐसे सत्संगों में हरिऔध को विशेषरूप से आनन्द आता था। वह घंटों बैठकर गायकों की पवित्र वाणी और कवियों की समस्या-पूर्ति का रसास्वादन करते थे। ऐसे वातावरण में रहकर जहाँ हरिऔध में धार्मिक चेतना जाग्रत हुई, वहाँ उनकी साहित्यिक अभिरुचि को भी पर्याप्त बल मिला। बाबा सुमेरसिंह ने उनकी इन दोनों प्रवृत्तियों का नेतृत्व किया। वह हरिऔध के धार्मिक गुरु ही नहीं, साहित्यिक गुरु भी थे। उनका उपनाम था 'हरिसुमेर' अथवा 'सुमेर हरि'। इस उपनाम से प्रभावित होकर अयोध्यासिंह ने अपना उपनाम रक्खा 'हरिऔध'। बाबा सुमेरसिंह भारतेन्दु के समकालीन थे। ब्रजवाणी का उस समय बोल-बाला था और कवि वही समझा जाता था जो इस भाषा में घनाक्षरी अथवा सवैया में समस्यापूर्तियाँ कर लेता था। इसलिए हरिऔध का काव्य-जीवन समस्यापूर्तियों से ही प्रारम्भ हुआ। वह रीतिकालीन समस्त परम्पराओं को लेकर काव्य-क्षेत्र में आये और उसी भाव-धारा में कुछ समय तक डूबते-उतराते रहे, पर द्विवेदी-युग का अभ्युदय होने पर उनकी काव्य-धारा में परिवर्तन आ गया। इस युग के प्रभाव में आकर उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में कविता करना आरम्भ किया। खड़ी बोली में उनकी काव्य-प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ और उन्होंने कई काव्य-ग्रन्थों की इसी भाषा में रचना

हरिऔध पर प्रभाव

को। द्विवेदी-युग केवल भाषा के संस्कार, का युग था। उस युग में गद्य और पद्य दोनों की भाषाओं का सम्यक् परिमार्जन हुआ। इसलिए हरिऔध को इस युग में अपनी भाषा को सजाने-सँवारने और परिष्कृत करने का अच्छा अवसर मिला। द्विवेदी-युग समाप्त होने पर नवीन युग अपनी नई समस्याओं, नई अनुभूतियों और नई कल्पनाओं को लेकर आया और उसने हिन्दी-साहित्य को नये ढंग से अनुप्राणित किया। हरिऔध इस युग के प्रभाव से भी न बच सके। इस युग में उन्होंने जो कुछ सोचा, विचार किया और लिखा उस पर नवीनता की स्पष्ट छाप है। उसे देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि हरिऔध इसी युग की उपज थे; पर यह कथन सम्पूर्णतः सत्य नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक दृष्टि से हरिऔध का केवल एक बार जन्म हुआ, पर यदि साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो हरिऔध का तीन बार जन्म हुआ है—भारतेन्दु-काल के हरिऔध, द्विवेदी-काल के हरिऔध और नवजागरण-काल के हरिऔध। भारतेन्दु-काल उनके काव्य-जीवन का शैशव काल था, द्विवेदी काल उनके काव्य-जीवन का तरुण काल था और वर्तमान युग—प्रसाद, पन्त और निराला का युग—उनके काव्य-जीवन का प्रौढ़ काल था। उनके साहित्य में इन तीनों युगों की समस्याएँ हैं, तीनों युगों की चेतनाएँ हैं और तीनों युगों की मान्यताएँ हैं। अपने व्यक्तित्व और प्रखर प्रतिभा के आलोक में उन्होंने इन तीनों युगों की मान्यताओं को अपनी साहित्य-साधना के साथ बड़ी सुन्दरता से घुला-मिला दिया है। अपनी साहित्य-साधना में वह बैरोमीटर की भाँति सदैव सचेत रहे हैं। इसलिए उनका साहित्य भाव और भाषा के उतार-चढ़ाव का साहित्य है। वह अपने साहित्य में कभी नीचे से ऊपर गये हैं और कभी नीचे से ऊपर आये हैं। स्थिर रूप से एक युग में रहकर उन्हें अपनी प्रतिभा का विकास करने का अवसर नहीं मिला। वह कभी भावों के पीछे दौड़े, कभी भाषा के पीछे और कभी भाव और

भाषा दोनों के पीछे। प्रत्येक युग में उनका विकास एक निश्चित ढंग के भीतर हुआ। इसीलिए प्रसाद की भाँति हम उनकी रचनाओं में विकास क रेखा नहीं पाते। युग के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी काव्य-धारा में मो चलता रहा, जो उन्हें कभी ऊँचे ले गया और कभी नीचे। उनकी साहित्य साधना का यही रहस्य है।

हरिऔध का गद्य-साहित्य

हरिऔध का गद्य-साहित्य हिन्दी के उस काल का साहित्य है ज उसका परिमार्जन और परिष्कार हो रहा था। भारतेन्दु-युग गद्य साहित्य का उदय-काल है और द्विवेदी-युग उस पुष्टि और परिमार्जन का। इन दोनों युगों के संक्रमण काल में ही हरिऔध का गद्य-साहित्य पनप और पुष्पित हुआ है। वेनिस का बाँका उनके गद्य साहित्य की पहली कड़ी है। यह अनूदित उपन्यास है। इसकी भाषा क्लिष्ट और पंडिताऊपन लिए हु है। इसके बाद रिपवानविंकिल का उर्दू से हिन्दी में अनुवाद है इसकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है। ठेठ हिन्दी का ठाठ सं० १९५६ क रचना है। यह उनका प्रथम मौलिक उपन्यास है। यह उस समय क कृति है जब हमारे साहित्य में उपन्यास-तत्व का प्रवेश भी नहीं हुआ था। उस समय बँगला-साहित्य में बंकिम बाबू के उपन्यासों की बड़ी धू थी। हरिऔध ने बँगला भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात बंकिम बाबू के उपन्यासों का अध्ययन किया। वह उनके देश तथा जाति प्रेम से अत्यधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार इन उपन्यासों के प्रभाव ने देश और जाति की दुर्दशा के प्रति वेदना की अनुभूति का संचार करा उनकी कला के स्वरूप-निर्माण के लिए एक सामग्री प्रस्तुत की। इन्हीं दिनों डा० ग्रियर्सन ने खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना के अध्यक्ष थे रामदीनसिंह का ध्यान ठेठ हिन्दी में कोई ग्रन्थ प्रकाशित करने की ओर आकर्षित किया। बाबू रामदीनसिंह हरिऔध से भली भाँति परिचित थे। अतः उनके अनुरोध से हरिऔध ने ठेठ हिन्दी का ठाठ लिखा

यह उपन्यास इण्डियन 'सिविल सर्विस की परीक्षा के लिऐ स्वीकार कर लिया गया। हरिऔध का यह सामाजिक उपन्यास था। इसके बाद अधखिला फूल लिखा गया। इन दोनों उपन्यासों का औपन्यासिक कला की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं है जितना कि भाषा के महत्त्व तथा हरिऔध की कला के विकास की दृष्टि से। वस्तुतः इन दोनों उपन्यासों से उनकी मानसिक क्रान्ति का श्रीगणेश प्रतिबिम्बित होता है।

कबीर ग्रंथावली तथा प्रियप्रवास की भूमिका के रूप में उन्होंने अपनी आलोचनात्मक रुचि का अच्छा परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास नामक ग्रन्थ से उनकी अध्ययनशीलता, पांडित्य, धारणाशक्ति और आलोचनात्मक शैली का पर्याप्त आभास मिल जाता है। उन्होंने कुछ मौलिक निबन्ध भी लिखे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस युग में उन्होंने गद्य-साहित्य-निर्माण करना आरम्भ किया उस युग की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। उनका गद्य-साहित्य आज के गद्य-साहित्य की आधार-शिला है।

हरिऔध अपने गद्य की अपेक्षा अपने काव्य के लिए हिन्दी-साहित्य में अधिक लोकप्रिय हैं। वह आरम्भ से ही हमारे सामने कवि के रूप में आते हैं और इसी रूप में उनके साहित्यिक जीवन का अवसान होता है। उन्होंने कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ दोहों में हैं। एक दोहा देखिए :—

हरिऔध की काव्य-साधना

जाकी माया-दाम में बँधे विरंचि लखाहिं।
प्रेम-डोरि गोपिन बँधे सो डोलत जग माहिं॥

इस प्रकार के दोहों की रचना हरिऔध ने सत्रह वर्ष की अवस्था में ही की थी। इसके तीन वर्ष पश्चात् सन् १८८२ ई० में उन्होंने

रुक्मिणी-परिणय और *प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग* की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों का काव्य-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व न होने पर भी हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। उनके प्रेमाम्बु वारिधि, प्रेमाम्बु प्रस्रवण और प्रेमाम्बु प्रवाह नामक तीन संग्रह सन् १८६६ से लगभग प्रकाशित हुए हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में श्रीकृष्ण कहीं ब्रह्म के रूप में और कहीं साधारण मानव के रूप में अंकित हुए हैं। प्रेम-प्रपंच भी इसी समय के लगभग की रचना है। पहले ये चारों पृथक्-पृथक् थे, पर बाद को काव्योपवन में इनका संकलन कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में कई ग्रन्थों की रचना की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उनकी ये समस्त रचनाएँ भारतेन्दु-काल में आती हैं और उन *समस्त विशेषताओं से प्रभावित हैं जिनके लिए भारतेन्दु-काल प्रसिद्ध* है। शृंगार-सिन्दूर के रूप में रस-कलस की भूमिका भी इसी काल में लिखी गई है।

हिन्दी में जब द्विवेदी-युग आया तब हरिऔध की काव्य-प्रतिमा ने अपनी दिशा में परिवर्तन कर दिया। उस समय ब्रजवाणी के स्थान पर खड़ी बोली को अपना कर उन्होंने प्रियप्रवास नामक महाकाव्य की रचना की। अपने इसी भिन्न तुकान्त वर्णिक महाकाव्य के कारण वह हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हैं। इसी युग का उनका दूसरा महाकाव्य वैदेही-वनवास है। काव्य कला की दृष्टि से इस महाकाव्य का उतना महत्त्व नहीं है जितना प्रियप्रवास का, पर भाषा-सौष्ठव इसमें भी देखने-योग्य है। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में बोलचाल, चोखे चौपदे और चुभते चौपदे जैसी इनकी कृतियाँ हैं। बोलचाल में बाल से लेकर तलवे तक सब अंगों तथा चेष्टाओं के प्रचलित मुहावरों पर बोलचाल और चलती हुई भाषा में भावमयी कविताएँ हैं। इन साढ़े तीन सहस्र से अधिक चौपदों में हरिऔध ने समाज और राज, व्यष्टि और समष्टि, लोक और परलोक, नीति और धर्म, संस्कृति और सभ्यता, आचार और

वेचार आदि जीवन के प्रायः सभी पक्षों पर सूक्तियाँ सजा दी हैं।
देखिए :—

जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूँछ क्या हैं ऐंठते।

ऐसी सूक्तियों से हिन्दी-साहित्य का कोश समृद्ध ही हुआ है। चोखे चौपदे में भी ऐसी ही सूक्तियाँ हैं, पर इनमें समाज-कल्याण और मानव-हित की शुद्ध भावनाओं का चित्रण हुआ है। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उनका एक चौपदा देखिए:—

मन्दिरों, मसजिदों कि गिरजों में,
खोजने हम कहाँ-कहाँ जायें।
वह तो फैले हुए जहाँ में हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें।

इन चौपदों में भाषा का लालित्य तो है ही, साथ ही सामाजिक कुरीतियों के प्रति कटु व्यंग्य और भावों का सौष्ठव भी है। अतः यह कहना कि उन्होंने काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उद्देश्यों और व्यंग्यों-द्वारा समाज-सुधार करने की धुन सवार होने के कारण ही इन काव्य-ग्रन्थों की रचना की, अन्याय और निठुरतापूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपनी ऐसी कृतियों में मानसिक व्यायाम अधिक करना पड़ा है, पर उनकी साहित्यिकता नष्ट नहीं हुई है। मुहावरों में जो मिठास, चुटीलापन और साहित्यिक सौन्दर्य होता है उसका सर्वत्र बड़ी सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से बोलचाल में परिमार्जित स्थायी साहित्य की यथेष्ट सामग्री है, किन्तु चोखे चौपदे में उससे प्रचुरता है। कवित्व की दृष्टि से 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' दोनों ही से 'चोखे चौपदे' का स्थान ऊँचा है। चोखे चौपदे में शक्ति है, यथेष्ट भाव-विभव है, चमत्कार-सौंदर्य है, अलंकारों की

स्वाभाविक आभा है और शृंगार, वात्सल्य आदि के मनोरम चित्र और स्फुट उद्‌गार हैं।

सारांश यह कि हरिऔध ने भारतेन्दुकाल के पश्चात् खड़ी बोली के आन्दोलन में विजातीय शैली को हिन्दी का रूप देकर इतनी सुगमता से अपना लिया कि वह भी हमारे साहित्य की अद्वितीय सम्पत्ति बन गई। इसलिए ऐतिहासिक तथा साहित्य-निर्माण की दृष्टि से भी इन मुहावरेदार कला कृतियों की एक विशेषता है।

खड़ी बोली में साधारण बोलचाल की जिन रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा अभी की गई है उनके अतिरिक्त हमें हरिऔध की ब्रजभाषा की कृतियाँ भी द्विवेदी-युग में मिलती हैं। 'रस कलस' उनका ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ है। ब्रजवाणी के प्रति साहित्यिक जीवन के उषाकाल में उनका जो मोह था वह भारतेन्दु-काल से बनता, निखरता और परिष्कृत होता हुआ द्विवेदी-युग में अपनी चरम-सीमा पर पहुँचा है। इसलिए ब्रजभाषा के हरिऔध को हम उस रीति-युग में भी जीवित पाते हैं। द्विवेदी-युग के हरिऔध में काव्य-जीवन के तीन रूप हैं—१. प्रियप्रवास के हरिऔध २. चौपदों के हरिऔध और ३. रसकलस के हरिऔध। अपने इन तीनों रूपों में हरिऔध एक दूसरे से भिन्न हैं पर अपने तीनों रूपों पर उनका समान अधिकार है। उनकी प्रतिभा की धारा एक ही कवि-हृदय से निकलकर तीन दिशाओं में प्रवाहित होती है, पर उनका कहीं भी मेल नहीं होता। प्रियप्रवास के हरिऔध को आप चौपदों और रसकलस के हरिऔधों से मिलाकर देखिए, प्रत्येक अवसर पर हरिऔध का एक पृथक् व्यक्तित्व मिलेगा। प्रियप्रवास में यदि वह भावुक हो गये हैं तो चौपदों में उपदेशक और रसकलस में प्राचीन काव्य-रीतियों के आचार्य। हमें आश्चर्य होता है उनकी प्रतिभा पर, उनकी काव्य-शक्ति पर। प्रत्येक युग की माँग के प्रति उनकी प्रतिभा को इतना मोह है कि वह उसका संवरण नहीं कर सकती।

रसकलस हरिऔध का एक श्रेष्ठ रीति-ग्रन्थ है। इसमें हरिऔध की

प्रतिभा अपने दो रूपों में है—१. परम्परागत और २. मौलिक। रीतिकालीन परम्परा के रूप में उनकी प्रतिभा ने उन समस्त विशेषताओं को अपनाया है जिनके लिए रसगंगाधार-कार, साहित्यदर्पण-कार, केशव, बिहारी आदि कवियों की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। हरिऔध ने अपनी ऐसी रचनाओं में कला-पक्ष और भाव-पक्ष का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। अलंकारों की सजावट अथवा रस-निरूपण के झोंक में उन्होंने न तो कहीं भाषा के सौष्ठव पर आघात किया है और न विषय के संतुलन पर आँच आने दी है। उन्होंने प्रत्येक रस को उचित स्थान दिया है और उसके उदाहरणों में सहृदयता और सरसता भर दी है। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन में एक त्रुटि है। उनमें शृंगार और उसके उदाहरणों के प्रति रीतिकार की जैसी अभिरुचि दिखाई देती है वैसी अन्य रसों और उनके उदाहरणों के प्रति नहीं; पर रसकलस इन दोषों से मुक्त है। यह तो हुई उनकी रीतिकालीन परम्पराओं की आलोचना। मौलिकता की दृष्टि से उन्होंने अपने नायिका-भेद-वर्णन में कुछ ऐसी नायिकाओं की उद्भावना की है जो हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। लोक-सेविका, निजतानुरागिनी, जन्मभूमि-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका और परिवार-प्रेमिका उनकी ऐसी ही नवीन नायिकाएँ हैं। इन नायिकाओं की कल्पना एवं उद्भावना के पीछे हरिऔध की धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जातीय, सुधारवादी तथा उपदेशात्मक मनोवृत्ति ही प्रमुख रूप से दिखाई देती है, इसीलिए इन नायिकाओं के वर्णन में रसानुभूति का अभाव है। नायिका-वर्णन के साथ-साथ उन्होंने स्वतन्त्र निरीक्षण के आधार पर ऋतु-वर्णन द्वारा भी अपनी काव्य-शक्ति और भावुकता का परिचय दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोहों और घनाक्षरी छन्दों का यह रस-ग्रन्थ भाषा, भाव और मौलिकता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाये [illegible] ने अपनी इस रचना में नारी और पुरुष [illegible] शारीरिक

एवं मानसिक धरातल पर बड़ी संयत और सुन्दर भाषा में वर्णन किया है।

हरिऔध समय के अनुसार बदले, पनपे और विकसित हुए हैं। पारिजात यद्यपि उनकी द्विवेदी-काल की स्फुट रचनाओं का संग्रह है, तथापि उसमें नवीन युग के अंकुर वर्तमान हैं। इस काव्य-ग्रन्थ में उनकी अधिकांश दार्शनिक रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओं से उनके आध्यात्मिक विचार और भावों की गम्भीरता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं में उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं उनमें हरिऔध अपने नवीन रूप में मिल सकते हैं। नवीन धारा की उनकी एक रचना का अंश देखिए :—

क्या समझ नहीं सकती हूँ,
प्रियतम, मैं मर्म तुम्हारा?
पर व्यथित हृदय में बहती,
क्या रुके प्रेम की धारा?

हरिऔध की इस शैली पर 'प्रसाद' के आँसू-छन्दों का प्रभाव है। नवीन भाव और नवीन शीर्षक के साथ गेय गान, अकल्पनीय की कल्पना इत्यादि पारिजात में सुन्दर रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ हरिऔध के विकास में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात करती हैं और उन्हें नव-युग के कवियों में लाकर बैठा देती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी काव्य-प्रतिभा विविधरूपिणी है। वह अपनी रचनाओं में कहीं रीतिकालीन हैं तो कहीं भारतेन्दुकालीन; और कहीं, द्विवेदीकालीन हैं तो कहीं नवयुगकालीन। उनके इन समस्त रूपों में उनका द्विवेदी-कालीन रूप ही प्रमुख है। अपने इसी रूप में वह पनपे और विकसित हुए हैं। इस युग की उनकी समस्त रचनाएँ तीन प्रकार की हैं—१. भावात्मक, २. उद्गारात्मक और ३. उपदेशात्मक। अपनी भावात्मक रचनाओं में हरिऔध पूर्णतः कवि हैं। गोधूलि के समय कृष्ण गायें

घराकार लौट रहे हैं। उस समय उनकी शोभा का उन्मादकारी चित्र इन पंक्तियों में देखिये :—

कुकुम-शोभित गोरज बीच से
निकलते ब्रजवल्लभ यों लसे
कदन ज्यों कर वर्धित कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है।

इन सरस पंक्तियों में उन्होंने उपमाओं और उत्प्रेक्षा के सहारे कृष्ण का जो काल्पनिक चित्र उतारा है उसमें भाव और भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य तो है ही, तल्लीनता, सजीवता और आकर्षण भी है। दूसरे प्रकार की उनकी रचनाएँ उद्गारात्मक हैं। माता के हृदय के रसीले उद्गारों का करुणापूर्ण चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

प्रिय पति ! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है ?

मातृ-हृदय के इन स्वाभाविक और वात्सल्य रसपूर्ण उद्गारों में पत्थर को भी पिघला देने की शक्ति है। ऐसे मार्मिक स्थलों के चित्रण में हरिऔध कुशल हैं। उनकी तीसरी प्रकार की रचनाएँ उपदेशात्मक हैं। उपदेशक देने की प्रवृत्ति हरिऔध में अपेक्षाकृत अधिक है। उनकी कोई काव्य-पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें वह उपदेशात्मक न हो। दार्शनिक तत्वों के निरूपण में, भावों के चित्रण में, उद्गारों के वर्णन में उनकी यह प्रवृत्ति उनके विकास में बाधक हुई है। इसका एक कारण है। हरिऔध में लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल है। अपनी जाति, समाज और देश की समस्याओं से वह इतने अधिक प्रभावित हैं कि वह अपने काव्य-जीवन से उनको पृथक् करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। इसीलिये उनका अधिकांश काव्य किसी-न-किसी सामाजिक

सामरस्य को लेकर ही सामने आया है। 'एक बूँद' में उनकी उपदेश भावना देखिये :—

क्यों निकल कर बादलों की गोद से,
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी।
सोचने फिर-फिर यही जी में लगी—
आह, क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी॥
दैव, मेरे भाग्य में है क्या बदा,
मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में।
या जलूँगी गिर अंगारों पर किसी,
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में॥

हरिऔध की इन पंक्तियों में जो सामाजिक भावना है, बहिर्जगत् में मानस जगत् की जो प्रतिष्ठा है, उसके पीछे उनकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही काम कर रही है। इसलिये ऐसी रचनाओं में वे कवि की अपेक्षा उपदेशक ही हो सके हैं। उनका महाकाव्य 'प्रियप्रवास भी इस दोष से नहीं बचा है।

हम हरिऔध के काव्य-साहित्य पर संक्षेप में विचार कर चुके। अब हम उनके महाकाव्य 'प्रियप्रवास' पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि उन्होंने महाकवि के रूप में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में उनका सम्मान उनकी युगेतर रचना प्रिय-प्रवास-द्वारा ही बढ़ा है। यह उनके काव्य-जीवन की विमल कीर्ति है। यदि उन्होंने उपन्यास न लिखे होते, चोखे चौपदे आदि ग्रन्थों की रचना न की होती, रसकलस में अपनी प्रतिभा न दौड़ाई होती तो केवल यही महाकाव्य उनको हिन्दी के इतिहास में अमर बनाने के लिए पर्याप्त था।

हरिऔध: महाकवि

आधुनिक हिन्दी—खड़ी बोली के वह पहले महाकवि हैं। उन्होंने प्रिय-प्रवास हिन्दी को उस समय दान किया जब उसके पास तुलसी, जायसी और केशव के महाकाव्यों के अतिरिक्त कोई महाकाव्य नहीं था। इसलिए प्रिय-प्रवास स्वर्गीय देन के रूप में हिन्दी को मिला और वह निहाल हो गई। फिर तो हिन्दी में कई महाकाव्यों की रचना हुई; पर उन सबमें 'साकेत' के अतिरिक्त कोई उसके समकक्ष आने का साहस न कर सका। स्वयं हरिऔध अपने दूसरे महाकाव्य 'सीता वनवास' में उतने सफल नहीं हुए जितने 'प्रियप्रवास' में। बात यह है कि जिस ऊँची उठान के साथ उन्होंने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है उसका निर्वाह बड़ी सफलतापूर्वक अन्त तक उसमें पाया जाता है। अतः हम इस महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ देते हैं :—

[१] प्रियप्रवास का संदेश—प्रत्येक महाकाव्य का मानवता के लिए एक सन्देश होता है। 'प्रियप्रवास' इससे शून्य नहीं है। हम बता चुके हैं कि हरिऔध में लोक-संग्रह की भावना बड़ी प्रबल है। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने जीवन का आदर्श बनाया है और इस आदर्श के अनुकूल ही उन्होंने 'प्रियप्रवास' द्वारा हिन्दू-जाति को समाज सेवा, स्वार्थ-त्याग, विश्व-प्रेम, परोपकार, देश-सेवा आदि उदात्त वृत्तियों का सन्देश दिया है। विषाद और विरह की पृष्ठ-भूमि पर इन उदात्त और मंगलमय वृत्तियों के जैसे सुन्दर चित्र कृष्ण और राधा के रूप में उतारे गये हैं, वह अपने में महान् और काव्य-सौष्ठव के प्रतीक हैं।

[२] प्रियप्रवास में महाकाव्य के लक्षण—साहित्य दर्पणकार के अनुसार महाकाव्य के सभी लक्षण प्रियप्रवास में नहीं हैं। हरिऔध ने इस महाकाव्य में रूढ़ियों का उल्लंघन करके एक प्रकार से अपनी स्वतंत्र बुद्धि का परिचय दिया है। वास्तव में महाकाव्य भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से महाकवित्व पूर्ण होना चाहिये। उसका उद्देश्य ऐसा होना चाहिए जो समाज के लिये स्वास्थ्यकर हो और उसके लिए कल्पद्रुम का

काम दे सके। इस दृष्टि से जब हम प्रियप्रवास पर
तब हमें ज्ञात होता है कि इसमें १७ सर्ग हैं, कथान
कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं, नायकों की गोपियाँ प्रार
वात्सल्य और करुण-रस का संचार है, काम की सिद्धि है
इन्द-दी और किसी में अनेक प्रकार के छन्द हैं, सर्गों में
अन्त में आगामी सर्ग की सूचना नहीं है, प्राकृतिक
वर्णन है, चरित्र के नाम पर नाम-संस्करण हुआ है और
विषय को लेकर सामने आता है। अतः शास्त्रीय
महाकाव्य है।

[३] प्रियप्रवास का कथानक—प्रियप्रवास की
का गोकुल से प्रवास। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन में
एक विशेष महत्व रखती है। जिस गोकुल की धूल में
हुए, जिस यशोदा और नन्द की गोद में उन्होंने
गोप-गोपिकाओं के साथ उन्होंने बाल-क्रीड़ाएँ की और
साथ उन्होंने प्रेम लोक में विहार किया, उन सबको
राजभोग के लिए मथुरा चले जाना एक ऐसी घटना
गोकुलवासियों के लिए विरह, विषाद और विलाप का का
है। इसी वातावरण की विरहाकुल आधार-शिला पर
प्रासाद खड़ा किया गया है। इस प्रासाद में यदि हम
भीतर से देखें तो हमें उसमें करुणा का वेदनामय स्वर
पटाते हुए जीवन की झाँकियाँ मिलेंगी, वात्सल्य रस के
मिलेंगे और मिलेंगे मोह-मग्न राधा की उदात्तवृत्तियों के
इन चित्रों में हमें राधा के जीवन-विकास की रेखायें मिले
देखेंगे कि कृष्ण के वियोग में छटपटाती हुई राधा
संकुचित प्रकोष्ठ से निकलकर किस प्रकार अपना
उस जीवन की समस्त कामनाओं को विश्व-प्रेम और

के लिए प्रयास है; मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ने का प्रयत्न है। विरह और निराशा के वेदनामय वातावरण में साँस लेने के पश्चात् वह किस प्रकार अपने जीवन का उत्सर्ग करती है और विश्व के मंगलमय जीवन में अपने आनन्द की आभा देखती है, यही प्रियप्रवास के कथानक की 'थीम' है। हरिऔध अपने इस 'थीम' के प्रतिपादन में आदि से अन्त तक सफल हैं। पर, जहाँ अपने कथानक के चुनाव में उन्हें सफलता मिली है वहाँ महाकाव्य की दृष्टि से उसमें एक दोष आ गया है। प्रियप्रवास का विषय एक खण्ड-काव्य का विषय है। महाकाव्य के लिये कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन सामने आना चाहिए था। हरिऔध ने इस दोष का परिहार कृष्ण के जीवन की महत्त्वपूर्ण और मार्मिक घटनाओं के संघटीकरण से किया है, पर इन घटनाओं से कथानक के विकास में विशेष सहायता नहीं मिली है। वस्तुतः इन घटनाओं का आयोजन कृष्ण के चरित्र-चित्रण के लिये हुआ है। ऐसी दशा में प्रबन्ध-काव्य का जैसा गठन और सौष्ठव हमें तुलसी और जायसी में मिलता है वैसा हरिऔध में नहीं है। हरिऔध का प्रबन्ध-काव्य अव्यवस्थित और बिखरा हुआ है।

[४] प्रियप्रवास में चरित्र-चित्रण—प्रियप्रवास चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। इसमें कृष्ण, यशोदा और राधा—तीन ही चरित्र प्रमुख हैं। हम इन तीनों चरित्रों पर यहाँ संक्षेप में आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे :—

१. श्रीकृष्ण—प्रिय-प्रवास में पूर्ववर्ती साहित्य के अवतारी माखनचोर और गोपियों के साथ दिन रात अठखेलियाँ करनेवाले श्रीकृष्ण कर्मयोगी के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनके इस रूप में तीन गुणों की प्रधानता है—शक्ति, शील और सौन्दर्य; अपने इन तीन गुणों के कारण वह मनमोहक हैं, लोक-सेवक हैं, परोपकारी हैं, कर्तव्य-परायण हैं। जब तक वह गोकुल में गोप-ग्वालों और गोपियों के बीच रहते और उनके साथ आनन्दोत्सव में भाग लेते हैं तब तक ग्रामवासियों के प्रति

उनकी उदारता और कार्यशीलता का स्पष्ट परिचय हमें उनके कार्य-कलापों से मिलता रहता है। महावृष्टि, कालिया नाग और अग्नि से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा के लिये उनके हृदय के उद्‌गार इन पंक्तियों में देखिये :—

विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का।
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का।
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है।

श्रीकृष्ण की इन पुनीत भावनाओं में हमें उनके लोकोपकारी और लोकसंग्रही रूप का दर्शन मिलता है। यह उनके गोकुलवास की झाँकी है। इस झाँकी के लोकोत्तर आनन्द का अवसान होता है उस समय जब अक्रूर के आने पर नन्द को श्रीकृष्ण के साथ कंस की सेवा में उपस्थित होना पड़ता है। 'प्रियप्रवास' का आरम्भ यहीं से होता है। कंस की दूषित मनोवृत्ति की धारणा से गोप-गोपिकाओं और यशोदा तथा राधा के हृदय पर इस अकस्मात् प्रवास से जो ठेस लगती है, उससे ब्रजमण्डल का समस्त वातावरण विरह-वेदना से छटपटा उठता है। यह छटपटाहट उस समय और भी तीव्रतर हो जाती है जब नन्द और उनके साथी कृष्ण की बाँसुरी लेकर गोकुल लौट आते हैं। कृष्ण के जीवन का दूसरा अध्याय इसी घटना से प्रारम्भ होता है। गोकुल में कृष्ण का जो रूप है उसमें प्रेम और कर्तव्य की छीना-झपटी है। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि उनका भौतिक प्रेम उन्हें कर्तव्यों की ओर उन्मुख कर रहा है। गोकुल-वासियों की ओर ज्यों-ज्यों उनके प्रेम की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वह उनके प्रति कर्तव्य-परायण भी होते जाते हैं। इसकी परीक्षा का समय उनके जीवन में अनेक बार आता है गोकुल से मथुरा आने पर और कंस का वध करने के पश्चात्। उस समय उनके सामने प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष साकार हो जाता है। एक ओर ब्रज-

वासियों का अनन्त प्रेम और दूसरी ओर कर्तव्यों की पुकार। एक ओर व्यक्तिगत ऐश्वर्य का मोहक चित्र और दूसरी ओर कर्तव्य परायणता का कंटकाकीर्ण शून्य पथ। ऐसे ही अवसरों पर मानव विचलित होता है। श्रीकृष्ण भी मानव हैं। उनके हृदय में भी एक ज्वार आता है और इस ज्वार का शमन उस समय होता है जब वह अपने व्यक्तिगत सुखों को, अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य को लोक-हित की पवित्र वेदी पर उत्सर्ग कर देते हैं। उनके इसी प्रकार के उत्सर्ग में उनके जीवन का सौंदर्य है। उद्धव उनकी इस कर्तव्य-परायणता का परिचय इस प्रकार देते हैं :—

वे जी से हैं जगत-जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।

पर अपने कर्तव्य-परायणता की धुन में वह अपने शैशव के सहचरों और राधा को नहीं भूलते। उनकी याद भी उन्हें सताती रहती है :—

शोभा संभ्रम शालिनी व्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका।
माता थी, प्रत्यक्ष प्रीति-प्रतिमा वात्सल्य धाता पिता।
प्यारे गोप कुमार प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा।

श्रीकृष्ण के हृदय और मस्तिष्क का, मनोविकारों और बुद्धि का, अनुराग और विराग का, प्रेम और कर्तव्य का यह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व जितना ही स्वाभाविक और वास्तविक है उतना ही करुण, सजीव और आकर्षक है, श्रीकृष्ण का अपनी मानवोचित दुर्बलताओं पर विजय लाभ है।

२. यशोदा—प्रियप्रवास में यशोदा का चित्र बड़ा ही मर्म-स्पर्शी है। जिस वृद्धा की लकड़ी किसी क्रूर ने छीन ली हो, जिसकी आँख का तारा, दाम्पत्य जीवन की समस्त कामनाओं का आधार लुट

कता है। वास्तव में यशोदा कृष्ण की सगी माता नहीं हैं।
र्भ से जन्म लेकर कृष्ण ने यशोदा की पवित्र गोद में अपना
प्रतीत किया है। यशोदा के चरित्र की यह महत्ता है कि
ण को कभी पर-पुत्र के रूप में नहीं देखा। वह सदैव उन्हें
पुत्र समझती रही हैं। वही दुलार, वही प्यार, वही फटकार!
ण को कभी यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि वह
ा नहीं हैं। अक्रूर के आने पर उनका मातृ-हृदय भावी
आशंका से इतना प्रभावित हो उठता है कि वह कृष्ण को
ही जाने देतीं, नन्द को उनके साथ कर देती हैं और
—

पल खिला के दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे।

क्तियों को पढ़कर यशोदा को कृष्ण की माता होने में किसी
रने का स्थान ही नहीं मिलता। नन्द के लौटने पर जब
आये तब उनका विलाप देखिए :—

पति, वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?

के इस विलाप में उनका मातृ-हृदय झलक रहा है। कृष्ण
लन उनके जीवन की एक पहेली बन गया है। कृष्ण
हृदय में बड़ी ममता है। वह निराश होकर उनके आग-
मन की प्रतीक्षा में कभी द्वार पर बैठती हैं, कभी पथिकों से पूछती
कर प्रतीक्षा करते-करते, आशा और निराशा के बीच जब
कर बहुत दिन बीत जाते हैं, तब एक दिन ऊधो का

आगमन होता है। उद्धव से और कुछ न पूछकर वह केवल यही पूछती हैं। :—

> मेरे प्यारे सकुशल, सुखी और सानन्द तो हैं?
> कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती?

प्रत्येक माता अपने इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर पाकर जिस स्वर्गीय सुख का अनुभव करती है, यशोदा भी उसी सुख से अपने व्याकुल हृदय की दुर्बलताओं को धो डालना चाहती हैं; पर इतने ही से उन्हें सन्तोष नहीं होता। देवकी के प्रति उनका व्यंग्य भी मातृ-हृदय की दुर्बलता का एक उदाहरण है। देखिए :—

> छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
> ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।

यशोदा की इन पंक्तियों में आहत हृदय से निकले हुए उनके व्यंग्य तो हैं ही, साथ ही कृष्ण पर उनके अधिकार की अमिट छाप है। यशोदा अपने इस अधिकार को माता के रूप में न सही, धात्री के रूप में ही रखा करना चाहती हैं। माता होने का जो अधिकार ईश्वर की ओर से देवकी को मिल चुका है उससे वह उनको वंचित नहीं करना चाहतीं, पर साथ ही वह अपना अधिकार भी नहीं खोना चाहतीं। देखिए :—

> प्यारे जीवें प्रमुदित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
> धाई नाते वदन दिखला जायें बारेक और।

कैसी मंगल कामना है यशोदा की इन पंक्तियों में! अपने मातृ-हृदय की व्याकुलता और छटपटाहट दूर करने के लिए वह धात्री होना ही स्वीकार करती हैं और यह सब इसलिए कि कृष्ण उन्हें मिल जायँ, उनकी साध पूरी हो जाय। यशोदा अपनी इसी साध के कारण अभिनन्दनीया हैं।

३. राधा—राधा प्रियप्रवास के कथानक की नायिका हैं। कृष्ण 'प्रियप्रवास' के भौतिक शरीर हैं और राधा उस शरीर की आत्मा हैं। प्रियप्रवास का पूरा ढाँचा उनकी ही आत्मा को लेकर खड़ा किया गया है। आदि में, मध्य में और अन्त में हमें राधा ही राधा के दर्शन होते हैं। राधा प्रियप्रवास की क्रिया-केन्द्र हैं। शैशव के स्नेहपूर्ण वातावरण से निकलकर जब राधा और कृष्ण बाल्यावस्था में पदार्पण करते हैं तब दैनिक बाल-क्रीड़ाओं में भाग लेने के कारण उनमें एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है और यौवन-काल के आते-आते यह आकर्षण प्रणय के रूप में परिणत हो जाता है। कृष्ण राधामय हो जाते हैं और राधा कृष्णमय। पर जीवन का प्रवाह सदा एक गति से नहीं बहता। अक्रूर के आने पर दोनों के जीवन में मोड़ आ गया। राधा ब्रज में रह गईं और कृष्ण मथुरा चले गये। कृष्ण ने कर्तव्य की गुरुता को राधा के प्रेम की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया और वह फिर ब्रज में लौटकर नहीं आये। ऐसी दशा में विरहिणी राधा के अन्तस्तल की वेदना फूट पड़ी है। भ्रमर को उलाहना देते हुए वह कहती हैं:—

अयि अलि! तुझमें भी सौम्यता हूं न पाती।
मम दुख सुनता है ध्यान दे के नहीं तू।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर होके दृगों से।
मत बन निर्मोही नैन के सामने तू।

इन पंक्तियों में वियोगिनी राधा के अन्तःकरण से प्रसूत व्यंग्य और उपालंभ भरे हुए हैं। जीवन की ऐसी मार्मिक परिस्थितियों में पड़कर प्रत्येक नारी उबल ही पड़ती है। राधा यद्यपि उच्चवंशीय नारी-रत्न हैं और कृष्ण की प्रेमिका हैं, तथापि उनका नारी-सुलभ हृदय उन समस्त दुर्बलताओं का आगार है जिनके कारण नारी जाति कोमल समझी जाती है। इन्हीं दुर्बलताओं के बीच राधा के चरित्र का विकास होता है। एक बात और है, राधा कृष्ण की प्रेमिका हैं, प्रेम-पत्नी नहीं। यही

कारण है कि कृष्ण के वियोग में राधा की जो स्थिति है, वह राधा के वियोग में कृष्ण की स्थिति नहीं है। ऐसी दशा में राधा की दुर्बलताओं का चित्र काव्य का सौन्दर्य बनकर आया है। कृष्ण पहले कर्तव्य-परायण हैं, बाद को प्रेमी हैं; राधा पहले प्रेमिका है, बाद को कर्तव्यशील। पर समय उनकी इस शोकाकुल परिस्थिति में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। इस नवजात परिवर्तन से सम्पूर्ण प्रकृति कृष्ण का प्रतिरूप बनकर राधा के सामने आती है। कृष्ण के इस नवरूप में वह इतनी तन्मय हो जाती है कि वह अपना विरह-सन्ताप भूलकर चिर आनन्द का आभास पाने लगती है और अन्ततः अपने जीवन को लोक-जीवन में घुला-मिलाकर विराट् भावना में परिणत कर देती है। इस प्रकार राधा को कृष्ण के उदार उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना प्रेम दबाना पड़ता है। राधा सेवा-भाव और विश्व-प्रेम को अपनाती है। राधा के व्यक्तिगत प्रेम-प्रधान जीवन में मोड़ लाने का सारा श्रेय कवि की कल्पना का विलास ही कहा जायगा। पर आधुनिक समाज के कोलाहलपूर्ण वातावरण में जब हम नारी-समाज को भौतिकता की ओर झुकता हुआ पाते हैं; तब हम उसके प्राण के लिए, उसमें भौतिकतापूर्ण जीवन का परिष्कार और संस्कार करने के लिए, उसमें मातृत्व की ममता और आकांक्षा जाग्रत करने, उसमें विश्व-प्रेम, लोक-सेवा और राष्ट्र-सेवा की लगन उत्पन्न और उद्भासित करने के लिए साहित्य के पुनीत क्षेत्र में इस प्रकार के कल्पना-विलास का सहर्ष अभिनन्दन करते हैं। इस दृष्टि से हरिऔध का यह प्रयोग सफल और स्तुत्य है। एक बात और है, साहित्य-क्षेत्र में अब तक नवधा भक्ति का उपयोग केवल मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में ही होता रहा है। हरिऔध ने अपने बौद्धिक विलास के कारण उसका उपयोग मातृभूमि और समाज-सेवा के लिए उपयुक्त समझा है और इसका महत्त्व राधा के मुख से वर्णन कराया है। इस प्रकार प्रियप्रवास की राधा न तो सूर की राधा हैं और न रीति-कालीन कवियों की। अपने नवीन रूप में हरिऔध की राधा लोक-सेविका हैं।

[५] प्रियप्रवास में विरह वर्णन—हम अन्यत्र बता चुके हैं कि विरह की आधारशिला पर ही प्रियप्रवास का प्रासाद खड़ा किया गया है। अतः इस महाकाव्य में हमें विरह के अनूठे चित्र देखने को मिलते हैं और हम यह कहने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यह विरह-वर्णन-प्रधान महाकाव्य है। इसका विषय ही कुछ ऐसा है जो विरह से भरा हुआ है। अक्रूर का व्रज में जाना और कृष्ण का उनके साथ आजीवन के लिए मथुरा चले जाना—बस यही एक घटना समस्त व्रज-वासियों के विषाद और विरह का कारण बन जाती है। इस विरहाग्नि में सभी जलते और छटपटाते हैं, पर यशोदा और राधा की दशा अत्यन्त करुणाजनक है। यशोदा इसलिए दुःखी हैं कि उनका पुत्र अब देवकी का पुत्र हो गया है, और राधा इसलिए दुखी हैं कि वह जिसे प्यार करती थीं वह उनसे बिछुड़कर मथुरा चला गया है। जायसी भी अपने महाकाव्य पद्मावत में कुछ ऐसी ही परिस्थितियों से गुज़रे हैं रत्नसेन के सिंहल चले जाने पर उनकी माता उसी प्रकार कातर होती और छटपटाती हैं जिस प्रकार यशोदा, पर यशोदा और रत्नसेन की माता की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। यशोदा वास्तव में माता नहीं, धात्री के रूप में उन्होंने कृष्ण को पुत्रवत् ही माना है। कृष्ण भी उन्हीं को अपना माँ समझते हैं। ऐसी दशा में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा के मातृ-हृदय पर बड़ी ठेस लगती है। वह यह जानकर और भी व्याकुल हो जाती हैं कि अब उन्हें कृष्ण नहीं मिलेंगे। इसलिए उनकी विरह वेदना में निराशा और मातृ-हृदय की व्यंजना अधिक है। रत्नसेन की माँ के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह जानती हैं कि उनका पुत्र राजा है वीर है और पद्मावती को लेकर लौट आयेगा। इसलिए उनका वियोग-सन्ताप केवल एक निश्चित अवधि तक ही सीमित है। यशोदा कृष्ण के तरुण होने और उनकी शक्ति और वीरता [illegible] परिचय पाने पर भी उन्हें बालक ही समझती हैं। इसलिए मथुरा [illegible] अवसर पर वह नन्द को कृष्ण के साथ कर देती हैं। पर

रत्नसेन की माता एक वीर राजा के रूप में अपने पुत्र को देखती है, इसलिए उनके मातृ-हृदय में उन कोमल वृत्तियों का प्रस्फुरण नहीं हो पाता जिनके लिए माता यशोदा के हृदय का द्वार सदैव खुला रहता है। इस प्रकार यशोदा के विरह-वर्णन में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण हरिऔध को जो सफलता मिली है वह जायसी को नसीब नहीं हुई है। अब रहा राधा और नागमती का विरह-वर्णन। नागमती रत्नसेन की विवाहिता पत्नी है और रानी है। वह जानती है कि रत्नसेन पद्मावती की रूप-प्रशंसा सुनकर उसे अपनाने के लिए जा रहा है और कभी-न-कभी वह अवश्य लौटेगा। पर राधा की दशा इससे भिन्न है। राधा कृष्ण की प्रेमिका है। प्रेमिका अपने प्रेम-पात्र का सदैव सामीप्य चाहती है। वह एक क्षण के लिए उसे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकती। ऐसी दशा में कृष्ण का सहसा मथुरा चले जाना और फिर लौटकर कभी न आना ही राधा की विरह-वेदना का कारण बन जाता है। परिस्थितियों में इस प्रकार की विभिन्नता के कारण जायसी और हरिऔध के विरह-वर्णन में अन्तर आ गया है। जायसी ने नागमती के विरह के जो चित्र उतारे हैं, उनमें एक हिन्दू-सती के हृदय के उद्गार हैं अवश्य, पर उनमें काम की लिप्सा भी है। नागमती जानती है कि पति के लौटने और सामीप्य प्राप्त होने पर भी वह रत्नसेन को अपना नहीं सकेगी। पर राधा की चिन्तनधारा इससे भिन्न है। उसके विरह में आध्यात्मिकता है। वह कामवासना की तृप्ति के लिए नहीं, कृष्ण के सामीप्य के लिए छटपटाती है और अन्त में उनकी छटपटाहट कृष्ण की कर्तव्य-निष्ठा के आदर्श, समय के प्रभाव तथा ज्ञान के प्रादुर्भाव से विश्व प्रेम, लोक-सेवा और विराट्-भावना में परिणत हो जाती है। राधा की विरह-वेदना में एक आदर्श है, अपूर्ण से पूर्ण होने की एक चेष्टा है। नागमती की विरह-वेदना में पति-पत्नी के आदर्श प्रेम का प्रलाप है। एक बात और है जिसे हम जायसी के विरह-वर्णन में नहीं पाते। हरिऔध ने अपने विरह-वर्णन में कालिदास के मेघदूत की भाँति पवन-

दूत की उद्भावना की है। विरह-वेदना से सन्तप्त राधा प्रातःकालीन शीतल, मन्द सुगन्ध पवन को मेघ के समान अपना दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती हैं और कहती है :—

> छूके प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा।
> जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुम्ही को लगा के।

हरिऔध के इस पवनदूत पर कालिदास के मेघदूत की स्पष्ट छाप अवश्य है, पर राधा के विरह-वर्णन में इसमें जो गंभीरता आ गई है वह सराहनीय है। जायसी का विरह-वर्णन अधिक ऊहात्मक है। उस पर फ़ारसी-साहित्य का प्रभाव है, हरिऔध के विरह-वर्णन पर संस्कृत-साहित्य का। विरह-वर्णन में प्रकृति की संवेदनशीलता दोनों में समान है।

[६] प्रियप्रवास में प्रकृति-वर्णन—प्रकृति ईश्वर की परम विभूति है। उसमें नियम भी है, नैसर्गिक सुषमा भी। वैज्ञानिक उसमें नियम खोजता है और कवि सुषमा। कवि की असाधारण प्रतिभा इस दिशा में कई प्रकार से काम करती है। प्रकृति-प्रेमी कवि कभी उसके नैसर्गिक सौन्दर्य से प्रभावित होता है, कभी उसे अपने मनोभावों के रंग में रंगा हुआ पाता है, कभी उसे अपने विचारों के प्रस्फुरण में सहायक पाता है, कभी उसमें मानव जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता पाता और कभी समस्त सृष्टि के व्यापारों के पीछे एक विराट् सत्ता का आभास पाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस कवि की जितनी पहुँच है, प्रकृति के प्रति जिसका जितना अनुराग है, उसी के अनुसार वह प्रकृति का चित्रण करता है। हिन्दी के काव्य-साहित्य में प्रकृति-चित्रण की जितनी शैलियाँ प्रचलित हैं, हरिऔध ने अपने महाकाव्य में अवसरानुकूल इन समस्त शैलियों का प्रयोग किया है और प्राकृतिक बड़े कलापूर्ण और भावात्मक चित्र अंकित किये हैं, पर हमें उनके चित्रों में प्रकृति की सहज प्रफुल्लता और उसका मनोमुग्धकारी रूप

देखने को नहीं मिलता। बात यह है कि प्रियप्रवास विरह-प्रधान काव्य है। आदि से अन्त तक उसका एक ही स्वर है विरह, विलाप और रुदन। नन्द, यशोदा, राधा, गोप-गोपिकाएँ कृष्ण के वियोग में विकल हैं। ऐसे विषादमय वातावरण को अपने कथानक का विषय बनाने के कारण महाकाव्यकार को प्रकृति का सुस्मित रूप दिखाने का कहीं अवसर ही नहीं मिला। इसलिए यह दोष हरिऔध और उनकी काव्य-कला का नहीं, वरन् उनके विषय का है। वैदेही वनवास भी उनका इसी प्रकार का महाकाव्य है। इसलिए हम उसमें भी प्रकृति के मनोमोहक चित्र नहीं पाते। ऐसा जान पड़ता है कि विरह के प्रति हरिऔध का इतना झुकाव है, उसके प्रति उनके हृदय में इतनी आसक्ति है कि वह उसका परित्याग नहीं कर सकते। ऐसी दशा में हमें यह देखना चाहिए कि हरिऔध ने किन परिस्थितियों के बीच प्रकृति का चित्रण किया है और उसमें वह कहाँ तक सफल हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें सर्वप्रथम प्रकृति का सरल स्वरूप-चित्रण मिलता है :—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का चित्रण, हरिऔध उसी कला से करते हैं जो एक चित्रकार में होती है। चित्रकार रेखाओं की सहायता से चित्र अंकित करता है और हरिऔध अपने शब्दों से। इसीलिए प्रकृति के इन चित्रों से हमें कवि-हृदय की प्रेरणा का आभास नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि कवि साम्य प्रकृति-सुन्दरी के प्रति विरक्त होकर बैठा है और निर्लिप्त मन से उसकी नैसर्गिक सुषमा के साधारण चित्र उतारता चलता है। इसका कारण कवि-हृदय की भावी आशंका है जो उसे प्रकृति में तल्लीन होने से रोकती है। कृष्ण के आगमन पर उनके दर्शन की लालसा से गोप-गोपिकाओं की जब

भीड़ लग जाती है तब कवि प्रकृति के प्रति पहले की भांति अनुरक्त अवश्य होता है, पर थोड़ी ही देर में जब वह यह देखता है कि :—

> अरुणिमा जगती-तल रंजिनी।
> वहन थी करती अब कालिमा।
>
> मलिन थी नवरागमयी दिशा।
> सरल धार विकास विरोधिनी।

तब उसके हृदय का सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस विरह-कथा को लेकर वह अपने महाकाव्य का ढाँचा खड़ा करने जा रहा है उसका आभास वह सर्वप्रथम प्रकृति-चित्रण द्वारा करा देता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके ये चित्र साधारण हैं, पर उनसे उद्देश्य को चरितार्थ करने में वे सफल हैं।

प्रकृति के इन सादे और साधारण चित्रों के साथ हमें ऐसे भी चित्र मिलेंगे जिनमें उन्होंने मानवी मनोविकारों का आरोप किया है। राधा, कृष्ण के प्रवास का समाचार सुनकर कहती हैं :—

> यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं
> यह सदन हमारा है हमें काट खाता।

प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप इन पंक्तियों में देखिये :—

> नीला प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा।
> बोली खिन्ना विपुल बन के अन्य गोपांगना से।

कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
प्यारी न्यारी जलद-तन की मूर्ति है याद आती।

उपाध्यायजी ने जिन प्राकृतिक दृश्यों को लिया है उनका सफलता-पूर्वक वर्णन किया है। कुछ स्थलों पर केशव का भी प्रभाव उन पर पड़ा है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने पेड़ों के नाम गिनाने की मौज में देश और काल की चिन्ता नहीं की है; और फिर भी आश्चर्य यह कि करील को वे भूल गये। पर सौभाग्यवश ऐसा बहुत स्थलों पर नहीं हुआ है। उन्होंने प्रकृति के इन साधारण चित्रों के साथ-साथ वर्षा आदि ऋतुओं का भी वर्णन बड़े अनूठे ढंग से किया है। बिजली के चमकने, मेघों के गरजने इत्यादि के दृश्य तथा शब्द सब की ओर उनका ध्यान गया है। शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में उनकी कला सफल है। उन्होंने प्रकृति के उद्दीपक और उपायक दोनों रूपों के चित्र उतारे हैं। प्रकृति के उपादक रूप का चित्र देखिए :—

कञ्जों का या उदित शशि का देख सौंदर्य आँखों,
कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित अब हूँ शान्ति सानन्द पाती,
प्यारे के पाँ, मुख, मुरलिका-नाद जैसा उन्हें पा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में राधा ने अपने ही रूप में राधा को उसके प्रियतम का दर्शन करा दिया। केवल यही नहीं, विश्व-नियन्ता, उस विराट् पुरुष के दर्शन भी राधा को प्रकृति की गोद में रहकर ही हुआ है। इस दिव्य दर्शन से प्रकृति के नगण्य पदार्थ का महत्त्व बढ़ गया और राधा की दृष्टि में उसका अपरिमित मूल्य हो गया। हरिऔध के प्रकृति-चित्रण की यह कला उनकी कवित्व शक्ति का समुज्ज्वल रूप हमारे सामने प्रस्तुत करती है। पात्र-रूप में पवन-

दूत का विधान करके उन्होंने प्रियप्रवास का और भी महत्व बढ़ा दिया है। यह बात अवश्य है कि उनके प्रकृति-चित्रण में हमें उसकी आधुनिक शैलियाँ नहीं मिलतीं; पर उनके समय को देखते हुए हम उन्हें इस दिशा में सफल पाते हैं।

अब तक हमने 'प्रियप्रवास' के केवल भाव पक्ष पर विचार किया है। उसके कला-पक्ष की मीमांसा हम हरिऔध की समस्त कृतियों को ध्यान में रखकर अगली पंक्तियों में करेंगे। हम यह देखेंगे कि उन्होंने अपने अलङ्कार, रस तथा छन्द-योजनाओं में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। पहले उनकी अलंकार योजना लीजिए। वर्तमान युग अलंकारों का युग नहीं है, पर जिस समय में हरिऔध ने अपनी लेखनी उठाई थी वह अलंकारों का युग था। इसलिए उनके काव्य-ग्रन्थों में, विशेषतः रसकलस में, हम उनकी एक निश्चित अलङ्कार-योजना पाते हैं। वह अलंकारप्रिय हैं; पर उनकी कविता-कामिनी अलंकारों से बोझिल नहीं है। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी को ऐसे और इतने अलंकारों से सजाया है जितने से उसकी स्वाभाविक सौंदर्य-वृद्धि में उन्हें सहायता मिली है। उन्होंने दोनों प्रकार के अलङ्कारों—शब्दालंकारों और अर्थालङ्कारों—का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों की योजना से उन्होंने अपनी भाषा की सौष्ठव-वृद्धि की है और अर्थालङ्कारों के सम्यक् प्रयोग से भावों की। इस प्रकार भाषा और भाव दोनों का सुन्दर समन्वय उनकी रचनाओं में हो सका है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि का प्रयोग मिलता है और अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, श्लेष, सन्देह, भ्रान्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। इन अलङ्कारों के उदाहरण 'प्रियप्रवास' में अत्यन्त सुन्दर मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि 'प्रियप्रवास' की रचना करते समय उनकी कला अपनी चरम सीमा पर थी।

हरिऔध की अलंकार-योजना

हरिऔध की रचनाओं में उनकी रस-योजना भी दर्शनीय है। शृंगार, वात्सल्य और करुणा के उन्होंने बड़े सुन्दर और आकर्षक चित्र उतारे हैं। उनके इन चित्रों में मानव-हृदय बोलता हुआ सुनाई पड़ता है। उनके शृंगार-वर्णन में वियोग-पक्ष की ही प्रधानता है। 'प्रियप्रवास' में विरह-वर्णन के अन्तर्गत हम उनके विप्रलंभ शृंगार की और यशोदा के चरित्र-चित्रण में हम उनके वात्सल्य-भाव की आलोचना कर चुके हैं। यहाँ हम करुण रस पर संक्षेप में विचार करेंगे। करुण रस का स्थायी भाव है शोक। शोक से प्रियप्रवास और वैदेही वनवास भरे हुए हैं। इस रस ने उनमें इतनी वेदना, इतनी टीस, इतनी छटपटाहट और व्याकुलता भर दी है कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते आँखों में आँसू छलछला आते हैं। उनके प्रेम-मूर्त्ति राधा और माता सीता के वियोग के चित्रों में मानव हृदय का इतना हाहाकार और इतनी वेदना भरी हुई है कि उससे पत्थर भी पिघल जाता है। पर इन सब रसों का अवसान शान्त रस में होता है।

हरिऔध की रस-योजना

हरिऔध की छन्द-योजना बड़ी विस्तृत है। उन्होंने अपनी रचनाओं में छन्दों का प्रयोग काव्य-विषय के अनुकूल ही किया है। उनकी छन्द-योजना हमें चार रूपों में मिलती है—१. ग्रामीण छन्द, २. उर्दू-शैली के छन्द, ३. रीति कालीन छन्द और ४. संस्कृत साहित्य के छन्द। ग्रामीण छन्दों में उनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। एक नमूना देखिए :—

हरिऔध की छन्द-योजना

बिगरल मोर करमवाँ नहिं जानों कौन
 घर गाँव छूटल, दियार देस जनवाँ

उनके इस प्रकार के

और प्रेमघन का यथेष्ट प्रभाव है। प्रेमघन तथा प्रतापनारायण आदि भारतेन्दु-कालीन कवि अपने इन्हीं छन्दों द्वारा ही जनता तक पहुँचे थे। अतः हरिऔध ने भी इन पर अपनी लेखनी उठाई और सफलता प्राप्त की। उनकी उर्दू-शैली के छन्दों का प्रयोग हमें काव्योपवन, प्रेम पुष्पोहार आदि में मिलता है। वह आरम्भ से ही द्विपद, चतुष्पद और षट्पद—छप्पय नहीं—लिखा करते थे। उर्दू और फ़ारसी के वह अच्छे जानकार थे। इसलिये आरम्भ में उन्होंने इन्हीं भाषाओं की शैलियों को अपनाया। नमूने देखिये :—

इस चमकते हुए दिवाकर से।
रस बरसाते हुए निशाकर से।

× × × ×

मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
ख़ूब जो उर्दू न होवे जानता।
आप पढ़ते भी नहीं इनको कभी।
किस तरह है आपका मन मानता।

हरिऔध ने शार्दूल विक्रीडित छन्द को हिन्दी मात्रिक छन्द का रूप दिया था। इसमें १८-१२ के विराम से ३० मात्राओं की पंक्ति का विधान था। इन्हीं के आधार पर बोल-चाल और चौपदों की उन्होंने रचना की।

तीसरे प्रकार की उनकी छन्द-योजना रस कलस में मिलती है। इसमें दोहा, सवैया और कवित्त आदि छन्दों का विधान रीति-कालीन परंपरानुगत किया गया है। इन छन्दों की भाषा ब्रजभाषा है। चौथे प्रकार की उनकी छन्द-योजना संस्कृत-साहित्य की देन है। भारतेन्दु-काल समाप्त होने पर जब द्विवेदी-युग का सूत्रपात हुआ तब उनकी प्रेरणा से प्रभावित कवि मैथिलीशरण गुप्त, देवीप्रसाद 'पूर्ण', गिरिधर शर्मा रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, श्रीधर पाठक आदि

संस्कृत-वृत्तों का हिन्दी में प्रयोग करने लगे। संस्कृत-वर्णवृत्तों में सहज आकर्षण भी था, इसलिए अधिक से अधिक कवि उनकी ओर झुके। द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा आदि की वैजयन्तियाँ हिन्दी के साहित्याकाश में भ्रमण करने लगीं और दोहा, चौपाइयों, कवित्तों, सवैयों और लावनियों का सारा शृंगार हतप्रभ हो गया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के पुनीत काव्य-क्षेत्र में संस्कृत वर्णवृत्तों का समावेश हुआ। इनके समावेशन से भाषा और भाव, शरीर और प्राण दोनों का सौंदर्य बढ़ा। गुप्त जी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा गिरिधर शर्मा आदि इन नवीन छन्दों में बड़ी सुन्दर रचनाएँ करते थे। पर 'तुक-अन्त्यानुप्रास'—का बन्धन सन्हें अब तक जकड़े हुए था। हरिऔध ने सबसे पहले अतुकान्त संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग किया और वह सफल हुए। प्रियप्रवास उनके अतुकान्त संस्कृत वर्णवृत्तों का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ हिन्दी-जगत् में प्रतिक्रिया के रूप में आया। इसने यह घोषित कर दिया कि अन्त्यानुप्रास की मधुरिमा से पृथक् होकर भी कविता मधुर रह सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हरि औध अपनी छन्द-योजना में पूर्णतः सफल हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राचीन तथा नवीन सभी छन्दों का प्रयोग किया है।

छन्दों के निर्वाचन में हम हरिऔध की कला-प्रियता का परिचय पा चुके, अतः अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। वस्तुतः

हरिऔध की शैली

शैली ही लेखक अथवा कवि का वह साधन है जिसके आलोक में हम उसके व्यक्तित्व की, उसकी योग्यता की परीक्षा करते हैं। इस दृष्टि से आँकने पर हम यह कह सकते हैं कि हरिऔध अपनी शैली के स्वयं जन्मदाता हैं। उनकी शैली पर किसी का स्पष्ट प्रभाव नहीं है। प्रियप्रवास, रस-कलश, वैदेही-वनवास बोल चाल तथा चौपदे उनकी शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उन्होंने गद्य

और पद्य दोनों पर अपनी लेखनी उठाई है। गद्य में उनकी शैली कुछ पंडिताऊपन लिए हुए अलंकृत शैली है। अनुप्रास की छटा, लम्बे-लम्बे समासयुक्त शब्द, मुहावरों की भरमार, संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य, कहीं-कहीं लम्बे वाक्य उनकी गद्यशैली में अधिक पाये जाते हैं। उनकी रचनाओं में प्रसाद, माधुर्य और ओज सभी गुण मिलते हैं। उनकी शैली में प्रवाह और चमत्कार भी है। काव्य-साहित्य में उनकी शैली के चार रूप हमें मिलते हैं—१. उर्दू की मुहावरेदार शैली, २. हिन्दी की रीतिकालीन शैली, ३ संस्कृत काव्य की शैली और ४. वर्तमान शैली। अपनी इन शैलियों में हरिऔध सर्वथा नवीन हैं। प्रिय-प्रवास की शैली उच्च हिन्दी का निदर्शन है, पर लम्बे-लम्बे समासों के कारण कहीं-कहीं उसका स्वरूप क्लिष्ट-सा गया है। अप्रसिद्ध शब्द भी आ गये हैं। विदेशी शैली का बुर्का और पायजामा उतारकर उन्होंने उसे हिन्दी की साड़ी में इस प्रकार सजाया और सँवारा है कि उसमें चटकीलापन आ गया है। इस दशा में हरिऔध का प्रयास अत्यन्त सफल है। मुहावरे भाषा के प्राण बनकर उनकी शैली में आये हैं। उनका समस्त साहित्य मुहावरों का एक विशाल कोष है। संस्कृत-काव्य की शैली में अतुकान्त कविता के वह सफल प्रयोगकर्ता हैं। वर्तमान शैली के नमूने पारिजात और वैदेही-वनवास में अधिक मिलते हैं। रसों और विषय के अनुकूल भाषा का होना उनकी शैली की विशेषता है। उनकी शैली में कृत्रिमता नहीं, स्वाभाविकता है। उन्होंने अपनी शैली को प्रभावोत्पादक और आकर्षक बनाने के लिए अनुभावों, अलंकारों और रूपकों से सहायता ली है, पर अपनी इस चेष्टा में उन्होंने अपनी भाषा की स्वाभाविकता और उसके प्रवाह पर आँच नहीं आने दी है। संस्कृत और फ़ारसी के ज्ञाता होने के कारण वह प्रत्येक शब्द की आत्मा और विशिष्टता से परिचित हैं। इसलिए उनका शब्द-शोधन व्यक्तित्वपूर्ण और अद्वितीय है। उनकी शैली में अर्थगौरव का लक्ष्य है, पर अभिव्यंजना की प्रधानता नहीं है।

हरिऔध की छन्द योजना और शैली के अनुरूप ही हमें उनकी भाषा भी कई रूपों में मिलती है, जिससे ज्ञात होता है कि भाषा पर उनका बड़ा अधिकार है। वह भाषा के धनी हैं। गद्य और पद्य—साहित्य के इन दोनों क्षेत्रों में—उनकी भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। वह सरल से सरल भाषा लिख सकते हैं और कठिन से कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। वह अपने आस-पास की शुद्ध ग्रामीण भाषा भी लिख सकते हैं और शुद्ध साहित्यिक हिन्दी भी। उनकी भाषा के मुख्यतः चार रूप हमें मिलते हैं—१. उर्दू शैली से प्रभावित हिन्दी, २. ब्रजभाषा ३. सरल साहित्यिक हिन्दी और ४. तत्सम शब्द-प्रधान हिन्दी। बोल-चाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, पुष्पोद्गार काव्योपवन आदि काव्य-ग्रन्थों में उनकी भाषा उर्दू-शैली से प्रभावित हिन्दी है। वह इतनी सरल, सुबोध और मुहावरेदार है कि उसे समझने में किसी को देर नहीं लग सकती। रस-कलश में उनकी रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। वह अपने शुद्ध रूप में नहीं है। उस पर खड़ी बोली का यथेष्ट प्रभाव है; पर है वह सरल, साहित्यिक और ब्रजभाषा के नियमों से बँधी हुई। शिथिलता उसमें नहीं है। रीति-कालीन कवियों ने तुकबन्दी और व्यर्थ शब्दों की ठूँस-ठाँस से जिस प्रकार अपनी भाषा को बिगाड़ा है उस प्रकार का प्रयत्न हरिऔध ने नहीं किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को उन्होंने ब्रजवाणी के साँचे में ढालकर मधुर बना दिया है। इस प्रकार भाषा को अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार नया रूप देने में वह बड़े ही कुशल हैं। उनकी तीसरे प्रकार की भाषा है सरल हिन्दी। प्रियप्रवास और 'वेनिस का बाँका' के अतिरिक्त उनके शेष खड़ी बोली के ग्रन्थों में सरल हिन्दी है। प्रियप्रवास के बाद 'वैदेही-वनवास' की भाषा प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी-जनता के सामने आई है। प्रियप्रवास की भाषा चौथे प्रकार की है। वह संस्कृत के तत्सम शब्दों से इतनी

हरिऔध की भाषा

कोमल और ढली हुई है कि बड़ी-बड़ी उसमें ढ़िली कौ-सी गई है। देखिए :—

> रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
> तन्वंगी कलहासिनी, सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।

वर्णों के अनुकूल ऐसी भाषा के लिखने में हरिऔध ने न तो अपने शब्दों का ध्यान रक्खा है और न उस भाषा के व्याकरण का जिसमें वह विन्यास लिख रहे थे। इसलिए उनसे व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी हुई हैं और वह अपनी भाषा को अधिक आकर्षक भी नहीं बना सके हैं। इससे उनके काव्य की रोचकता भी नष्ट हुई है। उनका शब्द-चयन भी शिथिल है। ब्रजभाषा के कुछ शब्द भी खड़ी बोली में आ गये हैं जो खटकते हैं। पर इन दोषों के रहते हुए भी हरिऔध के भाषा-सम्बन्धी पाण्डित्य पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। संस्कृत-गर्भित भाषा के प्रति उनकी लालसा है, उनका मोह है। इस लालसा और इस मोह की प्रियप्रवास में उन्होंने पूर्णतः रक्षा की है। भाषा के क्षेत्र में उनका प्रयास नवीन और मौलिक है। उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह, संगीत और लालित्य है और वह उनके भावों को वहन करने में पूर्णतः समर्थ है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन तीनों शक्तियों से काम लेकर शब्दालंकारों से उन्होंने अपनी भाषा के आभ्यन्तरिक तथा बाह्य स्वरूप को जिस प्रकार सौंदर्य प्रदान किया है वह अद्वितीय है।

हरिऔध की काव्य-साधना के भाव और कला-पक्षों पर सम्यक विचार हो चुका। अब हम उनकी तथा उनके समकालीन गुप्तजी की कला-कृतियों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे।

हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त

हरिऔध के सम्बन्ध में हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने अपनी आँखों से हिन्दी के उत्थान काल के तीन युग भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल और वर्तमान काल—देखे हैं। भारतेन्दु काल में बाबा सुमेरसिंह से प्रभावित होकर उन्होंने ब्रजवाणी को अपनाया।

द्विवेदी-काल में खड़ी बोली को प्रोत्साहन मिलने से उन्होंने खड़ी बोली में अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया, पर इसके साथ ही ब्रजवाणी के प्रति उनका जो मोह था उसका परित्याग नहीं किया। नवीन काल में यद्यपि उनकी काव्य-प्रतिभा अधिकांश द्विवेदी-कालीन रही तथापि हिन्दी को उन्होंने अपनी फुटकर रचनाओं के रूप में योग-दान दिया और इस प्रकार वह अपने तीनों कालों में समान रूप से हिन्दी-काव्य की अभिवृद्धि करते रहे। गुप्त जी को काव्य-प्रेरणा मिली अपने पूज्य पिता से। उनके पिताजी कवि थे और ब्रजवाणी में कविता करते थे, पर गुप्तजी ने ब्रजवाणी को नहीं अपनाया। उनके काव्य-जीवन का प्रभात-काल द्विवेदी-युग का प्रभात-काल था। इसलिए द्विवेदी-युग के प्रभाव से उन्होंने खड़ी बोली में कविता करना प्रारंभ किया। इस प्रकार गुप्त जी ने अपनी आँखों से हिन्दी-काव्य के दो युग देखे हैं—द्विवेदी-युग और वर्तमान युग। द्विवेदी-युग से गुप्तजी अत्यधिक प्रभावित हैं। उनके काव्य-जीवन का विकास इसी काल में हुआ है। हरिऔध भी द्विवेदी-युग से उतने ही प्रभावित हैं जितने गुप्तजी, पर हरिऔध पर रीति-कालीन परम्पराओं का यथेष्ट प्रभाव है। गुप्तजी इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त हैं। वह शुद्ध द्विवेदी-कालीन हैं।

धार्मिक क्षेत्र में हरिऔध के सिद्धान्त अधिक व्यापक हैं। वह मानवता के रूप में अवतारवाद को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। उनके इस विचार के अनुसार मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। यही उनका अवतार-वाद है। वह ईश्वर को साकार रूप में स्वीकार नहीं करते। अपनी इस धारणा के कारण उन्होंने प्रियप्रवास में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में अंकित किया है। इसी धारणा के कारण उनमें सामाजिक चेतना का विकास हुआ है और विश्व-प्रेम की उद्‌भावना हुई है। राधा और कृष्ण उनकी इसी भावना के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आते हैं। गुप्त जी

की धारणा इनसे भिन्न है। गुप्तजी श्री रामानन्द के अनुयायी रामोपासक वैष्णव हैं। इसलिए पौराणिक अवतारवाद में उनका विश्वास है। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। जो 'रमा है सब में राम' वही 'निर्गुण' से सगुण साकार बनकर अपनी भक्तवत्सलता का परिचय देता है। उनका उद्देश है—

> पथ दिखाने के लिए संसार को,
> दूर करने के लिए भू-भार को।

गुप्तजी की यह भक्ति-भावना भक्त-कालीन कवियों में उन्हें स्थान दिला देती है। हरिऔध की विचार-धारा पर सन्त कवियों का प्रभाव है। सिक्ख-धर्म में दीक्षित होने के कारण उनकी साहित्य-साधना सन्त कवियों की साहित्य-साधना बन गई है। उनका काव्यगत दृष्टिकोण उनकी धारणा के अनुकूल है। गुप्तजी की रचनाएँ राम के जीवनादर्शों से ओत-प्रोत हैं। उनकी राम-कथा सम्बन्धी रचनाओं में उनका वही स्वर है जो रामचरितमानस में तुलसी का। राष्ट्रीयता के नव जागरण-काल में जन्म लेने के कारण जातीय तथा धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं का भी सम्मिश्रण ऐसी रचनाओं में कर दिया है; पर गुप्तजी भक्त कवि नहीं, प्रमुखतः राष्ट्र-कवि हैं। उनकी भक्ति-भावना के समान ही उनकी राष्ट्र-भावना का विकास हुआ है। हरिऔध सामाजिक प्रवृत्तियों के कवि हैं। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति गुप्त जी का जितना मोह है, उतना हरिऔध का नहीं है। इसीलिए जहाँ हरिऔध सुधारक और उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं वहाँ गुप्त जी हमारी राष्ट्रीय चेतना में प्राण फूँकते पाये जाते हैं। इसका कारण कुछ तो आदर्शों की विभिन्नता और कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। गुप्त जी स्वतंत्र वातावरण में पनपे और विकसित हुए हैं। हरिऔध को अपनी जीविका चलाने के लिए सरकारी नौकरी करनी पड़ी है। इसलिए राष्ट्र-प्रेमी होते हुए भी हरिऔधजी ने राष्ट्रीय चेतनाओं का कभी खुलकर समर्थन नहीं किया। ऐसी दशा में उनकी सामाजिक भावना उनकी

राष्ट्रीय भावना को दबाकर आगे निकल गई। गुप्त जी की राष्ट्रीय भावनाओं का विकास सामाजिक भावनाओं के बीच हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों में बराबर भाग लेने के कारण उनकी सामाजिक भावनाओं को राष्ट्रीय भावनाओं के सामने दब जाना पड़ा। हिन्दू होने के नाते दोनों महाकवि अपनी जातीय समस्याओं से परिचित हैं और उनके प्रति उदार हैं। उनका उद्देश्य ही उनके काव्य-कर्म की मुख्य प्रेरणा है।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में हरिऔध की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य दोनों में हुआ है। उपन्यास और हिन्दी-भाषा तथा साहित्य पर उनकी विवेचना उनकी गद्य-शैली की द्योतक है। प्रियप्रवास तथा वैदेही वनवास उनके दो महाकाव्य हैं। रस-कलस उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। गुप्त जी ने एक महाकाव्य साकेत, जयद्रथ वध आदि कई खण्ड काव्य तथा गीति काव्यों की रचना की है। गद्य की ओर उनकी प्रतिभा उन्मुख नहीं हुई है। आलोचना भी उनका विषय नहीं है। वह केवल कवि हैं। उनके कथानकों का आधार पौराणिक कथाएँ हैं। 'किसान' आदि उनकी स्वतन्त्र रचना के उदाहरण हैं। हरिऔध ने अपने दो महाकाव्यों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही की है, पर उनमें पौराणिकता नहीं है। अपने आदर्शों के आलोक में उन्होंने अपनी कथाओं को नवीन और मौलिक रूप दिया है। गुप्तजी के कथानकों में इस प्रकार की चेष्टा नहीं है। इसलिए हरिऔध की भांति वह किसी नूतन आदर्श की अपनी रचनाओं में स्थापना नहीं कर सके हैं। हरिऔध अपनी महाकाव्येतर रचनाओं में मुख्यतः सामाजिक हैं; गुप्त जी मुख्यतः राष्ट्रीय। नवीनधारा से, काव्य के नवीन वादों से गुप्त जी हरिऔध की अपेक्षा अधिक प्रभावित हैं। गुप्तजी अब छायावादी और रहस्यवादी कविताएँ भी लिखने लगे हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हरिऔध को जो सफलता राधा के चरित्र-चित्रण में मिली है वह उन्हें माता सीता के चरित्र-चित्रण में नसीब नहीं हुई। 'साकेत' की उर्मिला भी राधा की भाँति वियोगिनी है; पर जहाँ राधा का विरह निराशा-जन्य है

वहाँ उर्मिला का · आशाजन्य । उर्मिला जानती है कि लक्ष्मण चौदह वर्ष पश्चात् अवश्य लौटेंगे। इसलिए उसकी विरह-वेदना में वह तड़पन नहीं है जो राधा के विरह में है। राधा विचारशीला हैं, वियोग ही में उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। प्रकृति से सहानुभूति की प्रेरणा पाकर वह विश्व को कृष्णमय समझने लगती हैं और अन्त में लोक-सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देती हैं। उर्मिला मौनव्रती है। वह अपनी आग में सुलगती है, पर इस प्रकार कि वह उसका धुआँ तक बाहर नहीं जाने देती। सास, परिचारिकाएँ इत्यादि उसकी मुखाकृति से यह नहीं भाँप पातीं कि उसे पति-वियोग का दुःख है। बड़ा संयम है उर्मिला को अपने मनोगत भावों पर। राधा का विरह ऐसा नहीं है। उसकी विरहाग्नि का धूम्र चारों ओर फैलाता है और जो उसके सम्पर्क में आता है वही सन्तप्त हो जाता है। उर्मिला का विरह एक बड़े घर की लज्जाशीला बधू का विरह है और राधा का एक प्रेमिका का। उर्मिला हमारे सामने एक पारिवारिक जीवन का आदर्श उपस्थित करती है और राधा एक आदर्श प्रेमिका का। हरिऔध की समस्त रचनाओं में राधा का चरित्र ही उच्च कोटि का है, गुप्त जी की रचनाओं में कई चरित्र महान् हैं। मानव के चरित्र में गुप्तजी की कला का हरिऔध की कला की अपेक्षा अच्छा विकास हुआ है। गुप्त जी के कथोपकथन का क्षेत्र विस्तृत और विशाल है। हरिऔध के कथोपकथन एक सीमित क्षेत्र के भीतर चलते हैं। इसलिए गुप्त जी की अपेक्षा हरिऔध को अपनी उक्तियों का, अपने उद्देश्यों और विचारों का समन्वय करने में बाधाएँ मिली हैं। चरित्र-चित्रण की भाँति गुप्त जी का प्राकृतिक वर्णन भी श्रेष्ठ है। उनकी रचनाओं में हमें प्रकृति के अनेक रूप मिलते हैं। उन्होंने प्रकृति के आनन्दमय रूप के बड़े आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं। देखिए:—

सखि, निरख नदी की धारा।
ढल मल ढल मल चंचल अंचल झल मल झल मल तारा।

× × ×

सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा तरता तरता।

हरिऔध के प्रकृति वर्णन में केवल विवाद के चित्र हैं। उनकी प्रकृति रोती अधिक है, हँसती कम है। विषय की विभिन्नता के कारण प्रकृति चित्रण में गुप्त जी हरिऔध की अपेक्षा आगे हैं। हरिऔध के प्रकृति-वर्णन पर नवीन युग की छाप नहीं है, गुप्त जी ने नवीन शैली को अपना कर अपने प्रकृति-वर्णन को और भी सजीव बना दिया है।

काव्य-कला के क्षेत्र में हम हरिऔध को गुप्त जी से आगे बढ़ा हुआ पाते हैं। हरिऔध आचार्य हैं। उनकी रचनाओं में अलंकार, रस छन्द, भाषा का अत्यन्त सुन्दर विधान हमें मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा दोनों महाकवियों की रचनाओं में स्वाभाविक रूप से आये हैं। इसके आयोजन में हरिऔध को वियोग-शृङ्गार, वात्सल्य और करुण रसों के परिपाक में प्रशंसनीय सफलता मिली है, पर इन रसों के अतिरिक्त रस कलस में उन्होंने सभी रसों का परिचय दिया है। भाषा वह हर तरह की लिख और बोल सकते हैं। गुप्तजी में आचार्यत्व नहीं है। उनकी भाषा में ओज, माधुर्य, प्रसाद सब कुछ है, पर यह सब है खड़ी बोली में। उस पर उनका अधिकार हरिऔध की अपेक्षा अधिक है, पर वह ब्रजभाषा में नहीं लिख सकते और न बोलचाल की भाषा ही अधिकार के साथ लिख सकते हैं। गुप्तजी की भाषा साहित्यिक हिन्दी है जिसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और न उर्दू शब्दों की भरमार। हरिऔध के समान गुप्त जी का मुहावरों पर अधिकार नहीं है। हरिऔध और गुप्त दोनों अपनी छन्द-योजना में नवीन हैं। हरिऔध ने संस्कृत-वृत्तों का उपयोग किया है और गुप्त जी ने हिन्दी-छन्दों का। गुप्त जी गीतिकार भी हैं। उर्दू के छन्दों का प्रयोग गुप्त जी ने नहीं किया है। इस प्रकार सामूहिक दृष्टि से देखने पर हम गुप्तजी को हरिऔध से आगे पाते हैं।

हरिऔध का हिन्दी-साहित्य में स्थान

हरिऔध हिन्दी के महान् कलाकार हैं। हिन्दी के ब्रजभाषा युग में जन्म लेकर क्रांति, देश और साहित्य की चेतनाओं के साथ उन्होंने अपने जीवन का विकास किया है और अपनी साहित्यिक धारणाएँ निश्चित की हैं। बाबा सुमेरसिंह से काव्य-प्रेरणा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने अपनी साहित्य साधना का पथ स्वयम् निर्माण किया। वह कई भाषाएँ जानते थे। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और फ़ारसी साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इन भाषाओं के अतिरिक्त वह अंग्रेजी-बंगला और गुरुमुखी भी जानते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। सरकारी कामों से छुट्टी पाने के पश्चात् उनके पास जो समय बचता था वह साहित्य-साधना में ही व्यतीत होता था। संस्कृत साहित्य का मन्थन जैसा उन्होंने किया था वैसा उनके समकालीन कवियों में नहीं देखा जाता। वह अध्यवसायी और परिश्रमी थे। आरम्भ से ही उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सेवा का व्रत ले लिया था। सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् तो उन्होंने अपने शेष जीवन का प्रत्येक क्षण हिन्दी की सेवा में अर्पण कर दिया था। काशी विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप से हिन्दी की सेवा करते हुए उन्होंने ऐसे कई छात्रों को जन्म दिया जो इस समय हिन्दी का मस्तक ऊँचा कर रहे हैं।

साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में हम हरिऔध को दो रूपों में पाते हैं—गद्यकार और पद्यकार। पद्यकार की हैसियत से हरिऔध की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। वेनिस का बाँका, रिपवानविंकिल तथा कुछ निबन्ध उनकी अनूदित रचनाएँ हैं। ठेठ हिन्दी का ठाठ, अध-खिला फूल, हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास उनकी मौलिक रचनाएँ हैं। इन अनूदित तथा मौलिक रचनाओं में हरिऔध की गद्य-शैली परिष्कृत और अलंकृत है। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि वह सरल और संस्कृत-गर्भित दोनों प्रकार की भाषाएँ लिख सकते थे। उनकी

आलोचनात्मक शक्ति का परिचय हमें उनकी भूमिकाओं से मिलता है। इस प्रकार गद्य में वह अपने काल के सफल लेखक थे। उनमें भावना की शक्ति भी थी।

पद्यकार की हैसियत से हरिऔध ने हिन्दी को जो दान किया वह उनके गद्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में यद्यपि वह रत्नाकर से टक्कर नहीं ले सकते तथापि उनका ब्रजभाषा-काव्य आचार्यत्व की दृष्टि से अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। रीति-कालीन आचार्यों की शृङ्खला में वह आधुनिक युग की अन्तिम कड़ी हैं। 'रसकलस' उनके आचार्यत्व का प्रमाण है। खड़ी बोली के क्षेत्र में वह महाकवि हैं। 'प्रियप्रवास' महाकाव्य उनकी कीर्ति का स्तम्भ है। भक्ति-काल के राधा और कृष्ण को आलम्बन-रूप में ग्रहण करके रीति-कालीन कवियों ने उनके प्रति जो अन्याय किया था, वह महा-काव्य उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आया है। इसमें राधा और कृष्ण लौकिक रूप में चित्रित किये गये हैं। कर्त्तव्य परायणता की प्रेरणा से राधा के प्रेम को ठुकराकर कृष्ण का मथुरा-गमन और राधा का कृष्ण के वियोग में समस्त विश्व को कृष्णमय समझकर उसकी उपासना करना यही प्रियप्रवास का मुख्य 'थीम' है। यद्यपि यह थीम महाकाव्य का विषय होने की क्षमता नहीं रखता, तथापि हरिऔध ने अपनी काव्य-कला के साधनों से इस कथानक को विस्तृत रूप देकर महाकाव्य का विषय बना दिया है। 'वैदेही बनवास' उनका दूसरा महा-काव्य है। इसमें श्रीराम ने लोकापवाद के कारण वैदेही को जो बनवास दिया था उसका करुण वर्णन है। इस काव्य में करुण रस का उतना परिपाक नहीं हुआ है जितना आर्य आदर्शों के अनुसार नारी के कर्तव्यों के निर्वाह का ध्यान रक्खा गया है। इसलिए कवित्व की दृष्टि से इस महाकाव्य को वह गौरव नहीं मिल सका जो प्रियप्रवास को मिला। इन दो महाकाव्यों के अतिरिक्त चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल आदि ग्रन्थ हैं। इनकी भाषा सरल और मुहावरों से लदी हुई है। इनमें

कवित्त कम और भाषा का लालित्य अधिक है। सामाजिक विषयों को लेकर उन्होंने इन काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। पिछले पृष्ठों में हम इन समस्त ग्रन्थों की आलोचना कर चुके हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहेंगे कि 'प्रियप्रवास' में उनकी काव्य-कला का जितना सुन्दर विकास हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हरिऔध प्रियप्रवास में महाकवि हैं और अन्य काव्य-ग्रन्थों में कवि। क्या मानव-प्रकृति-चित्रण और क्या बाह्य दृश्य-चित्रण, क्या भाव-पक्ष और क्या कला-पक्ष, प्रत्येक दृष्टि से 'प्रियप्रवास' उच्च कोटि का महाकाव्य है। उन्होंने दार्शनिक विषयों को लेकर भी अपनी रचना का कौशल दिखाया है। 'पारिजात' उनकी ऐसी ही रचनाओं का संग्रह है। इसमें उन्होंने अपनी आयु के अनुकूल अंत-र्जगत, सांसारिकता, प्रलय, संयोगवाद, वियोगवाद, सत्य का स्वरूप, परमानन्द आदि पारमार्थिक तत्वों का निरूपण किया है। कहने का तात्पर्य यह कि हरिऔध की काव्य-प्रतिभा ने अपने विकास के लिये मानव-जगत का कोना-कोना टटोला है और अपनी रुचि के अनुकूल विषय पाने पर उसे कौशल के साँचे में ढालकर सरस और सुन्दर बनाया है।

जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने काम किया है उसी प्रकार हम भाषा के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा को संलग्न पाते हैं। ब्रजभाषा, सरल हिन्दी, संस्कृत-शब्द प्रधान हिन्दी सब ओर उनकी समान गति है। संस्कृत-छन्दों में खड़ी बोली को स्थान देने का श्रेय सर्वप्रथम उन्हीं को प्राप्त हुआ है। द्विवेदी समुदाय की व्याकरण शुद्धता और कर्कशता उनकी भाषा में नहीं है। प्रियप्रवास की भाषा में मधुरता और कवित्व दोनों है। इस प्रकार भाव, भाषा और कला के क्षेत्र में उनके प्रयोग अपना निजी महत्त्व रखते हैं और प्रत्येक दृष्टि से सफल हैं। उनकी कला अछूती और शुद्ध है। हिन्दी-संसार में उनका व्यक्तित्व इतना महान् है कि वह भुलाये नहीं जा सकते।

—३—

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

जन्म सं० १६२३ मृत्यु सं० १६८६

जीवन-परिचय

कविवर श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म भादों सुदी ५, सं० १६२३ को काशी में हुआ था। वह अग्रवाल-कुल-भूषण थे। उनके पूर्वज पानीपत-निवासी थे और मुगल-सम्राटों के दरबार में उच्च पदों पर काम करते थे। कालान्तर में मुगल-साम्राज्य का पतन होने पर वे लखनऊ चले आये परन्तु राज-घराने से उनका सम्बन्ध बना ही रहा। कहते हैं कि एक बार जहाँदारशाह के साथ सेठ तुलाराम काशी आये और तब से वह यहीं रहने लगे। वह रत्नाकरजी के परदादा थे। रत्नाकरजी के पिता का नाम श्री पुरुषोत्तम दास था। वह फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और हिन्दी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ फ़ारसी तथा हिन्दी-कवियों का जमघट लगा रहता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

से उनकी बड़ी मित्रता थी। वह प्रायः उनके कवि-समाज में सम्मिलित भी हुआ करते थे। इससे रत्नाकरजी को भी भारतेन्दु के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। इस प्रकार बचपन से ही उनके बाल-हृदय में हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया, और उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही अपनी कवित्व-शक्ति का ऐसा परिचय दिया कि भारतेन्दु जी ने उनकी एक रचना से प्रसन्न होकर कहा—'यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा।' भारतेन्दुजी का यह आशीर्वाद विद्यार्थी जगन्नाथदास ने सत्य करके दिखला दिया।

रत्नाकरजी की शिक्षा काशी ही में हुई। आरम्भ में उन्हें समय की प्रगति के अनुसार फ़ारसी भाषा का अध्ययन करना पड़ा। बाद को उन्होंने हिन्दी भी सीखी। सन् १८९१ ई० में उन्होंने फ़ारसी लेकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एम० ए० में भी फ़ारसी पढ़ी, परन्तु किसी कारण से वह एम० ए० की अंतिम परीक्षा न दे सके। एक धनिक परिवार में जन्म लेने के कारण उनके अध्ययन में सैकड़ों बाधाएँ आ सकती थीं और इसीलिए बिना विच्छेद बी० ए० तक पहुँच जाना और पास कर लेना उनके लिए एक असाधारण घटना प्रतीत होती है। इसे हम उनके अध्ययन की उत्कट अभिरुचि का फल ही कह सकते हैं।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के पश्चात् सन् १९०० ई० के लगभग रत्नाकरजी ने आवागढ़ में दो वर्ष तक नौकरी की। वहाँ का जल-वायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न था। ऐसी दशा में उन्होंने वहाँ से पद-त्याग दिया और वे काशी चले आये। कुछ दिनों तक घर पर रहने के पश्चात् उन्होंने अयोध्या-नरेश के यहाँ नौकरी कर ली और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। सन् १९०६ ई० में उनके स्वर्गवास के पश्चात् अयोध्या की महारानी ने उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया और अन्त तक वह इसी पद पर बड़ी योग्यतापूर्वक काम करते रहे। आषाढ़ सौर ७ सं० १९८९ को हरद्वार में उनका शरीरान्त हुआ।

रत्नाकर जी बड़े हँसमुख और विनोद-प्रिय व्यक्ति थे। उनके साथ बातचीत करने में साहित्यिक आनन्द प्राप्त होता था। उनका स्वभाव बड़ा कोमल और मधुर था। वह अँग्रेज़ी के ग्रेजुएट थे; परन्तु अँग्रेज़ी वातावरण का उन पर लेश मात्र भी प्रभाव न था। उनकी रहन-सहन पुराने ढंग के रईसों की-सी थी। उनकी मित्र-मंडली भी बहुत बड़ी थी। अपनी मित्र-मंडली में जब वह कविता-पाठ करते थे, तब उनकी मुद्रा देखने योग्य हो जाती थी। वह बड़े भावुक थे और उनकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त प्रखर थी। काव्य-प्रेमी होने के कारण अपने विद्यार्थी-जीवन में वह 'ज़की' उपनाम से उर्दू में कविता करते थे। धीरे-धीरे उनकी रुचि हिन्दी की ओर बढ़ी। इस प्रकार उर्दू के 'ज़की' हिन्दी में 'रत्नाकर' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए। 'सरस्वती' के प्रथम प्रकाशन के अवसर पर सम्पादकों में उनका भी नाम आया था। वह कई कवि-सम्मेलनों के सभापति भी हो चुके थे। सं० १६७८ में वह कलकत्ता हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी हुए थे। वह हिन्दी के वैष्णव-कवि थे और प्राचीन हिन्दी की काव्यधारा में स्नात थे। उनकी प्रकृति भी उसी साँचे में ढली थी। उनकी विशेषता लीक पर ही चलने की थी। वह 'मैथ्यू आर्नल्ड' की भाँति, हिन्दी के अन्तिम 'क्लासिक' कवि थे। उन्होंने हमें पहले के सुने, पर भूलते हुए गान फिर से गाकर सुनाये, पिछली याद दिलाई और हमारे विस्मृत स्वर का संधान किया। यद्यपि वह अपने काव्य में जीवन की कोई मौलिकता और अनिवार्यता लेकर नहीं आये तथापि उनका वाह्य-कौशल, उनकी अलङ्कार-योजना, उनकी भाषा की कारीगरी और छन्दों की सुघरता हिन्दी को उनकी विशिष्ट देन है।

रत्नाकर का व्यक्तित्व

रत्नाकर की रचनाएँ

हिन्दी में प्रवेश करने पर उन्होंने कई मौलिक ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य-रत्नाकर, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, शृंगार-लहरी, गंगा-विष्णु-लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कल काशी तथा उद्धव-शतक नामक काव्य-ग्रन्थ लिखे। उनकी सबसे पहली कविता-पुस्तक 'हिंडोला' है। यह संवत् १९५१ में प्रकाशित हुई थी। यह प्रबन्ध-काव्य है। समालोचनादर्श इसके बाद की रचना है। 'हरिश्चन्द्र' उनकी तीसरी रचना है। यह भी खण्ड-काव्य है। 'कल काशी' उनकी अपूर्ण रचना है। इसके बाद 'उद्धव-शतक' का नम्बर आता है। इसकी पहली पाण्डु-लिपि चोरी हो जाने से दूसरी बार इसकी रचना हुई है। इसमें कुछ पहले की स्मृति से लिखी रचनाएँ हैं और कुछ पुनः रचित। गंगावतरण महारानी की प्रेरणा से लिखा गया था। यह जब अपूर्ण ही था तब महारानी ने उसकी रचना से प्रसन्न होकर उन्हें १०००) पुरस्कार दिया। उन्होंने यह पुरस्कार स्वयं न लेकर नागरी-प्रचारिणी सभा को दान कर दिया। इस काव्य-ग्रन्थ पर उन्हें हिन्दुस्तानी एकेडेमी से ५००) का एक पुरस्कार भी मिला। इनके अतिरिक्त उनकी कुछ फुटकर कविताएँ भी हैं। उन्होंने चन्द्रशेखर के हमीर हठ, कृपाराम की हित-तरंगिणी और दूलह के कंठाभरण का भी सम्पादन किया था। उन्होंने अंग्रेज़ी-कवि पोप के समालोचना-सम्बन्धी प्रसिद्ध काव्य Essay on Criticism का रोला छन्दों में अनुवाद भी किया। कई वर्षों तक वह अपने सहयोगियों के साथ 'साहित्य-सुधानिधि' नाम का मासिक पत्र भी निकालते रहे। इस पत्र में उनके कुछ काव्य तथा दोहा-नियम प्रकाशित हुए थे, जिन्हें डॉक्टर ग्रियर्सन ने अपनी 'लाल चन्द्रिका' में उद्धृत किया। उन्होंने बिहारी-रत्नाकर नामक बिहारी सतसई की एक ललित टीका भी लिखी है जिसका हिन्दी-संसार में बड़ा आदर है। अपने अन्तिम जीवन में उन्होंने सूर-सागर के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन की ओर भी

ध्यान दिया और बड़े परिश्रम से उसका कार्य किया; परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु से यह कार्य अधूरा ही रह गया। उनकी समस्त रचनाओं का एक संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने 'रत्नाकर' के नाम से प्रकाशित किया है। उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह केवल कवि ही नहीं, भाष्यकार, भाषा-तत्त्वविद् और पुरातत्त्वान्वेषी भी थे। प्राकृत का उन्हें अच्छा ज्ञान था।

रत्नाकर गद्य-लेखक भी थे। उन्होंने कई ऐसे लेख लिखे थे जिनके कारण आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। उनके लेख बड़े गवेषणापूर्ण, भावपूर्ण और रचनात्मक होते हैं।

रत्नाकर की काव्य-साधना

रत्नाकर का काव्य-विषय शुद्ध पौराणिक है। उन्होंने सूर आदि भक्त-कवियों की भाँति पौराणिक कथाओं को ही अपनाया है। उद्धव-शतक, गंगावतरण, हरिश्चन्द्र आदि उनकी रचनाएँ हमारे सामने प्राचीन युग का उच्च आदर्श ही उपस्थित करती हैं। भक्त-कवियों ने जहाँ इन कथाओं में अपनी भावुकता का मिश्रण करके अपने सरस हृदय का परिचय दिया है, वहाँ रत्नाकर ने उनमें भावों की नवीनता तथा उक्ति-चमत्कार का मिश्रण करके उन्हें ओजपूर्ण बना दिया है। इस प्रकार रत्नाकर हमारे सामने एक कलाकार के रूप में ही आते हैं। भक्त कवियों में रस की धारा बहती है, रत्नाकर में सूक्तियाँ मिलती हैं। वस्तुतः उन्होंने भक्ति-कालीन भावनाओं को रीतिकालीन आलंकारिकता के साथ अभिव्यंजित किया है। उनकी रचनाओं में धार्मिक भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना भी मिलती है।

रत्नाकर की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। उनके प्रबन्ध काव्य में हरिश्चन्द्र, गंगावतरण तथा उद्धव-शतक की गणना की जाती है। हरिश्चन्द्र में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है। गंगावतरण में सगर-सुतों के पाताल-प्रवेश और गंगा के स्वर्ग से आगमन की कथा है,

यही कारण है कि मानवीय व्यापारों के चित्रांकन के समान ही उन्हें पशु-जगत् के व्यापारों के चित्रण में भी पूरी सफलता मिली है। रत्नाकर की दृष्टि, रीति-कालीन कवियों की अपेक्षा, बहुत पैनी है। वह रीति-कालीन कवियों की भाँति किसी परिपाटी का आँख मूँद कर अनुकरण नहीं करते। अपनी कला को उन्नत रूप देने में वह उन समस्त उपकरणों से काम लेते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता पड़ती है। उनके प्रकृति के चित्रों में भी हम उनकी इसी मनोदशा का परिचय पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रत्नाकर बाह्य तथा अन्तर दोनों जगत् के चित्रांकन में कुशल हैं। वह स्वयं काव्य-मंच से दूर हटकर खड़े हो जाते हैं और उन पुरुषों, स्त्रियों तथा प्राकृतिक दृश्यों को, सारी गोचर विशेषताओं के साथ, हमारे सामने लाकर खड़ा कर देते हैं जिनके भावों की व्यंजना अपेक्षित है। उनके इस प्रकार के चित्र इतने पारदर्शक होते हैं कि ऊपर के आवरण के भीतर से उनका हृदय भी स्पष्ट झलकने लगता है।

रत्नाकर की काव्य-कला की एक विशेषता और है और वह है उनकी तन्मयता। कवि भाव-लोक का उन्मुक्त गायक होता है। जिन परिस्थितियों से, जिन भावों से, उसे काव्य-प्रेरणा मिलती है, उनमें जितना ही अधिक वह तन्मय हो जाता है, उतना ही मधुर काव्य वह प्रस्तुत करता है। वह अपने भाव में स्वयं तन्मय होकर, स्वयं डूबकर, स्वयं निमग्न होकर, दूसरों को भी अपने उन्हीं भावों में तन्मय कर देता है। रत्नाकर के काव्य में, अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा, तन्मयता अधिक है। उनमें स्वयं तन्मय होने और दूसरों को तन्मय करने की आश्चर्यजनक क्षमता है।

रत्नाकर की काव्य-कला में स्वाभाविक सौंदर्य है। उन्होंने लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन दो महान शक्तियों के बल पर भाव और भाषा का बड़ी ही चतुरतापूर्ण समन्वय किया है। इससे उनकी रचना में स्वाभाविक निखार और नई जवानी का-सा सौंदर्य आ गया है। उन्होंने

अपनी कविता-कामिनी को कलात्मक अलंकारों से इस प्रकार सजाया है, सहज और स्वाभाविक कल्पना के सुमनों से इस प्रकार आभूषित किया है, शुद्ध भाव-रत्नों से इस प्रकार अलकृत किया है कि उनके सामने रीति-काल के बड़े-बड़े कवियों की शृङ्गार से लदी कोमल काव्य-कामिनियों की चमक-दमक निष्प्राण हो जाती है। इसका एक कारण है और वह यह कि रत्नाकर में जहाँ ग्रहण-शक्ति है वहाँ उनमें चयन शक्ति भी है। अपनी इस चयन-शक्ति के कारण वह यह शीघ्र जान जाते हैं कि उनकी काव्य-कला के लिये क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक उपकरण हैं। वह अनावश्यक का बहिष्कार करके आवश्यक उपकरणों से अपनी काव्य-कला को उन्नत रूप देते हैं। चयन भाषा का भी होता है और भावों का भी। रत्नाकर दोनों प्रकार की चयन-शक्ति रखते हैं। उनकी शब्द और भाव-योजना में साम्य है। उन्हें अपने भावों के स्पष्टीकरण के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। भावों के साथ शब्द भी आ जाते हैं, आत्मा के साथ उसका सुन्दर शरीर भी आ जाता है।

रत्नाकर काव्य-कला के पंडित हैं। भाषा और भाव पर समान रूप से उनका अधिकार है। भावों पर तो उनका इतना ज़ोरदार अधिकार है कि वह उनके प्रवाह में आकर वर्ण्य विषय से कभी नहीं भटकते। वह भावों के केन्द्रियकरण के आचार्य हैं। उनकी विचार-धारा संयम की सीमा के भीतर बहती है, इसीलिए उनके मानसिक चित्र पूर्ण तथा स्पष्ट होते हैं।

रत्नाकर की कल्पनाएँ भी बड़ी मधुर, आकर्षक और चुटीली होती हैं। काव्यगत कल्पनाओं, में कवि को लोक-सीमा से बहुत दूर तक इधर-उधर उड़ने और विहार करने का अधिकार होता है, परन्तु जो कवि इस अधिकार का अनुचित लाभ उठाते हैं, जो अपनी रचनाओं में दूर की कौड़ी लाने के लिए लोक-प्राप्त व्यापारों का उल्लंघन कर स्वच्छन्द विचरण करने लगते हैं, उनकी कल्पनाएँ रोचक होने पर

भी काव्योपयोगी नहीं रह जाती। इसीलिए कवि प्रायः लोक-प्राप्त गोचर आधार के सहारे ही अपनी कल्पनाओं का भाव-प्रासाद खड़ा करते हैं। रत्नाकर की कल्पनाएँ भी इसी प्रकार से उनकी रचनाओं में आई हैं। उनकी कल्पनाओं से उनकी रचनाओं को बल मिला है, उनकी अनुभूतियों को सौंदर्य प्राप्त हुआ है। रत्नाकर अपनी कल्पना के सहारे अपने भावों को तीव्रतर बनाकर पाठक के हृदय में उतारने की क्षमता रखते हैं। वह भाव-भूमि तक पाठकों को पहुँचाकर स्वयं कल्पना करने का उन्हें अवसर भी देते हैं। वह भावना की सीमा नहीं बाँधते। वह स्वयं भावुक हैं और अपने साथ अपने पाठक को भी भावुक बनाते हैं।

रत्नाकर का बाह्य दृश्य-चित्रण

रत्नाकर की काव्य-साधना पर विचार करते समय हम यह पाते हैं कि उनमें बाह्य दृश्य-चित्रण की अद्भुत क्षमता है। काव्य-परिशीलन में हम इसे 'विभाव-चित्रण' कहते हैं। रत्नाकर ने आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों विभावों का चित्रण किया है। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत उन्होंने रूप और कार्य-कलापों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। रूप के चित्रण में उन्होंने दो उक्तियों से काम लिया है:—

[१] अपनी पहली उक्ति के अनुसार रत्नाकर ने आलम्बन का चित्र प्रस्तुत करने में ऐसी सभी रेखाएँ स्पष्ट रूप से अंकित की हैं जो चित्र की पूर्णता के लिए अपेक्षित हैं। इन चित्रों से उनकी अन्तर्दृष्टि, निरीक्षण-शक्ति तथा संकलन-शक्ति का स्पष्ट रूप से आभास मिल जाता है। सुदामा का चित्र इन पंक्तियों में देखिए:—

जै जै महाराज दुजराज दुजराज एक,
सुघर सुदामा राज-द्वार आज आए हैं।

कहै रतनाकर प्रगट ही दरिद्र-रूप,
फटही लँगोटी पोंछि पास सौं लगाए हैं ॥
दीनता की छाप हीनता की छाप धारे देह,
लाठी के सहारे लाठी नीठि ठहराए हैं ।
संकुचित कांध पै कमौरी-सी कमौरी लिए,
लागर मंदिर छोटी लोटी लटकाए हैं ॥

सुदामा का दीनतापूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए रत्नाकर ने संकलन-बुद्धि से केवल उन्हीं उपकरणों से काम लिया है जो दीनता-सूचक हो सकते हैं। आलम्बन विभाव के ऐसे सम्पूर्ण सुन्दर चित्र उनके काव्य में भरे पड़े हैं।

[२] अपनी दूसरी शक्ति के अनुसार रत्नाकर ने चित्र प्रस्तुत करने में आलम्बन की पूरी रेखाएँ स्पष्ट न करके केवल ऐसी सार्थक रेखाओं का स्पष्टीकरण किया है जिनसे सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने में सहायता मिलती है। अपने ऐसे चित्रों में वह पाठक की कल्पना के लिये बहुत कुछ सामग्री छोड़ देते हैं। इसका एक कारण है और वह यह कि उनके ऐसे चित्र बाह्य रूपों तथा क्रीड़ाओं की स्पष्ट रेखाओं से ही चित्रित नहीं रहते हैं, अपितु वह भाव-लहरियों से भी स्पंदित रहते हैं। महारानी कौशल्या का यह चित्र लीजिए :—

रूप-सील, गुन-खानि सुघर सब ही विधि सोहति ।
लाजनि बोलति मंद, नैंकु सौंहैं नहिं जोहति ॥

इन पंक्तियों में थोड़े से शब्दों की सहायता से रत्नाकर ने कुल-वधू का जो रूप चित्रण किया है उसे पहचानने में किसी को देर नहीं लगती ।

आलम्बन विभाव के अन्तर्गत रूप-चित्रण ही नहीं, कार्य-कलापों का संश्लिष्ट चित्रण भी रत्नाकर ने किया है। भाव व्यंजना में ऐसे

चित्रों से बड़ी सहायता मिलती है। आत्महत्या के लिए उद्यत होनेवाले हरिश्चन्द्र के कार्य-कलापों का सजीव चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

यह बिचार दृढ़ करि पीपर के पास पधारे।
लीन्हीं डोरी खोलि, ढूँक घंटनि करि न्यारे॥
मेलि तिन्हैं पुनि एक छोर पर फाँद बनायौ।
चढ़ि इक साखा, बांधि छोर, दूजौ लटकायौ॥

कार्य-कलापों के इस चित्रण से हमें उनका ज्ञान ही नहीं; अपितु उनके साथ हमारा साक्षात्कार भी होता है। रत्नाकर की कुशल तूलिका ऐसे चित्र के अंकन में अप्रतिम है।

रत्नाकर के उद्दीपन विभाव के चित्र भी उनके आलम्बन विभाव के चित्र के समान उनकी पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय देते हैं। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का चित्रण होता है। प्रकृति के प्रति रत्नाकर की अनुरागपूर्ण दृष्टि है। ऐसी दृष्टि रखने के कारण उनकी अनुभूति संवेदनात्मक है। यह दो प्रकार की होती है—१. साधारण और २. विशेष। साधारण संवेदनात्मक अनुभूति को हम सत्य और स्वाभाविक कहते हैं, विशेष को हम आरोपित और अस्वाभाविक मानते हैं। साधारण अनुभूति सहृदयों को प्राप्त होती है, आरोपित अनुभूति हमारी चित्त-वृत्ति पर निर्भर रहती है। संयोगावस्था में प्रकृति के जिन दृश्यों से हमें प्रसन्नता होती है, वियोगावस्था में उन्हीं दृश्यों से हमें दुःख होता है। बसन्त के आगमन से सबको आनन्द मिलता है, पर वियोगिनी के लिए :—

कहै रत्नाकर त्यों किंसुक-प्रसून जाल,
ज्वाल बड़वानल की हेरि हियै हहरै।

रत्नाकर ने ऐसे बहुत से छन्द लिखे हैं जो इसी उद्दीपन परिपाटी से सम्बन्ध रखते हैं। प्रकृति के ऐसे चित्रों से हमें नायक अथवा नायिका की

अनुभूति का आभास तो मिलता है, प्रकृति के स्वाभाविक विलास का साक्षात्कार नहीं होता। साधारण अनुभूति का आभास हमें उस प्रकृति वर्णन से होता है जिसमें ऋतु-सुलभ दृश्य तथा व्यापार अपना वास्तविक स्वरूप संरक्षित रखते हैं। रत्नाकर ने प्रकृति के ऐसे भी चित्र अंकित किये हैं। इस वसन्त-वर्णन को देखिए :—

पथिक तुरन्त जाइ कंतहि जगाइ दीजौ,
आइगो वसन्त उर अमित उछाह लै।
कहै रतनाकर न चटक गुलाबन की,
कोप कै चढ़त तोप मैन बादसाह लै॥
कोकिल के कूकनि की तुरही रही है बाजि,
बिरहिनि भाजि कहाँ कौन की पनाह लै॥
सीतल समीर पै सवार सरदार गंध,
मन्द मन्द आवत मिलिंदन सिपाह लै॥

रत्नाकर के ऐसे प्रकृति-चित्र आत्मव्यंजक हैं। अब हम उनके ऐसे प्रकृति-दृश्यों को लेते हैं जिनका चित्र उन्होंने एक द्रष्टा के रूप में अंकित किया है। ऐसे चित्रों में उन्होंने बिंब ग्रहण कराने के साथ-साथ उनका संवेदनात्मक अनुभव भी प्रत्यक्ष किया है। ऐसा करने में उन्होंने दो शैलियों से काम लिया है—एक तो संश्लिष्ट चित्रण से तथा दूसरे केन्द्रीय व्यापार के संशोधन से। संश्लिष्ट चित्रण की शैली का उदाहरण लीजिए :—

छोटे बड़े वृच्छनि की पांति बहु भांति कहूँ,
सघन समूह कहूँ सुखद सुहाए हैं।
कहै रतनाकर वितान बन बेलिन के,
जहाँ तहाँ विविध वितान छवि छाए हैं॥
बैठत उड़त मँडरात कल बोलत औ,
डारन पै डोलत बिहंग बहु भाए हैं।

विचरत बाघ वृक पूरत श्रतंक चहूँ,
कहूँ मृग मसक ससंक फिरैं धाए हैं॥

ऐन्द्रिय व्यापार के संशोधन द्वारा प्रकृति का चित्रण देखिए:—

भूमि भूमि झुकत उमंडि नभ मंडल में,
घूमि घूमि चहुँधा घुमंडि घटा घहरैं।
कहै रतनाकर त्यों दामिनि दमंकैं दुरैं,
दिसि विदिसानि दौरि दिव्य छटा छहरैं॥

इन पंक्तियों में घटाओं के झूम-झूमकर झुकने तथा बिजली के चमककर बादलों में छिप जाने में वस्तु का चित्र सजीव हो गया है।

रत्नाकर के ऋतु-वर्णन दो प्रकार के हैं—परम्परा-युक्त और अनुभूति-पोषित। इस प्रकार के वर्णनों के अतिरिक्त उन्होंने प्रभात, संध्या आदि का भी मनमोहक वर्णन किया है। उनका भिन्न-भिन्न रंगों का निरीक्षण भी सूक्ष्म है। उनके कुछ प्रकृति-चित्रण अलंकार शैली के अन्तर्गत भी हुए हैं, पर अलंकारों की योजना से उनकी शोभा नष्ट नहीं हुई है। सारांश यह कि रत्नाकर अपने प्रकृति-चित्रण में अत्यन्त सफल हुए हैं।

रत्नाकर की अलंकार-योजना

अलंकार के विधान में भी रत्नाकर रीति काल के किसी कवि से पीछे नहीं हैं। रीतिकाल में कुछ कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने अलंकार की छटा दिखाने के लिए भावों का हनन किया है। रत्नाकर की रचना में यह बात नहीं है। उनकी रचना अलंकारों से बोझिल नहीं है। उन्होंने कहीं भी भावों को कमी को अलंकारों की अस्वाभाविक योजना से पूरा करने की चेष्टा नहीं की है। उनकी कृतियों में, शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों को उचित स्थान मिला है। उनके अलंकारों ने भावों को रमणीयता प्रदान की है,

विभावों का विधान किया है और रस की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की है। उनका अलंकार-विधान भावों के स्पष्टीकरण के लिए साधन-मात्र है। और इस साधन को सशक्त बनाने में उन्होंने छन्द-योजना तथा मुहावरों से पूरा काम लिया है। कहने का तात्पर्य यह कि उनकी रचना में अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, आवृत्ति, उल्लेख, असंगति, अतिशयोक्ति, व्याजस्तुति आदि का आयोजन स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इन सब अलंकारों में सांगरूपक रत्नाकर का प्रिय अलंकार है। इसका आयोजन उन्होंने अपनी रचनाओं में बहुत किया है। सम्भवतः जितने अधिक सांगरूपक उन्होंने लिखे हैं, उतने किसी अन्य हिन्दी-कवि ने नहीं लिखे।

रत्नाकर की रस-योजना

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में प्रायः सभी रसों का बड़ी सफलता-पूर्वक समावेश किया है, पर शृंगार-रस को उन्होंने प्रथम स्थान दिया है। ऐसा करने में उन्होंने मुक्तक शृंगारी रचनाओं की परम्परा का अनुसरण किया है। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उन्हें पुरानी शैली के कवि-समाजों में बैठने और उनका सत्संग करने का अवसर मिला था। उन समाजों में दी गई अनेक समस्याओं की पूर्तियाँ उन्होंने भी की थीं। उनके समय में ब्रजभाषा में दो प्रकार की शृंगारी रचनाएँ होती थी। एक प्रकार की शृंगारी रचना तो वह थी जिसमें रूढ़ि के अनुसार नायिका-भेद की परिपाटी का अनुसरण होता था और दूसरे प्रकार की शृंगारी रचना वह थी जो अनुभूति पोषित होती थी। रत्नाकर ने दोनों प्रकार की शृंगारी रचनाएँ की हैं। उनकी शृंगारी रचनाओं में जहाँ कृष्ण नायक के रूप में राधा अथवा किसी गोप कन्या से प्रेम-चर्चा करते हैं; वहाँ उन्होंने प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया है; परन्तु जहाँ उन्होंने कृष्ण और राधा को उनके आलौकिक रूप में देखा है वहाँ उन्होंने दूसरी परिपाटी का

सहारा लिया है। यही कारण है कि उनकी शृंगार-लहरी के कृष्ण उद्धव-शतक के कृष्ण से भिन्न हैं। शृङ्गार-लहरी में कृष्ण का लौकिक रूप है। इस रूप के चित्रण में रत्नाकर की भावुकता बन्धन-मुक्त हो गई है। एक बानगी लीजिये। राधा दो-एक दिनों से यशोदा के यहाँ आती हैं और वहाँ ही रह जाती हैं। कृष्ण अपने खिलौनों के चोरी जाने के संदेह से सतर्क रहते हैं; परन्तु खिलौनों के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की चोरी हो जाती है:—

> आवनि लगी है दिन द्वैक तैं हमारे धाम,
> रहे बिनु काम जाम जाम अरुझाई है।
> कहै रत्नाकर खिलौननि सम्हारि राखि,
> बार बार जननी चितावत कन्हाई है॥
> देखी सुनी ग्वारिन कितेक ब्रज बारिनि पै,
> राधा-सी न और अभिहारिन लखाई है।
> हेरत ही हेरत हर्यौ है हमारी कछु,
> काह धौं हिरानौ पै न परत जनाई है॥

इन पंक्तियों में रत्नाकर की कल्पना कितनी सुन्दर, सजीव और स्वाभाविक है, इसे काव्य-प्रेमी ही समझ सकते हैं।

शृंगार की भाँति ही उन्होंने वीररस को भी स्थान दिया है। वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है और इसका चित्रण युद्ध-वीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर में होता है। रत्नाकर ने चारों प्रकार के वीरों का अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक चित्रण किया है। युद्धवीर का एक उदाहरण लीजिए:—

> दुर्ग तैं तड़पि तड़िता-सी तड़कैं ही कढ़ी,
> कड़कि न पाये कड़खौहू अबै मुरगा।

कहै रतनाकर घलावन लगी यों यान,
मानौ कर फैले फुफुकारी भारि उरगा ॥
आसा छाँड़ि प्रान की, अमान की दुरासा माँड़ि,
भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा ।
देखौ दुरगावति मलेच्छ-दल गेरे देति,
मनौ दैत्य दलनि दरेरे देति दुरगा ॥

इन दोनों रसों के अतिरिक्त रौद्र, भयानक करुण, बीभत्स, अद्भुत शान्त, हास्य तथा वात्सल्य रसों के उदाहरण भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। हरिश्चन्द्र खण्ड-काव्य में प्रायः सभी रसों को स्थान मिला है।

रत्नाकर की छन्द योजना

रत्नाकर ने अपनी समस्त रचनाओं में अधिकांश दो ही छन्दों का विधान किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों की भाँति कवित्त को अपनाया है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उनके कवित्त बेजोड़ होते हैं। कवित्त योजना में उनकी काव्य-कला का प्रसार और प्रदर्शन प्रशंसनीय हुआ है। उनकी अधिकांश भावना भक्तों से ली हुई है, पर भक्तों में उनकी तरह कविता-रीति नहीं थी। वे केवल भजनानंदी थे। उनके पश्चात् के रीति-कवियों में अनुभूति की कमी थी और भाषा-शृंगार अधिक। इस कवि परम्परा में पद्माकार अन्यतम थे। रत्नाकर इस विषय में अपने को पद्माकर से प्रभावित मानते थे।

रत्नाकर ने कुछ सवैये भी लिखे हैं। रोला छन्द उनका नवीन प्रयास है। इस छन्द में बहुत कम कवियों ने लिखा है। इन छन्दों के चुनाव में रत्नाकर ने अपने काव्य-विषय के महत्त्व को सामने रक्खा है। उनके छन्द भाव, भाषा और विषय के अनुकूल हैं। उदाहरण

के लिए कवित्त और हरिश्चन्द्र के लिए रोला छन्द ही उपयुक्त हो सकता था।

रत्नाकर की भाषा और शैली

रत्नाकर के उपर्युक्त काव्य-ग्रन्थों की भाषा ब्रजभाषा है। वह ब्रज-भाषा-प्रेमी थे। जिस समय उन्होंने हिन्दी के पुनीत प्राङ्गण में प्रवेश किया, उस समय काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी। उसी के प्राचीन साहित्य से वह प्रभावित हुए थे और उसी के माधुर्य पर वह मुग्ध थे। अतएव उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का उसी को माध्यम बनाया, परन्तु उन्होंने उसका अन्धानुकरण नहीं किया। उनके सामने ब्रजभाषा का जो स्वरूप था उसे वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त समझते थे। रीतिकाल के पिछले कवियों की मनमानी नीति ने उसका स्वरूप इतना विकृत कर दिया था कि वह निर्जीव-सी, अप्रतिम-सी होती जा रही थी और उसके स्थान पर खड़ी-बोली अपना सर उठा रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि द्विजदेव तथा भारतेन्दु ने उसका संस्कार कर दिया था, परन्तु उतने से उन्हें सन्तोष नहीं था। वह खड़ीबोली के सामने ब्रजभाषा के माधुर्य को, उसकी कोमलता और उसकी सरसता को एक बार फिर लाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने, अन्य भाषाओं के अध्ययन से, उसे, पुनः नवजीवन प्रदान किया। वह अँगरेज़ी फ़ारसी तथा उर्दू के विद्वान् थे। उन्होंने उन भाषाओं को साहित्यिक भाषा का रहस्य समझा था। इसलिए उन्होंने ब्रजभाषा के संस्कार में उन समस्त विधियों से काम लिया जिनके कारण उसे खोई लोकप्रियता पुनः प्राप्त हो सके। ऐसा करने में उन्होंने भाषा की स्वतंत्र प्रकृति का पूरा ध्यान रक्खा। उन्होंने भूले हुए मुहावरों को अपनाया, लोकोक्तियों को स्थान दिया और बोल-चाल के शब्दों से भाषा को सुसज्जित किया। उन्होंने ब्रजभाषा में से बहुत से ऐसे शब्दों और उनके प्रयोगों को हटा दिया जो बहुत घिसकर साधारण जनता के प्रयोगों से दूर हो चुके थे और केवल परम्परा के पालनार्थ ही रक्खे जाते

थे। साथ ही ऐसे शब्दों तथा मुहावरों को भी उन्होंने छोड़ दिया जो प्रयोग बाहुल्य से न तो श्रुति-मधुर थे और न अपनी भाव-व्यंजकता ही प्रकट करते थे। इसका फल यह हुआ कि उनके कलापूर्ण हाथों में पड़कर भाषा का स्वरूप निखर आया। उसमें नवीन आकर्षण तथा नवीन जीवन प्रतीत होने लगा।

रत्नाकर भाषा के जौहरी थे। वह शब्द-रत्न का मूल्य आँकने में अपने समय के आचार्य थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में उनकी शब्द-योजना निर्दोष है। उन्होंने भावों तथा परिस्थितियों के अनुकूल ऐसे सुन्दर शब्दों का चयन किया है और उन्हें अपनी रचनाओं में ऐसे कलापूर्ण ढंग से सजाया और सँवारा है कि उनके आन्तरिक भावों को समझने में कहीं बाधा नहीं पड़ती। अगोचर को गोचर बनाने, अव्यक्त को व्यक्त करने, अपने मन के भावों को पाठक के मन में उतारने तथा उनके सामने अपनी अनुभूतियों का चित्र अंकन करने में रत्नाकर ने अपनी भाषा को इतना सरल, स्वाभाविक और व्यापार के अनुकूल बनाया है कि उसमें बात-चीत का-सा आनन्द आता है। एक उदाहरण लीजिए:—

> सुन सुरपति अति आतुरता-जुत कह्यौ जोरि कर।
> "कौन भूप हरिचंद? कहौ हमसहुँ कछु मुनिवर॥"
> "सुनहु सुनहु सुरराज" कह्यौ नारद उछाह सौं।
> ताकी चरचा करन माँहि चित चलत चाह सौं॥

इस अवतरण में भाषा का प्रसाद गुण देखने योग्य है। रत्नाकर का अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और यह अधिकार उन्होंने बड़ी साधना के पश्चात् प्राप्त किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा मँजी हुई, खरादी हुई है, परन्तु उसे खरादकर उसमें स्वाभाविकता लाने का उन्होंने अपने ढंग से प्रयत्न किया है। 'हिंडोला' तथा 'समालोचनादर्श' में उनकी भाषा मँजी हुई और स्वाभाविक नहीं

है; परन्तु वही खराद पर चढ़ाने के पश्चात् उद्धव शतक तथा 'गंगावतरण' में इतनी निखर आई है कि उसमें नाम-मात्र को भी शिथिलता नहीं दिखाई देती। वास्तव में यही उनकी भाषा का प्रकृत रूप है। उस रूप से हमें ज्ञात होता है कि इन्होंने रीत-काल के बहुत से कवियों की भाँति अपनी भाषा को पांडित्य-प्रदर्शन का माध्यम नहीं बनाया और न उनकी चटक-मटक दिखाने के लिए कभी भावों का बलिदान ही किया। उनकी रचनाओं में अनुप्रास की जो योजना देखने में आती है उसमें आग्रह की अपेक्षा स्वाभाविकता अधिक है। इनकी भाषा में उर्दू का लालित्य और ब्रज का माधुर्य है। उनकी रचनाओं में उनका एक-एक शब्द नगीने की भाँति सिमटा बैठा है। आप कोई शब्द कहीं से निकाल नहीं सकते, उनके स्थान पर कोई दूसरा शब्द रख नहीं सकते। शब्द-चयन में, उन्हें अवसरानुकूल सजाने सँवारने में, उनकी आत्मा में घुस कर उनका मर्म परखने में रत्नाकर उर्दू-कवियों को भी मात करते हैं। व्याकरण सम्बन्धी दोष उनकी भाषा में नहीं हैं।

रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। उन्हीं ने शब्द की इस शक्ति से काम लेकर अपनी दुरूह कल्पनाओं को इतना सहज एवं सरल बना दिया है कि पाठक को उनकी तह तक पहुँचने में विशेष कठिनाई नहीं होती। मुहावरों के प्रयोग में भी वह अपना सानी नहीं रखते। हिन्दी भाषा के पास मुहावरों की बहुत बड़ी शक्ति है और इस शक्ति से उन्होंने पूरा लाभ उठाया है। कहावतें उनकी रचनाओं में कम हैं। कुछ उदाहरण लीजिए:—

> अहह जाति तव मत्सरता अजहूँ न भुलाई।
> हेर फेर सौ बेर जदपि मुँह की तुम खाई॥

× × × × ×

सानुकूल सुभ समय सबहि सोभा संग राखत।
पै सुबरन सोइ साँच, आँच सहि जो रँग राखत॥

रत्नाकर की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी आये हैं; परन्तु उनसे ब्रजभाषा का सौंदर्य क्षीण नहीं हुआ है। उन्होंने तत्सम शब्दों को अपने स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है। वह फ़ारसी तथा उर्दू भाषा के विद्वान् थे, वह चाहते तो इन भाषाओं से प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग कर सकते थे; परन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में बड़े संयम से काम लिया है। उन्होंने न तो कहीं कठिन अथवा अप्रचलित फ़ारसी-शब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं स्वाभाविकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ श्री कृष्ण के लिए दो-एक बार 'सिरताज' का प्रयोग करती हैं, पर वह उपयुक्त और व्यवहार-प्राप्त है, कठोर या खटकने-वाला नहीं। शब्दों के कुछ देशी प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलते हैं; परन्तु उनसे भाषा का सौष्ठव नष्ट नहीं हुआ है। उन्होंने काशी की बोली से शब्द लेकर बड़े कौशल से उन्हें ब्रजभाषा के साँचे में ढाला है। बहुतों ने इस मिश्रण-कार्य में विफल होकर भाषा की निजता ही नष्ट कर दी है, पर रत्नाकर 'गमकावत', 'बगीची', 'धरना', 'परगना' आदि अविरल देशी प्रयोग करते चलते हैं और कहीं वे प्रयोग अस्वाभाविक नहीं जान पड़ते। कहीं-कहीं 'प्रस्तुत', 'निर्धारित' आदि अकाव्योपयोगी शब्दों के शैथिल्य और स्वाभि-प्रसेद 'पात पल' आदि दुरुह पद-जालों के रहते हुए उनकी भाषा क्लिष्ट और अग्राह्य नहीं हुई है। फुटकर पदों और कृष्ण-काव्य में उनकी भाषा शुद्ध ब्रज और गंगावतरण में संस्कृत-मिश्रित होती हुई भी किसी-न-किसी मार्मिक प्रयोग की शक्ति के कारण ब्रज की माधुरी से पूरित हो गई है। उदाहरण लीजिए :—

जग सपनौ-सौ सब परत दिखाई तुम्हैं,
यातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ।

कहै रत्नाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो विवस बयात हौ ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यों ही तुम आप ही सुज्ञानी समुझात हौ।
जोग जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौं,
ब्रह्म ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥

× × ×

मंजन मव भ्रम-काच-कुलिस-आगार मनोहर,
गंजन हिय-तम-तोम तरनि उदयाचल सुन्दर।
प्रेम-पयोधि-रतन-दायक मंदर कल जाके,
कंचन करन हरन-कलमस पारस मनसाके।

रत्नाकर की भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। लम्बी-लम्बी समासान्त पदावली उनकी रचना में बहुत मिलती हैं। स्वाभाविक या श्रुति की मधुर ध्वनि की रक्षा के लिये भाषा को बरे संयत ढंग से चलाने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। इसी से उनकी भाषा में प्रवाह है। भाषा की तुलना में उनकी भाषा पद्माकर से टक्कर ले सकती है, परन्तु जहाँ पद्माकर की भाषा में छलकापन है वहाँ रत्नाकर की भाषा गम्भीर हो गई है। पद्माकर की भाषा का प्रवाह एक छोटा पहाड़ी झरने-सा है, रत्नाकर की भाषा का प्रवाह गम्भीर-नदी-सा है। पद्माकर ने अपनी रचनाओं में भाषा का चमत्कार दिखाया है, रत्नाकर ने अपनी रचनाओं में भावों की गम्भीरता प्रकट की है। पद्माकर की भाषा बालकों के स्वच्छन्द कल-कल हास्य के समान है, रत्नाकर की भाषा प्रौढ़ और संयत है। बिहारी और रत्नाकर की भाषा में साम्य अवश्य है, पर बिहारी की भाषा कहीं-कहीं अलंकारों से इतनी बोझिल हो गई है कि उसके भाव दब से गये हैं। इस दृष्टि से रत्नाकर की भाषा कुछ आगे ही जाती है, परन्तु घनानन्द की भाषा रत्नाकर की भाषा से भी

भाषा बड़ी हुई है। घनानन्द की भाषा ब्रज की शुद्ध साहित्यिक भाषा है। रत्नाकर की भाषा मिश्रित है। उस पर ब्रजभाषा की छाप है। घनानन्द का अधिकांश जीवन ब्रजभूमि में व्यतीत हुआ है। वह वहाँ की भाषा में रम से गये थे। रत्नाकर को ब्रजभाषा का ज्ञान पुस्तकों द्वारा हुआ था। इसलिए रत्नाकर की भाषा में ब्रजभाषा का वह माधुर्य न आ पाया जो घनानन्द की भाषा को प्राप्त हो सका। घनानन्द की भाषा एक प्रकार से उनकी मातृभाषा हो गई थी। रत्नाकर की भाषा उनकी मातृभाषा नहीं थी। अब रत्नाकर की शैली पर विचार कीजिए।

जिस प्रकार रत्नाकर की भाषा पर उनकी सहृदयता की छाप है, उसी प्रकार उनकी शैली—उनके भाव-स्पष्टीकरण की विधि—पर भी उनका अधिकार है। उन्होंने जिन विधानों से अपने जीवन में भाव ग्रहण किया है, उन्हीं विधानों की काव्योचित प्रतिष्ठा करके उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया है। हरिश्चन्द्र काव्य का एक प्रसंग लीजिए। नारद जब इन्द्र-सभा में पहुंचे तब उनके मुख पर प्रसन्नता के चिह्न देखकर इन्द्र ने पूछा :—

पुनि पूछ्यो सुरराज, आज मुनि आवत कित तें।
लोकोत्तर आह्लाद परत छलक्यौ जो चित तें॥

नारद भगवान् इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं।

अहो सहसदृग साधु बात साँची अनुमानी।

ऊपर के अवतरण से यह स्पष्ट है कि रत्नाकर मानवीय व्यापारों को परखने तथा उनका यथातथ्य चित्रण करने में अत्यन्त कुशल हैं। यह उनकी शैली की विशेषता है। उनकी तरह अन्य कवियों ने भी इस शैली का अनुकरण किया है, परन्तु उसमें वह रोचकता, वह स्वाभाविकता नहीं आने पाई है जो रत्नाकर की शैली में है। रत्नाकर

की दृष्टि अनुभावों के निरीक्षण में बहुत पैनी है। एक उदाहरण और लिजिये। इसमें रत्नाकर ने क्रोध का कहीं नाम तक नहीं लिया; परन्तु इन पंक्तियों को पढ़ते ही विश्वामित्र की क्रोधावस्था का चित्र सामने आ जाता है :—

> देखौ वेगहि जौ वाकौ नहिं तेज नसावौं।
> तौ पुनि पन करि कहौं, न बिस्वामित्र कहावौं॥
> यौं कहि आतुर, दै असीस, लै बिदा पधारे।
> चपल धरत पग धरनि, किये लोचन रतनारे॥

इस अवतरण में रत्नाकर ने अवसर के उपयुक्त ऐसी शैली का विधान किया है जिसमें स्वाभाविकता है, ओज है। रत्नाकर की अधिकांश रचना इसी शैली में है। उनकी शैली में भाषा और भावों का इतना सुन्दर सामञ्जस्य है कि वह अपने वर्ग के कवियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

हिन्दी-साहित्य में रत्नाकर का स्थान

अब तक रत्नाकर की कृतियों के सम्बन्ध में जो विवेचना की गई है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य के निर्माण में एक विशेष पथ का अनुसरण किया है। इस विचार से वह ब्रजभाषा काव्य के अन्तिम ऐतिहासिक कवि हैं। उन्होंने अतीत का वर्तमान में चित्रण किया है, इसलिए वह इतिहास के एक सीमित संस्करण-मात्र न होकर अतीत की वर्तमान से अभिसन्धि कराने में बीते युग को विशेष उत्कर्ष के साथ चित्रित करने में सफल हो सके हैं। उनके द्वारा उनका सम्पूर्ण युग बोलता है। वास्तव में, आधुनिकता के प्रति उनकी विशेष रुचि नहीं थी। उन्होंने अपनी आँखों से आधुनिक हिन्दी-साहित्य के तीनों काल देखे थे, पर उन पर किसी का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। 'सरस्वती' के निकलने के पश्चात् खड़ी बोली का जो आन्दोलन

चला उसने व्रजभाषा के अनेक उपासकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया, पर रत्नाकर पर्वत की भाँति अचल रहे। सरदार, सेवक, हनुमान, नारायण आदि कवियों के संसर्ग में रहकर उन्होंने प्राचीन काव्य परम्पराओं का नवीन दृष्टिकोण से अनुशीलन किया। मध्य युग हिन्दी का स्वर्ण युग था और वह उसी युग के पुजारी थे। इसलिये उन्होंने अपनी रचनाओं में उसी युग की भाषा, उसी युग के भाव और उसी युग की शैली को स्थान दिया। उनके आचार-व्यवहार पर भी उसी युग की छाप थी। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया था। फ़ारसी के वह विद्वान थे। इन भाषाओं के अध्ययन से उन्होंने जो सीखा, उसे उन्होंने हिन्दी साहित्य को दान कर दिया। इस दान को भी उन्होंने मध्य युग के साहित्य के रूप में ही हिन्दी-जनता के सामने रक्खा। उन्हें मध्य युग का वातावरण ही पसन्द था। वह व्रजभाषा के माधुर्य पर मुग्ध थे, इसलिए उन्होंने इसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वह मध्य युग की धार्मिक भावना के उपासक थे, इसलिए उन्होंने पौराणिक कथाओं को ही अपना काव्य-विषय बनाया। वह मध्य-युग की काव्य-परम्परा के अनुयायी थे, इसलिए उन्होंने उन्हीं छन्दों और उन्हीं अलंकारों को अपनाया जिनको तत्कालीन कवि अपना चुके थे। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन हिन्दी कविता की सम्पूर्ण विशेषताएँ परिपूर्णतः उनमें निहित होकर केन्द्रित हो गई थीं; अपितु यह कि जिस प्रकार मनुष्य अनेक छोटे-मोटे प्रसाधनों से युक्त होकर एक खास रूप में विशेष आचार-विचार और संस्कृति का उपस्थितः परिचय देता है, उसी प्रकार रत्नाकर ने अपने काव्यों को प्राचीन के विभिन्न प्रसाधनों से यथानुरूप चित्रित कर गत युग को मूर्त किया था। मध्य युग का प्रतिनिधित्व करने पर भक्ति-काल का कोई सन्तोषजनक प्रतिनिधित्व उनकी रचनाओं में नहीं दीख पड़ता। इससे हमारा तात्पर्य विशुद्ध ईश्वरोन्मुख भावना से नहीं, अपितु उन संगीतमय पदों से है जिनमें सूर और तुलसी की भावनाओं ने अमरता प्राप्त की है। वस्तुतः

रत्नाकर मुक्तकों और प्रबन्धों के कवि हैं, गीतों के कवि नहीं हैं। यह अभाव सूचित करता है कि रत्नाकर म काव्य-साधना है, आत्म-साधना नहीं है। वह प्रवनिपुण कवि थे, स्वभाव सिद्ध कवि नहीं थे। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में संकलन-बुद्धि से काम लिया था। वीर-काल, भक्ति-काल और शृंगार-काल की भावनाओं का न्यूनाधिक परिमाण में संकलन कर उन्होंने अपनी भाषा और शैली में एक निजी व्यक्तित्व स्थापित किया था। उन्होंने सूर से माधुर्य-भाव, तुलसी से प्रबन्ध-पद्धति और शृंगारी कवियों से मुक्तक-शैली लेकर अपनी संकलन-बुद्धि का यथार्थ परिचय दिया है। रत्नाकर सूक्तियों के कवि थे। उनकी रचनाओं में कथन की वक्रता रीति प्रेरित कवियों की भाँति अधिक देख पड़ती है। उनके काव्य में उनका आन्तरिक साक्षात्कार नहीं होता। इसकी अपेक्षा उनमें चमत्कारजन्य कौतूहल अधिक आकर्षक हो गया है। अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में उन्हें पद्माकर से अधिक स्फूर्ति मिली है। पद्माकर से उन्होंने मुक्तक कवियों का पद-प्रवाह लिया और वहीं से प्रबन्ध-काव्य की प्रेरणा भी ली। इस प्रकार काव्य की विषय सामग्रियाँ उन्होंने पद्माकर से लीं, पर उनमें आत्मा अपनी रक्खी।

रत्नाकर आधुनिक वर्ग के कवि नहीं थे; परन्तु अपने काल की रुचि और उनकी आवश्यकताओं की ओर से वह उदासीन नहीं थे। इसीलिए उन्होंने व्रजभाषा का संस्कार किया और उसे इस योग्य बना दिया कि वह खड़ी बोली के सामने अपना माधुर्य प्रकट करने में समर्थ हो सके। रत्नाकर को इस कार्य में अभूतपूर्व सफलता मिली। उनकी कल्पना-शक्ति, सुसंगठित निर्मल भाषा, उक्ति-प्रवीणता, कलापूर्ण भाव-प्रदर्शन और मार्मिक मुद्रा-चित्रण के सहयोग से उनकी काव्य-धारा में गंगा की-सी गम्भीरता और मधुरभाषी पक्षियों का-सा कलरव है। उनकी रचनाओं को देखकर कौन कह सकता है कि वह जीवित नहीं हैं।

बाबू मैथिली शरण गुप्त का जन्म श्रावण शुक्ल द्वितीया संवत्
सं० १९४३ को चिरगाँव, जिला झाँसी में हुआ था। उनके पिता सेठ
रामचरण का हिन्दी कविता के प्रति विशेष प्रेम था
वह कविता करते भी थे। उनकी रचनाओं में भक्ति

जीवन-परिचय

रस का प्रवास रहता था। 'कनक लता' उनका उपनाम
था। राम के विष्णुत्व में उनका अटल विश्वास
था। वह प्रायः उन्हीं के गीत गाते थे। उनके य
भक्त और कवि बराबर आते-जाते रहते थे। वैश्य होने के कारण
व्यापार कुशल भी थे। लेन-देन का काम उनके यहाँ अधिक होता था
ऐसे सात्विक वातावरण में बाबू मैथिलीशरण गुप्त और बाबू सिय
——— गुप्त ने जन्म लेकर अपने वंश का ही नहीं, अपनी जन्म-भू

का भी मस्तक ऊँचा कर दिया। सेठ जी के पाँच पुत्रों में से दो—मैथिलीशरण और सियारामशरण—कवि हो गये और शेष तीन रामदास, रामकिशोर और चारुशीलशरण—अपनी कुल-परम्परा के अनुसार व्यापार की ओर झुक गये।

गुप्तजी प्रारंभ में अंगरेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए झाँसी गये, पर वहाँ उनका मन नहीं लगा। अपनी बाल्यावस्था में गुप्तजी बड़े खिलाड़ी थे, अतः वह घर लौट आये। सेठ जी ने घर पर ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। सेठजी की भक्ति-भावना और काव्य-साधना के प्रभाव से गुप्तजी ने प्रमुखतः हिन्दी-साहित्य को ही अपनी साधना का केन्द्र बनाया। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति काव्य की ओर झुकी और वह टूटी-फूटी रचनाएँ करने लगे। उनके पिता एक कापी में अपनी रचनाएँ लिखा करते थे। एक दिन अवसर पाकर गुप्तजी ने भी उसमें एक छप्पय लिख दिया। सेठजी ने अपनी नवीन रचना लिखने के लिए जब कापी खोली तब उसमें उन्हें एक छप्पय लिखा मिला। अक्षर मैथिलीशरण के थे। उस छप्पय को पढ़कर वह मैथिलीशरण की काव्य-प्रतिभा पर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें सफल कवि होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में उनका वह आशीर्वाद सत्य हुआ। आज गुप्तजी की रचनाओं पर हिन्दी को गर्व है।

गुप्तजी अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में जो रचनाएँ किया करते थे वह प्रायः कलकत्ते से निकलनेवाले जातीय पत्र में प्रकाशित होती थीं, पर स्वर्गीय द्विवेदीजी के सम्पर्क में आने पर उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। वस्तुतः हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश 'सरस्वती' द्वारा हुआ। द्विवेदीजी 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ कर रहे थे। खड़ी बोली के वह आचार्य थे। अतः उन्होंने गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओं की भाषा तथा भावों का परिशोधन किया। इससे गुप्तजी

का उत्साह बढ़ गया । गुप्तजी द्विवेदीजी को अपना काव्य-ग
मानते थे और उनसे बराबर शिक्षा लिया करते थे। इस समय उन
समस्त रचनाओं का हिन्दी में बड़ा आदर है। 'साकेत' उनका म
काव्य है। इस पर साहित्य-सम्मेलन से उन्हें मंगलाप्रसाद पारितो
भी मिल चुका है।

गुप्तजी की समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित व
मौलिक। उनकी अनूदित रचनाओं में दो प्रकार का साहित्य है—

गुप्त जी की रचनाएँ

काव्य और कुछ नाटक—विरहिणी व्रजांगना बंग के लब्धप्रतिष्ठ कवि माइकेल मधुसूदन की रचना हिन्दी-अनुवाद है। 'मधुप' उपनाम से उन वीरांगना, मेघनाद-वध तथा प्लासी का युद्ध का बँगला अनुवाद किया है। फारसी के विश्व-विख्यात उमर खैयाम की रुबाइयों के अंगरेज़ी-कवि फि
ज़ेराल्ड कृत अनुवाद को हिन्दी रूप देने में भी उन्हें सफलता मिली
इन अनूदित काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के यशस्वी नाटककार
के स्वप्न वासवदत्ता का भी उन्होंने अनुवाद किया है। अनघ,
चन्द्रहास और तिलोत्तमा उनके पद्य-बद्ध नाटक हैं। मौलिक काव्य ग्रन्थों में
में भंग, जयद्रथ वध-पद्य प्रबन्ध, भारत भारती, शकुन्तला, पत्रा
वैतालिक, पद्यावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, गुरु
बहादुर, हिन्दू, शक्ति, सैरन्ध्री, वन-वैभव, वक-संहार, 'झंकार' और
की गणना की जाती है। यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष हा
बाद के प्रकाशन हैं। विकट भट, मौर्य-विजय, मंगलघट, त्रि
और गुरुकुल भी उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि
उन्होंने अनूदित तथा मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य की व
की है और अभी इस वृद्धावस्था में भी बराबर साहित्य-सृजन
करते जा रहे हैं। उनका अब तक का साहित्य काव्य शै
से चार प्रकार का है—१—गीति-काव्य, २—प्रबन्ध-काव्य,

महाकाव्य और ४—रीति-काव्य। विषय की दृष्टि से उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. भाव प्रधान और २. इतिवृत्तात्मक। गुप्तजी अपनी रचनाओं में प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। रंग में भंग, विकट भट, जयद्रथ वध, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी सिद्धराज, साकेत और यशोधरा उनकी इतिवृत्तात्मक रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ भी मुख्यतः दो प्रकार की हैं—१. कथा सूत्रग्राही इतिवृत्तात्मक, जैसे रंग में भंग और २. विविध दृष्टान्तों के इतिवृत्तात्मक, जैसे हिन्दू।

गुप्तजी का व्यक्तित्व

गुप्तजी हिन्दी-साहित्य के मौन कलाकार हैं। व्यक्ति की दृष्टि से वह अत्यन्त सरल, उदार और मधुर-भाषी हैं। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। गार्हस्थ्य जीवन से उन्हें प्रेम है। उनका हृदय बाल-हृदय की भाँति सरल और निश्छल है, पर इसके साथ ही वह एक विचारक की भाँति गंभीर भी हैं। कभी वह बालकों की-सी बातें करते हैं और कभी एक चिन्तनशील व्यक्ति की भाँति। अपने स्वभाव की विलक्षणता के कारण वह बालकों में बालक और दार्शनिकों में दार्शनिक समझे जाते हैं। उनकी सहृदयता उनके जीवन का आभूषण है। वैश्य-कुल में जन्म लेने के कारण वह व्यापारकुशल हैं। वह वैश्य-कुल के आभूषण हैं। माता भारती की सेवा के साथ-साथ वह लक्ष्मी की आराधना भी करते रहते हैं, पर लक्ष्मी की आराधना उनके जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। धार्मिक क्षेत्र में वह श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव हैं। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। दाशरथि राम उनके इष्ट देव हैं, पर वह कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि उन्होंने कृष्ण को स्वयं 'हरि' आदि कहकर उपलक्षित भी किया है। तथापि उनका हृदय तुलसी की भाँति राम के रूप से ही द्रवित होता है। वह राम के सच्चे सेवक हैं। उनके हृदय की इस राम-मयता का स्पष्ट प्रमाण उनका मंगलाचरण है। महाभारत के कथानकों पर आश्रित

उनकी जो रचनाएँ हैं उनके मंगलाचरण के पद्य प्रायः रामोन्मुख हैं। उनके राम, प्राकृत अथवा अप्राकृत, प्रत्येक रूप में पूर्ण ब्रह्म हैं अपनी माया के सँग लीला करते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त हैं। गुप्तजी यही धार्मिक दृष्टिकोण उनके व्यक्तित्व की आधार शिला है। आधार-शिला पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व का भव्य प्रासाद खड़ा है। उनके जीवन में जो मिठास, जो भोलापन, जो दैन्य, जो और जो गंभीरता है उसका श्रेय उनके हृदय की राम-भक्ति के साहित्य क्षेत्र में उन्हें अपनी इस भावना से बहुत बल और प्रे मिलता है।

पारिवारिक जीवन की परिस्थितियों ने जहाँ गुप्तजी के जी समता प्रदान की है, वहाँ उनके धार्मिक दृष्टिकोण ने उनके जी धारा को पीड़ित मानवता की ओर उन्मुख कर दिया है। वह जाति, समाज और देश के प्रति उतने ही उदार हैं जितने तुलसी बात अवश्य है कि उन्होंने तुलसी की भाँति किसी लोक-नाय चरित्र-चित्रण करके हमारी वर्तमान समस्याओं का नेतृत्व नहीं कि तो भी यदि हम उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए वि संकलन करें तो उनके आलोक में अपनी वर्तमान समस्याओं तलाश कर सकते हैं। मानवता के वह अभिन्न उपासक हैं। उपासना का साधन है उनका साहित्य-प्रेम। साहित्य-प्रेम ने व्यक्तित्व को वाणी दी है, ऐसी वाणी दी है जिसने र प्राण और मानव हृदय की उदात्त प्रवृत्तियों की विराट है। इस प्रकार गुप्तजी के व्यक्तित्व में हम तीन बातें मु से पाते हैं—राम-भक्ति, साहित्य-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम। र ने उनके व्यक्तित्व को वाणी दी है और राष्ट्र-प्रेम ने वाणी को अनुप्राणित किया है। संक्षेप में यही गुप्तजी के व्यक्ति —— है।

अभी हमने गुप्तजी के व्यक्तित्व की व्याख्या की है। इस व्याख्या से के जीवन पर पड़े हुए प्रभाव स्पष्ट हो जाते हैं। उनके जीवन-परिचय से हमें ज्ञात होता है कि आरम्भ में वह अपने पिता के आदर्शों से बहुत प्रभावित थे। उनके पिता कवि, कुशल व्यापारी और धार्मिक पुरुष थे। अपने दैनिक कार्यों से अवकाश पाने पर वह माता सरस्वती की आराधना भी किया करते थे। मैथिलीशरण पर उनकी दिनचर्या का बहुत प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव कारण थोड़ी स्कूली शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् गुप्तजी राम-भक्ति की ओर झुके और टूटी-फूटी भाषा में कविता भी करने लगे। पहले-दल उन्होंने काव्य-रीतियाँ अपने पिता से ही सीखी थीं। इस दशा में स्वाध्ययन से उन्हें बहुत बल मिला। ज्यों-ज्यों साहित्य के प्रति उनका अनुराग बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनके काव्य-जीवन का विकास होने लगा। खाने-पीने की उन्हें कमी नहीं थी। अर्थ-चिन्ता से वह मुक्त थे। इसलिए उनकी प्रगति में कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई। वह कुछ न कुछ नियमपूर्वक बराबर लिखते रहे।

गुप्तजी पर प्रभाव

गुप्तजी के जीवन पर दूसरा प्रभाव पड़ा उनकी रामोपासना का। हम बता चुके हैं कि गुप्तजी श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक श्री वैष्णव हैं। राम की भक्ति में उनकी अविचल श्रद्धा है। इसलिए हम उनकी दृष्टि में समता देखते हैं। वह प्रत्येक मत, प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उदार हैं। उनकी इस प्रकार की उदारता ने उन्हें भारत के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पुनरुत्थान का पक्षपाती बना दिया है। वह अपने चारों ओर प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं से पूर्णतया परिचित हैं और उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। मार्क्स-वादी न होते हुए भी उन्होंने कार्ल मार्क्स की प्रशंसा में रचना की है। इसी प्रकार वे आधुनिक समय के आन्दोलनों की गतिविधि से भी

परिचित हैं। वह मानवतावादी हैं। वह न्याय और सत्य के समर्थक हैं। उन पर सीधा प्रभाव गांधीवाद का है। गांधीजी की भांति वह अहिंसा के समर्थक हैं और सामाजिक अत्याचार, राजनीतिक दासता तथा सांप्रदायिकता के कटु आलोचक हैं। वर्तमान समय की पीड़ित जनता के प्रति उनको सहानुभूति है। राजनीतिक दासता और आर्थिक शोषण से पिसे हुए अशिक्षित किसानों तथा श्रमजीवियों के पक्ष का समर्थन उन्होंने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में किया है। वह देश के कल्याण और समृद्धि के सच्चे इच्छुक हैं, पर उनके विचारों में संकीर्णता नहीं, विश्व मंगल की भावना है। उनकी धार्मिक भावना तथा गांधीवाद की विचार-धारा ने उन्हें सहिष्णु और उदार बना दिया है। वह शान्ति के समर्थक, दलितों के उद्धारक, श्रमिकों के नेता और पूँजीवादी सत्ता के कटु आलोचक हैं। उनमें स्वाभिमान, आत्मविश्वास और आशा है। साहित्य-साधना के क्षेत्र में उनके अध्ययन का उनकी विचार-धारा पर बहुत प्रभाव है। भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर उन्हें अभिमान है। वह अपना अतीत गौरव नहीं भूले हैं। उन्होंने भारत के अतीत गौरव की पृष्ठभूमि पर ही अपने काव्य का प्रासाद खड़ा किया है। उनके साहित्य पर द्विवेदी-युग का प्रभाव है। द्विवेदीजी ने उनकी साहित्य-साधना रूपी नौका के लिए माँझी का काम किया है। इसलिए द्विवेदी-युग की समस्त साहित्यिक चेतनाओं का सुन्दर समन्वय हमें गुप्तजी की रचनाओं में मिल जाता है। द्विवेदी-युग के पश्चात् साहित्य में नवीन युग आने पर हम गुप्तजी को रहस्यवाद और छायावाद की ओर भी उन्मुख पाते हैं। उनकी आधुनिक रचनाओं पर इन वादों की स्पष्ट मुद्रा है। वह युग के साथ बदले और पनपे हैं। उनकी प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता। इस दृष्टि से वह हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं।

हिन्दी-काव्य-साहित्य में गुप्तजी का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन
रचना है। उनका समस्त काव्य जीवन और जगत् की परिभाषा के
रूप में व्यक्त हुआ है। प्राचीन खंडहरों की महत्त्वपूर्ण
सामग्री लेकर उन्होंने जीर्णोद्धार ही नहीं किया,
ा जी के वरन् मूर्तियों को जोड़-तोड़कर उन्होंने उनमें नया रंग
व्य-विषय भी भर दिया है। उनकी काव्य-सामग्री दो प्रकार की
है—१. वस्तु संबन्धिनी और २. भाव-सम्बन्धिनी।
उनकी वस्तु-सम्बन्धिनी रचनाओं में उनके खण्ड-
व और महाकाव्य आते हैं। इस दिशा में हमें उनकी कृतियों में
मुख्य दिशाएँ दिखाई देती हैं — १. राष्ट्रीय, २. महाभारत की कथाएँ,
ामचरित की कथाएँ, ४. बौद्धकालीन कथाएँ, ५. ऐतिहासिक
एँ और ६. पौराणिक कथाएँ। राष्ट्रीय रचनाओं में भारत-भारती
किसान आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत-भारती उनकी प्रथम
य रचना है। इसके द्वारा उन्होंने भारतीय जनता को नवजागरण
सन्देश दिया है और उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को संयत और
सित किया है। इसमें कवित्व नहीं, एक देशभक्त के क्रान्तिकारी
से निकले हुए उद्‌गार हैं, जिनका चित्रण ऐतिहासिक सामग्री के
पर किया गया है। अतीत का गौरव, मध्यकाल की भेद-भावपूर्ण
तथा वर्तमान काल की विषमावस्था का वर्णन करके उन्होंने हमारे
ने यह समस्या रख दी है:—

हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।

इस समस्या में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल हमारे विचारों
अपेक्षा करते हैं। हम एक ही साथ तीनों कालों पर सोचते-विचारते हैं
र अन्त में जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसी के अनुरूप अपना पथ
चन करते हैं। इसी समस्या के कारण भारत-भारती का देश-व्यापी
गत हुआ। राष्ट्रीयता के उस प्रथम उत्थान-काल में गुप्तजी की यह

रचना भारतीय जनता के बीच जो संदेश लेकर आई उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली। और यद्यपि आज हम उसके उद्बोधन से, उसकी प्रेरणा से स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुए हैं तथापि हम उसका उतना ही महत्त्व अनुभव करते हैं। वह हमारे राष्ट्रीय साहित्य की आधार-शिला है और भारत के मंगलमय भविष्य की कामना से ओत-प्रोत है। किसान भी उनकी ऐसी ही रचना है। यह काव्य-पुस्तक कृषि-प्रधान देश भारत की अधिकांश जनता के विचारों और उसकी संकटापन्न परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है।

राष्ट्रीयता के दो पक्ष होते हैं—१. सामाजिक और २. राजनीतिक। राजनीतिक पक्ष में गुप्तजी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के उद्धार की बात एक साथ सोचते हैं, पर सामाजिक पक्ष में उनका दृष्टिकोण हिन्दू-दृष्टिकोण है। वह हिन्दू हैं और हिन्दुओं की परिस्थितियों से भली भाँति परिचित हैं। धार्मिक क्षेत्र में वह रामोपासक हैं, इसलिए वह अपनी उपासना की मर्यादा के अनुकूल ही हिन्दू-समाज का नियंत्रण और सुधार करते हैं। अन्य मतों के प्रति वह उदार हैं। संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता से वह बहुत ऊपर उठे हुए हैं। बाल-विवाह, छूआछूत तथा अन्य ऐसी कुरीतियों से हिन्दू-समाज को जो क्षति पहुँची है, उसका हल भी उनकी रचनाओं में मिलता है। 'हिन्दू' उनकी हिन्दू-भावनाओं से भरी हुई रचना है। जिस प्रकार वह भारत-भारती में समस्त राष्ट्र के लिए छटपटाते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार 'हिन्दू' में वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सिक्ख, बौद्ध आदि विभिन्न वर्गों के उत्थान के लिए व्याकुल हैं। देखिए:—

यह साधन, यह अध्यवसाय, नहीं रहा हम में अब हाय।
इसीलिए अपना यह ह्रास, चारों ओर त्रास ही त्रास।

'हिन्दू' में हिन्दू-धर्म का पूरा चित्र है। उद्बोधन और प्रेरणा

साथ-साथ उसमें आगे बढ़ने का उद्योग है, पर औरों का सुख कुचल
नहीं। देखिए:—

किन्तु हिन्दुओं का उद्योग, हरता नहीं किसी का भोग।
नहीं चाहता है वह क्रान्ति, उसकी चाह विश्व-विश्रान्ति।

× × ×

भुवन हेतु है भारतवर्ष; सब का है उसका उत्कर्ष।
साधन धाम, मुक्ति का द्वार; हिन्दू का स्वदेश संसार।

गुप्तजी की इन भावनाओं में ऋषियों का स्वर गूँजता हुआ सुनाई
ता है। इन पंक्तियों में कवित्व नहीं है, पर हिन्दुत्व का प्राण अवश्य
ल रहा है। 'हिन्दू' वर्तमान युग के राष्ट्रीय जागरण में हिन्दू-जाति को
म्प्रदायिकता के संकीर्ण वातावरण से बचाने का एक प्रयास है। गुप्तजी
पने इस प्रयास में सफल हैं।

गुप्तजी की दूसरे प्रकार की रचनाएँ हैं राम-कथा-सम्बन्धी। पञ्चवटी,
केत आदि उनकी इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में से
ञ्चवटी एक खण्ड-काव्य है। इसका हिन्दी-साहित्य में विशेष सम्मान
। भाव, भाषा तथा छन्द की दृष्टि से यह उच्च कोटि का काव्य है।
समें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उस
मय की कथा है जब वह वनवास के अवसर पर गोदावरी के निकट
ाकर ठहरे थे। इसका आरम्भ रात्रि-वर्णन से होता है। इस वर्णन से
वि में हमें एक नया विकास दिखाई देता है। 'रंग में भंग' से अपने
ाव्य का श्रीगणेश करके जयद्रथ-वध, पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, शकु-
तला, पत्रावली, वैतालिक, किसान और अनघ से होते हुए पञ्चवटी तक
ाने में गुप्तजी ने अपने जीवन के लगभग सोलह-सत्रह वर्ष लगाये हैं।
स अवधि में उनकी काव्य-शैली मुख्यतः वर्णनात्मक रही है। उनको इन
चनाओं में हमें कवित्व कम देखने को मिला है, पर पञ्चवटी में उनका

रचना भारतीय जनता के बीच जो संदेश लेकर आई उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली। और यद्यपि आज हम उनके उद्बोधन से, उनकी प्रेरणा से स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुए हैं तथापि हम उसका उतना ही महत्त्व अनुभव करते हैं। वह हमारे राष्ट्रीय साहित्य की आधार-शिला है और भारत के मंगलमय भविष्य की कामना से ओत-प्रोत है। किसान भी उनकी ऐसी ही रचना है। यह काव्य-पुस्तक कृषि-प्रधान देश भारत की अधिकांश जनता के विचारों और उसकी संकटापन्न परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है।

राष्ट्रीयता के दो पक्ष होते हैं—१. सामाजिक और २. राजनीतिक। राजनीतिक पक्ष में गुप्तजी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के उद्धार की बात एक साथ सोचते हैं, पर सामाजिक पक्ष में उनका दृष्टिकोण हिन्दू-दृष्टिकोण है। वह हिन्दू हैं और हिन्दुओं की परिस्थितियों से भली भाँति परिचित हैं। धार्मिक क्षेत्र में वह रामोपासक हैं, इसलिए वह अपनी उपासना की मर्यादा के अनुकूल ही हिन्दू-समाज का नियंत्रण और सुधार करते हैं। अन्य मतों के प्रति वह उदार हैं। संकीर्णता अथवा साम्प्रदायिकता से वह बहुत ऊपर उठे हुए हैं। बाल-विवाह, छूआछूत तथा अन्य ऐसी कुरीतियों से हिन्दू-समाज को जो क्षति पहुँची है, उसका हल भी उनकी रचनाओं में मिलता है। 'हिन्दू' उनकी हिन्दू-भावनाओं से भरी हुई रचना है। जिस प्रकार वह भारत-भारती में समस्त राष्ट्र के लिए छटपटाते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार 'हिन्दू' में वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सिक्ख, बौद्ध आदि विभिन्न वर्गों के उत्थान के लिए व्याकुल हैं। देखिए:—

> वह साधन, वह अध्यवसाय, नहीं रहा हम में अब हाय।
> इसीलिए अपना यह ह्रास, चारों ओर त्रास ही त्रास।

'हिन्दू' में हिन्दू-धर्म का पूरा चित्र है। उद्बोधन और उत्प्रेरणा

के साथ-साथ उसमें आगे बढ़ने का उद्योग है, पर औरों का सुख कुचल कर नहीं। देखिए:—

किन्तु हिन्दुओं का उद्योग, हरता नहीं किसी का भोग।
नहीं चाहता है वह क्रान्ति, उसकी चाह विश्व-विश्रान्ति।

× × ×

भुवन हेतु है भारतवर्ष; सब का है उसका उत्कर्ष।
साधन धाम, मुक्ति का द्वार; हिन्दू का स्वदेश संसार।

गुप्तजी की इन भावनाओं में ऋषियों का स्वर गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है। इन पंक्तियों में कवित्व नहीं है, पर हिन्दुत्व का प्राण अवश्य बोल रहा है। 'हिन्दू' वर्तमान युग के राष्ट्रीय जागरण में हिन्दू-जाति को साम्प्रदायिकता के संकीर्ण वातावरण से बचाने का एक प्रयास है। गुप्तजी अपने इस प्रयास में सफल हैं।

गुप्तजी की दूसरे प्रकार की रचनाएँ हैं राम-कथा-सम्बन्धी। पञ्चवटी, साकेत आदि उनकी इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इन काव्य-ग्रन्थों में से पञ्चवटी एक खण्ड-काव्य है। इसका हिन्दी-साहित्य में विशेष सम्मान है। भाव, भाषा तथा छन्द की दृष्टि से यह उच्च कोटि का काव्य है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उस समय की कथा है जब वह वनवास के अवसर पर गोदावरी के निकट आकर ठहरे थे। इसका आरम्भ रात्रि-वर्णन से होता है। इस वर्णन से कवि में हमें एक नया विकास दिखाई देता है। 'रंग में भंग' से अपने काव्य का श्रीगणेश करके जयद्रथ-वध, पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, किसान और अनघ से होते हुए पञ्चवटी तक आने में गुप्तजी ने अपने जीवन के लगभग सोलह-सत्रह वर्ष लगाये हैं। इस अवधि में उनकी काव्य-शैली मुख्यतः वर्णनात्मक रही है। उनकी इन रचनाओं में हमें कवित्व कम देखने को मिला है, पर पञ्चवटी में उनका

कवित्व फूट पड़ा है। वास्तव में यह काव्य उनके काव्य-इतिहास का विभाजन स्थल है। जयद्रथ-वध, भारत-भारती और अनघ का कवि पंचवटी में बिलकुल बदल गया है। इसमें भक्ति का अंकुर यहीं से फूटता है और वह अपनी सहृदयता का परिचय देने लगता है। एक दृष्टि से पंचवटी का और भी महत्त्व है। पूर्वकालीन महाकाव्यकारों ने लक्ष्मण को कर्तव्यपरायण कठोर दास के रूप में ही चित्रित किया है। गुप्तजी ने पंचवटी में अपना दृष्टिकोण इससे भिन्न कर दिया है। उन्होंने लक्ष्मण को मानव-रूप में ग्रहण किया है। अतः इस काव्य-ग्रन्थ के पूर्व जहाँ उन्होंने महाभारत, पुराण तथा इतिहास के कथानकों को प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया, वहाँ पंचवटी के कथानक में कुछ उलट-फेर कर दिया है। ऐसा एक स्थल है शूर्पणखा का रात्रि के समय लक्ष्मण से मिलने के लिए आना। अन्य कवियों ने शूर्पणखा की प्रणय-याचना के काण्ड का अभिनिवेश राम, सीता तथा लक्ष्मण के सामने दिन ही में कराया है। इससे उनकी निशाचरी संज्ञा सिद्ध नहीं होती। प्रणय का प्रस्ताव भी रात्रि में लक्ष्मण को अकेले पाकर होना चाहिये। इन सब बातों का विचार पंचवटी के कवि की नई कल्पना है। दूसरी बात जो पंचवटी के कथानक में ध्यान देने योग्य है वह है राम-सीता और लक्ष्मण का आनन्दोल्लास। यहाँ ऐसा जान पड़ता है मानो राम विष्णु के अवतार नहीं साधारण पुरुष हैं। सीता और लक्ष्मण का हास-परिहास इसका एक उदाहरण है। पारिवारिक जीवन की झाँकी अनन्त सौंदर्य से भरी हुई है। इस अनन्त सौंदर्य में हमें न तो कवि की राष्ट्रीयता मिलती है और न गम्भीर दार्शनिकता। ऐसा जान पड़ता है कि कवि किसी चिर सुख की लालसा से जगत् के कोलाहलपूर्ण वातावरण से निकलकर जीवन को आनन्दमयी निधियाँ बटोर रहा है। प्रकृति के प्रति उनका अनुराग बढ़ गया है और अब उसके दो ही विषय रह गये हैं। काव्य और मानव-जीवन। साकेत में हमें यही बातें सुन्दर रूप से मिलती हैं।

गुप्तजी की तीसरे प्रकार की रचनाएँ हैं महाभारत-सम्बन्धी। इन रचनाओं में जयद्रथ-वध, बक-संहार, वन-वैभव, द्वापर और सैरंध्री आदि हैं। भाव, भाषा और काव्य की दृष्टि से यद्यपि पंचवटी की कला इनमें नहीं है तथापि अन्तरोल्लास वैसा ही है। बौद्ध-कालीन रचनाओं में यशोधरा और अनघ का मुख्य स्थान है। यशोधरा प्रबन्ध-काव्य है। इसमें भगवान् बुद्ध और यशोधरा की कथा है। अनघ पद्यबद्ध रूपक है। पलासी का युद्ध, गुरुकुल, पत्रावली, रंग में भंग आदि ऐतिहासिक कथानकों से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं। पौराणिक रचनाओं में चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला और नहुष का स्थान है। इनमें से प्रथम दो रूपक हैं और शेष खण्ड काव्य हैं। इनके अतिरिक्त झंकार आदि में उनकी फुटकर कविताएँ संग्रहीत हैं। इन कविताओं से उनकी भावाभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। सामयिक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही इन कविताओं की रचना हुई है।

क्रम-विकास की दृष्टि से हम गुप्तजी की इन समस्त रचनाओं को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. सन् १९०९ से १९२५ तक और २. सन् १९२५ से आजतक। रंग में भंग से आरम्भ करके अनघ तक गुप्तजी अपनी प्रथम अवधि के भीतर आते हैं। इस अवधि में उनकी जितनी रचनाएँ हैं उनमें वर्णनात्मक काव्य है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथानकों के आधार पर उन्होंने अपने राष्ट्रीय विचारों का ढाँचा खड़ा किया है और उसके द्वारा भारतीय जनता को नव सन्देश दिया है। दूसरे काल का प्रारम्भ पंचवटी से होता है। इस काल के अन्तर्गत उनकी रचनाओं में अनुभूतियों का प्राधान्य होता गया है। कहने का तात्पर्य यह कि गुप्तजी की काव्य-प्रतिभा का विकास वर्णनात्मक से भावात्मक रचनाओं की ओर हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी कथानक के सहारे ही विकसित हुई है और इसी कारण उनकी रचनाएँ अधिकांश खण्ड-काव्य अथवा महाकाव्य हैं, पर विकास की दृष्टि से उनकी प्रथम कोटि की रचनाओं में जहाँ इन

उन्हें हृदय को छूता हुआ पाते हैं वहाँ उनके उत्तरार्द्ध की रचनाओं में हम उनके हृदय का वेग पाते हैं। पूर्वार्द्ध में उनके भाव बौदिक स्तर पर नहीं पहुँचे हैं, इसलिए उनमें हृदय को छूने की शक्ति तो है, हृदय को मथने और उसे स्थायी रूप देने की शक्ति नहीं है। उत्तरार्द्ध में इस अभाव की पूर्ति हो जाती है और कवि केवल कवि ही नहीं महाकवि के रूप में हमारे सामने आता है। राष्ट्रीय विचारों की दृष्टि से अनघ की रचना का विशेष महत्त्व है। इस गीति-नाट्य की रचना उस समय हुई थी जब महात्मा गांधी के सत्याग्रह-सम्बन्धी विचारों की पहली विजय हुई थी। इसकी गहरी छाप गुप्तजी पर पड़ी और उन्होंने अनघ के रूप में महात्माजी का चित्र उपस्थित किया। अनघ के पूर्व उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ संकुचित था, पर अनघ में उसका विकास हो गया और वह कहने लगे :—

न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥

'अनघ' के बाद हम गुप्तजी का यही स्वर उनकी अन्य रचनाओं में पाते हैं। वह एकदेशीय नहीं, सर्वदेशीय हैं। अनघ और पञ्चवटी के बाद उन्होंने अपने कथानकों के बौद्धिक तत्त्व पर युग-वाणी का नहीं, युग-यु की वाणी का चित्र उपस्थित किया है। वह एक युग के नहीं, कई युग के, भू वर्तमान और भविष्य के महाकवि हो गये हैं।

गुप्तजी के काव्य-विषय की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उन्होंने मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों ही प्रकार की पर्याप्त कविताएं लिखी हैं, पर उनका काव्य-गौरव मुक्तक कविताओं में उतना नहीं है, जितना उनके प्रबन्ध एवं खण्ड-काव्यों में है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। कुछ कवियों की वृत्ति कथात्मक होती है और कुछ कवियों की भावात्मक। कुछ कवियों में दोनों का

गुप्तजी का गीति काव्य

परमोत्कर्ष भी पाया जाता है। तुलसी के समान प्रतिभाशाली कवि का

दोनों वृत्तियों पर पूर्ण अधिकार था, पर प्रायः यह देखा जाता है कि भावात्मक वृत्ति के कवि अपनी कथात्मक कृति में और कथात्मक वृत्ति के कवि अपनी भावात्मक कृति में समान रूप से सफल नहीं होते। तुलसी कथात्मक वृत्ति के कवि थे और सूर भावात्मक वृत्ति के।

सूर को अपने गीतों में जो सफलता मिली, वह तुलसी को अपने गीतों में नहीं मिली। बात यह है कि अपने-अपने स्थान पर दोनों का कर्तव्य गुरुतर होते हुए भी भावात्मक कवि का कर्त्तव्य-क्षेत्र निरवलम्ब होता है और कथात्मक कवि का साधार। इसलिए जहाँ प्रबन्ध-काव्यों में कवि-कल्पना विभिन्न आधारों पर विश्राम लेती हुई भावों के मुक्त आकाश में उड़ती है, वहाँ भाव-काव्यों में आधारों का अभाव रहने से उसे पूर्ण स्वावलम्बी बनकर वायुमंडल में विहार करना पड़ता है। गुप्तजी प्रमुखतः कथात्मक वृत्ति के कवि हैं; पर जैसा कि हम कह चुके हैं उन्होंने मुक्तक गीतों की भी रचना की है। उनके मुक्तक गीतों से हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। उनके पूर्व भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न तथा श्रीधर पाठक के गीत मिलते हैं। इन गीतिकारों के गीतों में हृदय को स्पर्श करने की शक्ति तो है, हृदय को मथने की शक्ति नहीं है। गुप्तजी अपने युग के प्रथम गीतिकार हैं। उनकी काव्य-कला का नवीन सन्देश तथा प्रकृति और मानव के अन्तःकरण का सहज सामञ्जस्य उनके गीतों में प्रस्फुटित हुआ है। उनके गीत दो प्रकार के हैं—१. आधुनिक शैली के और २. परम्परागत पद शैली के। आधुनिक शैली के अन्तर्गत उनके गीत दो प्रकार के हैं—१.राष्ट्रीय और २. रहस्यवादी। उनके राष्ट्रीय गीतों पर वर्तमान युग की गहरी छाप है। स्वदेश-संगीत में उनके राष्ट्रीय गीत हैं। झंकार गुप्तजी की मुक्तक और भावात्मक कविताओं का संग्रह है। इसकी प्रायः सभी कविताएँ द्विवेदी-युग [illegible]। खड़ी बोली के उस शैशव काल में भी [illegible] प्रकार कैसे रूप प्राप्त किया था, [illegible]। इसमें

उस समय की काव्य-स्थिति के द्योतक शिशु-भाव भी हैं और क
विकास के अनुसार प्रौढ़ भाव भी। इसकी अधिकांश कविताएँ रहस्
के अन्तर्गत आ जाती हैं। गुप्त जी सगुणोपासक वैष्णव कवि हैं, इस
उनकी रहस्यवाद की कृतियों में भी सगुणोपासना का स्वर
देखिए:—

सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूँ मैं, तू न बीच में बोल।

इस प्रकार वह संसार से विरक्त होकर निर्गुण उपासना की
सांसारिक बंधनों में रहकर सगुण उपासना द्वारा ही अपने अभी
प्राप्त करना चाहते हैं। यही कारण है कि वह अपनी राष्ट्रीय भा
में भी क्रियाशील बने रहते हैं। स्वदेश-संगीत और झंकार के
हमें उनके गीतों के दर्शन साकेत और यशोधरा में भी होते हैं।
में उर्मिला के गीत और 'यशोधरा' में यशोधरा के गीत हृदय के
चित्र उपस्थित करते हैं। उनमें भावों का वेग अपने प्रकृत रू
हुआ है। उर्मिला के गीतों में विरहिणी के क्षणिक उन्माद और
विषाद और हर्ष का आरोह अवरोह हुआ है। यशोधरा के
करुणा और मार्मिकता के अनूठे भाव हैं। विरह-सम्बन्धी गीतों
रिक्त उनका निम्न क्रांतिकारी गीत देखिए :—

आ, जगत्प्राण उठ, जाग-जाग, धँस भीतर धधका एक
इस वेणु रन्ध्र से निकल पड़े, नवजीवन का प्रज्वलित

गुप्त जी के गीति-काव्य का अन्तरंग व्यक्तिगत साधना पर
है। कोरी कल्पना के गीत वह नहीं गाते। वह अपनी तरह गा
सकते। उन्होंने अपनी गीति-काव्य की सामग्री न तो ईश्वर-प्रे
है और न विश्व-प्रेम से। देश प्रेम अथवा हिन्दू समाज की
परिस्थितियों से अनुप्राणित होने पर भी उन्होंने स्पर्श कर दि

रचना नहीं की है। प्रसंगानुकूल ही उन्होंने अपने गीतों की रचना की है। इसीलिए उनके गीतों में आवश्यकता से अधिक प्रसार आ गया है। इस प्रसार के कारण भाव, भाषा में, सूत की पूनी की भाँति खिंचकर कभी-कभी असंगत हो जाते हैं। इससे गीत का माधुर्य जाता रहता है। पर इस दोष के होते हुए भी उनके गीतों में नवीन आकर्षण, वियोगिनी की विरह-व्यथित वेदना का संचार, गहरी अनुभूति और भावावेश के कोमल व्यापारों की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना पर्याप्त है।

हम यह बता चुके हैं कि गुप्त जी प्रबन्ध-काव्यकार हैं। उनकी प्रायः समस्त रचनाएँ किसी-न-किसी युग की कहानी पर आश्रित हैं। परन्तु प्रबन्ध-काव्य में कथा-वस्तु का आधार मिल जाना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है उस आधार का कवि-द्वारा कलात्मक ढंग से प्रयोग किये जाने में।

गुप्त जी के काव्य में चरित्र चित्रण

प्रबन्ध-काव्य में कथा को काव्य के लिए आलम्बन बना देना पड़ता है और इस उद्देश्य की पूर्ति होती है चरित्र-चित्रण द्वारा। अपने प्रबन्ध-काव्य में वही कवि सफल होता है जो अपने चरित्र-चित्रण द्वारा हमारी भावनाओं को आन्दोलित और अनुप्राणित करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। प्रबन्ध-काव्यों में चार साधनों द्वारा मानव-चरित्र अंकित किया जाता है—१. पात्र का कार्य-व्यापार, २. उसके सम्बन्ध में दूसरों की उक्ति, ३. उसका अपना भाषण और ४. कवि की उक्ति। इस दृष्टि से जब हम गुप्त जी के चरित्र-चित्रण का मूल्यांकन करते हैं तब हम उनमें इन चारों साधनों का सम्यक् उपयोग पाते हैं। गुप्त जी के पात्र तीन प्रकार के हैं—१. देव, २. दानव, और ३. मानव। देव-चरित्रों में राम और कृष्ण, दानव-चरित्रों में सूर्पणखा और मेघनाद तथा मानव-चरित्रों में लक्ष्मण, भरत, यशोधरा आदि के चित्र मिलते हैं। स्वभाव तथा कार्य-कलाप की दृष्टि से यही चरित्र दो प्रकार के हो सकते हैं—१. उत्कृष्ट और २. निकृष्ट। गुप्त जी ने दोनों का चरित्र-चित्रण बड़ी

सुन्दरता से किया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के भक्त होने के उनकी मर्यादा-भावना ने सभी पात्रों पर एक प्रकार का नियंत्रण है। उन्होंने पात्र-विशेष की वह व्यक्तिगत भावना और उसकी दृष्टि को इतना प्रबल नहीं होने दिया है कि अमर्यादित होकर को गम्भीरता को नष्ट कर दे। दूसरी बात, जो उनके चरित्र पर प्र डालती है, वह है कि उन्होंने राम के ईश्वरत्व को तो स्वीकार है, पर उनके पारिवारिक व्यक्तियों को साधारण मनुष्य के रूप में अङ्कित किया है। 'साकेत' के जिन पात्रों में हमें सद्गुणों की प्र दिखाई देती है वे भी इसी पार्थिव जगत् के हमारे-जैसे प्राणी हैं उनके लिए सुख-दुःख, हर्ष-शोक, निन्दा-प्रशंसा, गुण-अवगुण, मिलन का वही मूल्य है जो हमारे लिए है। गुप्त जी के पात्रों सम्बन्ध में तीसरी उल्लेखनीय बात है उन पर सामयिक और समस्याओं का प्रभाव। अनघ के पश्चात् उन्होंने जितने पात्रों अपने प्रबन्ध-काव्यों में स्थान दिया है उन सब पर किसी-न-किसी में समय का प्रभाव पड़ा है। राम-वन-गमन के समय अयोध्या का विनम्र सत्याग्रह और माता सीता का कोल-भील-बालाओं को चलाने और कातने और बुनने का उपदेश देना किसी सीमा तक स्वा होते हुए भी आधुनिकता के प्रभाव से रहित नहीं कहा जा सकता। प्रकार अनघ में हमें मघ के रूप में विश्व-वन्द्य बापू का दिव्य दर्शन होता है। नव-जागरण के इस युग में हमारी देवियों ने जागकर लोक-रं जिस पावन आदर्श में अपने सुख-सुहाग को एक कर दिया है उसकी हमें मघ की भावी पत्नी सुरभि में मिलती है। राज-कोप का भाजन जब मघ सुरभि को सुखी रहने का आशीर्वाद देता है तब कहती है :—

> विश्व वेदना विकल करे मुझको सदा,
> रक्खे सजग-सजीव आर्ति या आपदा।

मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो,
जीवन ज्वलित-कृशानु-समान पुनीत हो।

नारी-हृदय से प्रसूत इन पुनीत भावों में वर्तमान युग बोलता हुआ सुनाई पड़ता है। गुप्त जी का यही स्वर उनके कई प्रबन्ध काव्यों में अङ्कित हुआ है। प्राचीन चरित्रों को वर्तमान युग के निकट लाने में उनका एक उद्देश्य है। अपने प्राचीन आख्यानों-द्वारा वह अपने काव्यों में जिन चरित्रों की अवतारणा करते हैं उसका सामञ्जस्य वह वर्तमान जीवन के अनुरूप इसलिए करते हैं कि हम उन्हें पौराणिक युगों की ही गाथा न मानकर आज भी ग्रहण कर सकें। यही कारण है कि उनके काव्यगत प्राचीन आख्यानों में हमें वर्तमान युग की ताजी दैशिक और सामाजिक समस्याएँ देखने को मिल जाती हैं।

गुप्त जी के चरित्र-चित्रण की चौथी विशेषता है उनकी मौलिकता। दैशिक और सामाजिक जीवन की भावनाओं का प्राचीन युग के वातावरण में साँस लेने वाले पात्रों की भावधारा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये उन्होंने कथानकों में जो उलट-फेर कर दिया है, उससे उनके पात्रों में नवीनता आ गई है और साथ ही उन मूक पात्रों को वाणी मिल गई है जो अब तक उपेक्षित रहे हैं। इस कथन से हमारा तात्पर्य उर्मिला और यशोधरा से है। उर्मिला और यशोधरा गुप्त जी के हाथों में पड़कर माता सीता की अपेक्षा अधिक उज्वल रूप में हमारे सामने आई हैं। इसी प्रकार चिरलाञ्छिता कैकेयी से साकेत की कैकेयी की तुलना हो सकती है। साकेत की कैकेयी में जो आत्मसम्मान, आत्म-गौरव और स्वाभिमान है वह रामचरितमानस की कैकेयी में हमें नहीं मिलता। कैकेयी को साकेतकार ने मानवी सहानुभूति ही नहीं प्रदान की है, अपितु उस राजरानी का गौरवपूर्ण मस्तक कहीं भी अवनत नहीं होने दिया है; न अयोध्या के राजप्रासाद में, न चित्रकूट की भरी सभा में। जब अपराध करने में ही उसका मस्तक नीचे नहीं झुका तब उसके

प्रायश्चित्त में ही यह प्रश्न नीचे झुकेगा। इस प्रकार साकेतकार ने कैकेयी के राजमातृत्व की पूरी रक्षा की है।

गुप्त जी के पात्रों की पाँचवीं विशेषता है उनका दुःख में हँसते रहना। अपने पात्रों में इस प्रवृत्ति का आरोप करने के कारण उन्हें अपने आख्यानों को सजाने-सँवारने और जीवन का उल्लासमय चित्र प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार की उद्भावना से उनके चरित्र-चित्रण में सजीवता आ गई है। वर्तमान युग की पीड़ित मानवता के लिए इसमें एक सन्देश भी है। इसी सन्देश के बल पर उनके सभी पात्र क्रियाशील और आशावादी हैं।

गुप्त जी के चरित्र-चित्रण की छठी विशेषता है उसकी मनोवैज्ञानिकता। वह व्यावहारिक मनोविज्ञान के शास्त्री हैं। यद्यपि विकास-हीन पात्रों में चरित्र-चित्रण की गुञ्जायश नहीं के समान होती है, तथापि उन परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उनसे भाव-शबलता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है। अपने इसी चरित्राध्ययन के बल पर उन्होंने मानव हृदय के यथार्थ अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित किया है। उनके कथोपकथन भी इसीलिए सजीव, सुव्यवस्थित और आकर्षक हैं। कथोपकथन की समीचीनता के लिये उन्होंने वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्द-वृत्ति तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। सारांश यह कि गुप्त जी कथा और चरित्र की प्राचीन रूप-रेखा को स्वाभाविकता और औचित्य की कसौटी पर कसने के पश्चात् कुशल कलाकार की भाँति चरित्र-चित्रण के उन समस्त सुलभ उपकरणों और साधनों का प्रयोग करने में समर्थ रहे हैं, जिनकी उन्हें अवसरानुकूल आवश्यकता पड़ी है। इसलिए उनके चरित्र-चित्रण में हम मानव-हृदय की उल्लासमयी भावनाओं और उदात्त प्रवृत्तियों का परिचय पाते हैं और उन पर मुग्ध हो जाते हैं। गुप्त जी चरित्र-चित्रण के श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी है और मानव-स्वभाव-सम्बन्धी उनका अध्ययन

अत्यन्त गम्भीर है। इसलिए चरित्र की बारीकियों का महत्त्व वह भली-भाँति समझते हैं और बड़ी सावधानी से उनका चित्रण करते हैं। वह अपने चरित्र-चित्रण में अवसर, पात्र और देश-काल का बराबर ध्यान रखते हैं। चरित्र-चित्रण में उनकी सफलता का यही रहस्य है।

गुप्त जी के प्रबन्ध-काव्यों में मानव-प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ प्रकृति का चित्रण भी मिलता है; पर उनके प्रकृति-चित्रण में वह बात नहीं आने पाई है जो उनके मानव चरित्र-चित्रण में देखने को मिलती है। उनका प्रकृति के प्रति अधिक अनुराग नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि एक दर्शक के रूप में कवि-परम्परा पालन करने के लिए उन्होंने प्रकृति का चित्रण किया है। पञ्चवटी में कुछ स्थल अच्छे बन पड़े हैं, पर सर्वत्र वही सफलता नहीं मिली है। गुप्त जी के प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में एक बात अवश्य है और वह है प्रकृति का उल्लासपूर्ण वर्णन। उनकी प्रकृति हँसती हुई, सर्वदा प्रफुल्ल, आनन्दमग्ना है। उनके काव्यों में सर्वत्र प्रकृति का यही रूप मिलेगा। उनके पूर्वकाल के काव्यों में प्रकृति-चित्रण का सर्वथा अभाव है। अनघ के पश्चात् उनके काव्य-विकास में जो मोड़ आया, उसने उन्हें प्रकृति-चित्रण की ओर भी उन्मुख किया। इसलिए पञ्चवटी से आज तक की रचनाओं में हम उनका प्रकृति-प्रेम जीवित पाते हैं। उन्होंने अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में प्रकृति का चित्रण निम्नलिखित प्रणालियों के अनुसार किया है :—

गुप्त जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण

१. **चित्रात्मक प्रणाली**—इस प्रणाली के अनुसार कवि प्रकृति के बाह्य रूप का विस्तृत विवरण के साथ अङ्कन करते हैं। इस कार्य में उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति बहुत सहायक होती है। इस प्रकार का एक चित्र देखिए :—

> चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
> स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर-तल में॥

यहाँ प्रकृति ने कवि के लिए एक चित्रपटी बना दी है और कथानक के लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी है। गुप्त जी के काव्य में ऐसे दृश्य-चित्रण बहुत हैं। ऐसे दृश्य-चित्रों को सुन्दर और पुष्ट बनाने के लिए और उन्हें गतियुक्त कर देने के लिए उनमें मानवीय भावनाओं का भी आरोप कर दिया जाता है। इसलिए प्रकृति मानवीय व्यापारों से युक्त, प्रमोद एवं आनन्द में विभोर और स्निग्ध तथा गतियुक्त उपस्थित होती है। उसमें कोई चेतना नहीं होती, आकांक्षा नहीं होती, मानवी क्रियाओं और व्यापारों से युक्त होने पर भी वह स्थिर है। उसका उद्देश्य है आगे की कथा की भूमिका प्रस्तुत करना। इस दृष्टि से गुप्तजी अपनी शैली में सफल हैं।

२. संवेदनात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत कवि प्रकृति का विवरण के साथ वर्णन नहीं करते। वह अधिकार प्रकृति के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत-मात्र करते हैं। उनके प्रकृति-सम्बन्धी उद्गार सदैव व्यक्तिगत होते हैं। उनकी भावुकता ही मस्तिष्क और हृदय को अनुप्राणित करती है। संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के नाना रूपों को अपने रंग में रँग देती है और भावावेश में कवि को प्रकृति के रूप में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत गुप्तजी की प्रकृति का एक चित्र देखिए :—

> पेड़ों ने पत्ते तक उनका त्याग देखकर, त्यागे।
> मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे॥

प्रकृति के ऐसे संवेदनात्मक चित्र पंचवटी, यशोधरा और साकेत में बहुत मिलते हैं। इनका अद्भुत दर्शन और वर्णन के अनुसार ही हुआ है। पंचवटी में राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की शान्त धारा में प्रकृति का प्रतिबिम्ब भी शान्त और सुन्दर है। इस प्रकार ऐसे चित्रों में प्रकृति और पुरुष के बीच सामञ्जस्य का भाव है। प्रकृति पुरुष पर रीझती

है और पुरुष प्रकृति पर। सीता पौधों में पानी देती है और पौधे उस पर पुष्प-वर्षा करते हैं। प्रकृति और पुरुष की यह एकात्मता कवि की सहृदयता की परिचायक है।

३. अलङ्कारात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अनुसार कवि उपमा और रूपक का सहारा लेकर प्रकृति के चित्र उतारता है। इन उपमाओं की योजना प्रभाव-साम्य के आधार पर होती है। अतः इनसे कथानक के प्रसङ्गों का प्रभाव बढ़ जाता है। गुप्तजी का अलङ्कारात्मक प्रकृति-चित्रण इन पंक्तियों में देखिए :—

रत्नाभरण भरे अङ्गों में ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ-सौ जुगुनू जगमग करते थे॥

इन अन्तिम पंक्तियों में शरीर और आभूषणों के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके एकान्वितमय सौंदर्य को हृदयङ्गम कराने के लिए प्रकृति का एक सुन्दर दृश्य उपस्थित कर दिया गया है। इसमें वस्तु-स्थिति का परिमार्जन होकर प्रकृति के सुन्दर उदाहरण के साथ प्रभाव बढ़ जाता है और वह मानव-मस्तिष्क और हृदय पर उसका चित्र स्थायी कर देता है। ऐसे वर्णन गुप्त जी की रचनाओं में बहुत मिलते हैं। इनमें उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है।

४. उपदेशात्मक प्रणाली—प्रकृति-चित्रण में कवि इस प्रणाली का उपयोग उस समय करते हैं जब उन्हें प्रकृति द्वारा कोई शिक्षा देनी अभीष्ट होती है। अतः प्रकृति उपदेश के रूप में हमारे सामने आती है। उसके इस रूप में विशेष आकर्षण नहीं होता। गुप्त जी ने इस प्रणाली का प्रयोग किया है। अन्योक्ति के रूप में 'खार पारावार' का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

छोड़ मर्यादा न अपनी धीर धीरज धार,
क्षुब्ध पारावार मेरे खार पारावार।

गुप्त जी अँगरेजी कवि वर्ड्स वर्थ के समान प्रकृति के अनन्य उपासक नहीं हैं। प्रकृति-चित्रण में उन्हें अन्तस् से प्रेरणा नहीं मिली है। इसलिए उन्होंने प्रसाद, पंत और निराला आदि की भाँति स्वतन्त्र रूप से प्रकृति की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत नहीं की हैं। वह इतिवृत्तात्मक हैं। घटना-प्रसंगों के निर्वाह और उनकी उद्देश्यपूर्ति के लिए जब जैसे प्राकृतिक चित्रों की आवश्यकता पड़ी है तब तैसे चित्र उन्होंने उतारे हैं और सफलता-पूर्वक उतारे हैं। उनके प्राकृतिक-चित्रण में स्वाभाविक कोमलता और उदारता है। कोमलता उनकी भारतीय प्रवृत्ति है। इसीलिए प्रकृति में उसी का विशेष प्रवाह है। साकेत में परम्परापालन के लिए उन्होंने षट्-ऋतुओं का भी वर्णन किया है।

गुप्तजी के काव्य में रूप चित्रण

गुप्त जी का रूप-वर्णन अत्यन्त सुन्दर होता है। प्राचीन काव्य-परम्परा के अनुसार नख-शिख का वर्णन न करके उन्होंने शरीर-व्यापारों के भावानुकूल बड़े सुन्दर और सजीव चित्र उतारे हैं। ऐसे चित्रों की अवतारणा में कवि ने अलंकारों का इतना प्रयोग नहीं किया, जितना वस्तु व्यंजना का। वस्तु-व्यंजना की दृष्टि से भी उन चित्रों में कोई अलौकिक ऊहात्मक कल्पना नहीं, केवल अभिव्यंजक विलक्षण शब्दों का चयन विशेष है। शब्दों की सहायता से कितना और कितनी सरलतापूर्वक व्यंजना का काम लिया गया है, इन पंक्तियों में देखिए :—

तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर बायें देख, अजिर में उनकी ओर,
शीश झुकाकर चली गई वह मन्दिर में निज हृदय हिलोर।

ऐसे गतिमय चित्रों के अङ्कन में कवि तभी सफल हो सकता है जब पैनी, व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के साथ उसको अपनी भाषा और कल्पना-शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो। गुप्त जी इन गुणों से परिपूर्ण हैं। वह अपनी भाषा और कल्पना-शक्ति से अपने रूप चित्रण में एक

ही साथ बहुत सी गतियों की अवतारणा कर देते हैं। उनके रूप चित्र एक ही भाव के व्यंजक नहीं, कई भावों के व्यंजक होते हैं। एक चित्र में अनेक चित्रों की आयोजना कर देना उनकी काव्य-कला की विशेषता है। ऐसे चित्र पञ्चवटी, साकेत, यशोधरा और सिद्धराज में बहुत मिलते हैं।

मनुष्यों की मुद्राओं के सूक्ष्म चित्रण में भी गुप्तजी की तूलिका ने अपना कौशल दिखाया है। विचारमग्न होने पर मनुष्य एक विशेष प्रकार की मुद्रा बना लेता है। अतः उसके अन्तस् के भीतर उठते हुए भावों का पता लगाने के लिए इन मुद्राओं का अध्ययन और निरीक्षण आवश्यक है। कुशल कवि इन मुद्राओं का अङ्कन भावों के स्पष्टीकरण के लिए ही करता है। साकेत में इस प्रकार के उदाहरण बहुत मिलते हैं। देखिए :—

झुकाकर सिर प्रथम, फिर टक लगाकर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

× × ×

पकड़कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर करके,
कहा गत-धैर्य होकर भूपवर ने—
चली है देख तू क्या आज करने।

अब तक हमने गुप्त जी के दो प्रकार के चित्र प्रस्तुत किये हैं—गतिमय और स्थिर। गतिमय चित्रों के अङ्कन में स्थान और काल का ध्यान रखना आवश्यक होता है, पर स्थिर चित्रों में केवल स्थान का। गतिमय चित्रों की अवतारणा में कवि को भाव, मुद्रा, गति आदि को सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए कुशल कवि ही गतिमय चित्र उतार सकते हैं। गुप्तजी इस कला में प्रवीण हैं।

हम बता चुके हैं कि गुप्त जी अपने समाज और राष्ट्र के कवि
समाज और राष्ट्र का कल्याण ही उनके काव्य का उद्देश्य है।

गुप्त-काव्य में राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवृत्तियाँ

दृष्टि से वह एक ही साथ हमारे कवि और नेता
एक नेता अपने ओजस्वी भाषण से जितना
जनता में फूँक सकता है, गुप्त जी के काव्य ने
कहीं अधिक काम किया है। इसीलिए हम
आधुनिक युग का प्रतिनिधि कवि कहते हैं।
समस्त कृतियों पर वर्तमान युग की प्रवृत्तियों
स्पष्ट छाप है। वह आजकल के समाज और
की आवश्यकताओं तथा विशेषताओं से पूर्णतया
चित और प्रभावित हैं। 'रंग में भंग' से उनकी आज तक की समस्त
नाओं का ध्येय उनके जीवन के ध्येय की भाँति, अपने समाज, राष्ट्र
जगत् का कल्याण करना है। वह मानवतावादी हैं। मानव के क
में ही उन्होंने अपने समाज के, अपने राष्ट्र के, कल्याण की उद्भ
की है। वह एक ओर रामोपासक है, तो दूसरी ओर बौद्ध, जैन, शैव,
इस्लाम आदि विश्वधर्मों के प्रति अत्यन्त उदार; वह एक ओर हिन्दू हैं,
दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के समर्थक और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के
क्षमाशील; वह एक ओर कट्टर सनातनी हैं, तो दूसरी ओर अछूतों को
और विधवाओं के साथ आँसू बहाने में समान रूप से संलग्न।
आधुनिक युग की तीन बातों से विशेष प्रभावित हैं, अतः उनके साहि
हम आगे लिखी तीन बातें पाते हैं :—

१. सामाजिक प्रवृत्तियाँ—गुप्त जी हिन्दू हैं, रामोपासक
अपनी संस्कृति और सभ्यता से उन्हें प्रेम है। आर्य-संस्कृति के वह
उपासक हैं। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने चार रूपों में किया है—१.
संस्कृति, २. कृष्ण-संस्कृति, ३. बुद्ध संस्कृति और ४. राजपूत-संस्
यही संस्कृतियाँ उनकी वर्तमान सामाजिक समस्याओं की आधार-शि
हैं। राम-संस्कृति से मर्यादावाद, कृष्ण-संस्कृति से कर्मवाद, बुद्ध-सं

से अहिंसावाद और राजपूत-संस्कृति से राष्ट्रवाद; इन्हीं चारों वादों की भित्ति पर उनके वर्तमान, समाजवाद का प्रासाद खड़ा है। वह अपने समाज में छोटे-बड़े का, ऊँच-नीच का भेद राम-संस्कृति की मर्यादा के भीतर ही स्वीकार करते हैं। अछूतोद्धार के प्रति उनकी सहानुभूति है। वह कहते हैं:—

> इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी।
> इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

हिन्दू-समाज की आधुनिक समस्याओं को लेकर उन्होंने 'हिन्दू' की रचना की है। इसमें देवता की स्तुति, स्त्रियों के प्रति कर्त्तव्य, सतीत्व, विधवाओं की करुण गाथा, ग्राम-सुधार-योजना, जाति-बहिष्कार, अछूतोद्धार, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य आदि पर उनके गम्भीर और सुव्यवस्थित विचार हैं। विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए वह कहते हैं।

> तुम बूढ़े भी विषयासक्त, धनी रहें वे किन्तु विरक्त
> वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र?
> आप बनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास।

सामाजिक भावना से भरे हुए ऐसे विचार गुप्तजी की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। वह अपने इन विचारों में जहाँ नवीन हैं, वहाँ प्राचीन भी हैं। वह प्रत्येक योजना को, प्रत्येक सुधार को, हिन्दू-मर्यादा के भीतर ही स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि उनकी संस्कृति और उनकी सभ्यता विश्व की संस्कृति और सभ्यता का नेतृत्व करे।

२. राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ—गुप्तजी की समस्त रचनाएँ राष्ट्रीय विचारों से ओत प्रोत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में ही व्यतीत होता है। अपने राष्ट्रीय क्षेत्र में वह गांधी जी के सार्वभौम सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित

साहित्य-साधना में मिलती है। भावुकता को अपनाने की होड़ में वह बह नहीं जाते। वह सोचते हैं, विचार करते हैं और तब अपनी संस्कृति की चलनी से छानकर उसे अपने अनुकूल बनाते हैं। उनकी कृतियों में नवीन कल्पनाएँ हैं, नवीन भाव हैं, नवीन आदर्श हैं, नवीन छन्द और शैलियाँ हैं। पर उन पर उनके व्यक्तित्व की, उनकी संस्कृति और सभ्यता की स्पष्ट छाप अंकित है। साम्यवादी वह हैं, मर्यादावादी वह हैं, मानवतावादी वह हैं, उपयोगितावादी वह हैं, रहस्यवादी वह हैं और छायावादी वह हैं; पर उनके प्रत्येक वाद पर उनका अधिकार है, वह उनकी सम्पत्ति है। अपनी प्रतिभा से उन्होंने प्रत्येक वाद को पचा लिया है, अपना बना लिया है और वह अपने साहित्य के, अपने युग के प्रतिनिधि बने हुए हैं।

गुप्त जी की अलंकार-योजना

यहाँ तक हमने गुप्त जी के भाव-पक्ष पर विचार किया है। अब हम उनके कला-पक्ष पर विचार करेंगे। पहले उनकी अलंकार-योजना को लीजिए। अलंकार दो प्रकार के होते हैं—१. शब्दालङ्कार और २. अर्थालङ्कार। शब्दालङ्कार भाषा का गौरव बढ़ाने में और अर्थालङ्कार अर्थ का—भाव का गौरव बढ़ाने में सहायक होते हैं। गुप्तजी ने इन दोनों अलङ्कारों का बड़ी सुन्दरता से प्रयोग किया है। जहाँ उन्होंने अपनी भाषा को सजाने के लिये अलंकारों का प्रयोग किया है वहाँ अलंकार प्रधान हो गये हैं और भाव गौण। इससे उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं बाधा पड़ी है। ऐसे स्थानों पर अलंकारों की स्वाभाविकता नष्ट हो गई है, उनमें कृत्रिमता आ गई है। गुप्तजी अनुप्रास प्रिय भी हैं। छेक और वृत्त्यनुप्रास का प्रयोग उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक किया है। देखिए :—

किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी,
है तुम्हारे पाद-पद्मों पर पड़ी।

अर्थालंकार की दृष्टि से गुप्तजी ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, सन्देह, विषम विशेषोक्ति अलंकारों का अच्छा प्रयोग किया है। अनुभूति का वेग प्रबल होने पर उन्हें अलंकारों की आवश्यकता नहीं पड़ी है। ऐसे स्थलों पर उनके भाव इतने स्पष्ट, तीव्र और कोमल हो गये हैं कि उनके स्वाभाविक प्रवाह में अलंकारों के होने पर भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई है। पर जहाँ उनकी अनुभूति में शिथिलता आ गई है वहाँ उन्होंने अपनी भाषा द्वारा भावाभिव्यक्ति को गति प्रदान की है। वर्तमान युग भाव-चित्रण का युग है, अलंकार-प्रदर्शन का नहीं। गुप्तजी ने दोनों का सामंजस्य अपने काव्य में किया है। उनके काव्य में कहीं अलंकार हैं और कहीं नहीं भी हैं। जहाँ हैं, वहाँ सर्वत्र कृत्रिमता और प्रयास ही नहीं, स्वाभाविकता भी है। कहीं-कहीं कल्पना की नूतनता अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। सारांश यह कि गुप्तजी अपनी अलंकार योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं। उनकी अलंकार-योजना में अनुप्रास की रुनझुन, श्लेष का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव कहीं भी मिल सकता है।

गुप्त जी की रस-योजना

गुप्त-साहित्य में रसों का बड़ा सुन्दर आयोजन हुआ है। उसमें शृंगार, करुण, वीर, रौद्र, वीभत्स, हास्य, शान्त, वात्सल्य आदि मुख्य हैं। शृंगार के—संयोग और वियोग—दोनों पक्षों का वर्णन गुप्तजी ने किया है और दोनों में उन्हें पूर्ण रूप से सफलता मिली है। साकेत, यशोधरा, पञ्चवटी आदि रचनाओं में शृंगार, करुण, शान्त, वात्सल्य तथा वीर रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। रंग में भंग, जयद्रथ-वध, वन-वैभव आदि वीर-रसपूर्ण रचनाएँ हैं। संयोग शृंगार के चित्र पञ्चवटी और साकेत में मिलते हैं। साकेत के अष्टम सर्ग के आरम्भ में राम-सीता के वन्य जीवन के संयोग-पक्ष का एक दृश्य दिखाया गया है जिसमें विनोदपूर्ण एकान्त वार्तालाप दोनों को रसमय कर देता है। गुप्तजी मर्यादावादी हैं, अतः राम और

सीता के सम्बन्ध में ही नहीं, उनका भी प्रेम-चर्चा करते
बड़े संयम से काम लिया है। लक्ष्मण और उर्मिला के
उन्होंने स्वतन्त्रता से अवश्य काम लिया है। वस्तुतः 'साकेत'
और उर्मिला उसकी नायिका। अपने इन रूपों में प्रतिष्ठित होने
ही दोनों अपने प्रेम-व्यापारों में अपेक्षाकृत स्वतंत्र हैं। प्रथ
और शीघ्र वर्णनों से दोनों अपने उल्लसित और आवेगपूर्ण
परिचय देते और जी भरकर दाम्पत्य सुख लूटते हैं।

वियोग शृंगार का वर्णन 'साकेत' और 'यशोधरा' में अत्य
है। गुप्तजी की काव्यात्मा शृंगार के इस पक्ष के अंकन में इतन
हो गई है कि उसने मानव-हृदय की सारी कोमलता और सरसता
दी है। उर्मिला और यशोधरा विरह की मूर्तियाँ हैं। विरह ने
चरित्र को, उनकी भावनाओं और कल्पनाओं को बहुत ऊँचा उठाया
वह है भी ऐसा ही। वह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। वियोग-वेदना की
में तपकर प्रेम की मलिनता जल जाती है और फिर वह अपने शुद्ध
में शेष रह जाता है। विरह में मिलन से अधिक गांभीर्य और स्थिरत
होती है और प्रतीक्षा अथवा अतृप्ति की उत्सुकता के कारण रसानुभूति
की मात्रा अधिक रहती है। कवि-समाज इसीलिए उसे अपनाता है।
जो कवि विरह की टीस का जितना अधिक अनुभव किये रहता है वह
कवि उसके वर्णन में उतना ही अधिक सफल होता है। हमारे साहित्य में
जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द, हरिऔध आदि विरह के कुशल गायक हो
गये हैं। इन्हीं कवियों की सूची में गुप्तजी को भी स्थान मिला है।
उनका वियोग-शृंगार-वर्णन मर्यादानुकूल है। अपने वर्णन को प्रभाव-
शाली और स्थायी बनाने के लिए वह पहले भूमिका बनाते हैं, फिर
विरह का चित्रण करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रीय और साहित्यिक दृष्टि से
गुप्तजी अपने वियोग-वर्णन में सफल हैं। उनके वियोग-वर्णन में
स्वाभाविक छटपटाहट है, टीस है

उसमें तन्मयता भी आ गई है। उन्होंने वियुक्त प्रेम की विविध दशाओं का ऐसा मार्मिक उद्घाटन किया है कि मानव हृदय उसमें सराबोर हो जाता है। उन्होंने प्रेम की वियोगावस्था में स्थित नारी की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, संलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि और मृत्यु का जो सुन्दर चित्र उतारा है वह स्वाभाविक तो है ही, काव्य-कला की दृष्टि से पूर्ण है।

गुप्त जी ने करुण रस का विधान भी 'यशोधरा' और 'साकेत' में किया है। साकेत में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति करुण-रस के स्थल हैं। इसका स्थायी भाव है शोक। गुप्तजी ने वियोग-शृङ्गार की भाँति इस रस को भी महत्त्व दिया है और उसका अच्छा चित्रण किया है। माता के रूप में यशोधरा के हृदय से जो भाव प्रसूत हुए हैं उनसे वात्सल्य छलका पड़ता है। वीर-रस तो उनकी ऐतिहासिक एवं राष्ट्रीय रचनाओं का प्राण है, 'रंग में भंग' से पंचवटी तक वीर-रस और पंचवटी से द्वापर तक शृङ्गार-रस का विधान उनकी रचनाओं में है। रौद्र, वीभत्स आदि अप्रधान रूप में हैं। वृद्धावस्था के प्रभाव से अब गुप्त जी शान्त-रस की ओर झुके हैं। विकास की दृष्टि से यही स्वाभाविक है।

गुप्त जी ने जितने प्रकार के छोटे-बड़े छन्द लिखे हैं, खड़ी-बोली की वर्तमान कविता में कदाचित् उतने किसी ने भी नहीं लिखे। उनका पिंगल-ज्ञान अत्यन्त विस्तृत है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। इसके साथ ही उनकी विशेषता है अन्त्यानुप्रासों पर उनका सुन्दर अधिकार। परन्तु जहाँ वह अपनी कविताओं की पंक्तियों में बड़े स्वच्छ अन्त्यानुप्रासों की सृष्टि करते हैं, वहाँ तुकों की अति-सी भी कर देते हैं। तुक मिलाने में वह अद्वितीय हैं।

गुप्त जी की छन्द-योजना

उनके छन्द तीन प्रकार के हैं—१. तुकान्त, २. अतुकान्त, और ३. गीति। वह अपने इन तीनों प्रकार की छन्द-योजना में सफल हैं।

विषय और प्रसंग के अनुसार उनकी छन्द-योजना उनके पिंगल-
परिचायक है। काव्य-साहित्य की दृष्टि से उनकी छन्द-योजना के
रूप हैं—१. महाकाव्य में छन्द-योजना, २. खंड-काव्य में छन्द-यो
और ३. गीति-काव्य में छन्द-योजना। 'साकेत' उनका महाकाव्य है। म
काव्य के लक्षणों के अनुसार एक सर्ग में एक ही छन्द रखने और अ
में छन्द-परिवर्तन कर देने का आदेश दिया गया है। गुप्तजी ने इस
नियम का पालन किया है। दो सर्गों को छोड़कर 'साकेत' का प्रत्येक सर्ग
एक ही छन्द में लिखा गया है और उसके अन्त में छन्द बदल गया है।
अन्त में कहीं दो और कहीं दो से अधिक भिन्न छन्द मिलते हैं। ये सभी
छन्द सर्ग के समाप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। इनसे एक उपा-
ख्यान का अन्त होता है और दूसरे का संकेत मिलता है। दूसरी बात जो
उनके महाकाव्य की छन्द-योजना के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है, वह है अनेक
छन्दों का सफल प्रयोग। उन्होंने पीयूष-वर्षण छन्द से 'साकेत' का आरंभ
किया है। शृंगार का यह मुख्य छन्द है। इसके अतिरिक्त पदपादा-
कुलक उपभेदों सहित, आर्या, गीति, आर्यागीति, शार्दूलविक्रीड़ित,
शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वियोगिनी राधिका, त्रैलोक्य आदि
सुन्दर संस्कृत-छन्द और दोहा, घनाक्षरी, सवैया, रोला, छप्पय आदि
उन्होंने प्रयुक्त किये हैं। विरह-कोमल भावनाओं के लिए गीतों का
... हुआ है। इतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग करना उतना कठिन
... है जितना कि उनको प्रसंग के अनुसार प्रयोग करना। उनके छन्द
... हिन्दी-छन्द प्रसंगानुसार हैं और उपयुक्त हैं। उनमें न तो गति-
... और न यति-भंग। सब में अस्त्र प्रवाह है। उनके छन्द ...
...क परिधान के रूप में आये हैं।

...ड-काव्यों में उनकी छन्द-योजना भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक खण्ड
... ही हिन्दी-छन्द में लिखा गया है। 'झंकार' में उनके गीतों
...। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी छन्द-योजना, मूल
... कवियों की छन्द-योजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत ...

प्रसंगानुकूल है। पर विभिन्न छन्दों के सफल प्रयोक्ता होने पर भी उन योजना में निम्न दोष हैं :—

१. उनके छोटे-छोटे छन्दों में करुण-रस का परिपाक स्वाभाविक री नहीं हो पाता। ऐसे छन्द कथा की गति में भी बाधक हुए हैं। अपनी चपलता प्रदर्शित करते हुए वे कभी आगे बढ़ जाते हैं और कभी पीछे रह जाते हैं। भाव गांभीर्य वहन करने में भी वह असमर्थ-से हैं।

२. 'साकेत' के नवम् सर्ग में विरहिणी उर्मिला की मानसिक दृष्टि से छन्द-परिवर्तन उचित हो सकता है, पर महाकाव्य की परम्परा की दृष्टि से वह उचित नहीं है। छन्द-परिवर्तन से कथा-प्रवाह में बाधा पड़ी है और साकेत विभिन्न छन्दों का संग्रह-सा प्रतीत होने लगा है।

३. गुप्त जी छन्दों के ज्ञाता तो हैं, पर उनकी कला से वह अधिक परिचित नहीं है। छन्दों की एक-स्वरता को दूर करने के लिए उन्होंने दूसरा छन्द रख दिया है, पर पन्त की भाँति उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया है। इसीलिए उनकी छन्द-योजना में नवीनता कम, प्राचीनता अधिक है।

गुप्त जी के काव्य-साहित्य के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात् अब हम उनकी शैली पर विचार करेंगे। हम यह बता चुके हैं कि गुप्त जी काव्य-क्षेत्र में १. प्रबन्धकार, २. गीतिकार और ३. नाटककार हैं। अतः हम उनकी शैली भी इन्हीं रूपों में पाते हैं—१. प्रबन्ध-शैली, २. गीति-शैली और ३. नाटक-शैली। प्रबन्ध-काव्य में कथा-वर्णन का प्राधान्य होता है। गीति-तत्व में कोमल भावना और उद्‌गीत का और नाटक-तत्व में परिस्थिति का।

गुप्त जी की शैली

पर वास्तव में इस प्रकार का वर्गीकरण अधिक सहायक नहीं होता। बात यह है कि कोई कवि इस प्रकार की सीमाएँ बाँधकर नहीं लिखने बैठता। गुप्त जी ने अपनी प्रबन्ध-शैली के अन्तर्गत शेष-दोनों शैलियों को अपनाया है; अतः हम उनकी रचना-शैली का भाव, भाषा तथा कथा-प्रवाह

की दृष्टि से वर्गीकरण करेंगे। वर्गीकरण करने पर हमें उनकी चार
शैलियाँ मिलेंगी :—

१. प्रबन्धात्मक शैली—गुप्तजी के अधिकांश काव्य इस
में हैं। 'रंग में भंग' 'जयद्रथ-वध' आदि इसी शैली में लिखे ग
यह शैली दो प्रकार की है—१. खण्ड-प्रबन्ध और २. महाक
'साकेत' महाकाव्य की शैली में है और शेष खण्ड-काव्य की शैली
इन दोनों शैलियों में गुप्त जी सफल हैं। पंचवटी उनका सबसे
सफल खण्ड-काव्य है। कथा का निर्वाह इन समस्त काव्यों की विशे
है। प्रभाव की दृष्टि से साकेत के कथानक में कुछ बाधाएँ
उपस्थित हुई हैं। उसमें मुख्य-मुख्य दृश्य चुनकर अन्वित कर दिये
गए हैं। इस प्रकार उसमें कवि का काव्य-कौशल ही अधिक है। कथा-
वर्णन के लिए कथोपकथन, दृश्य-चित्रण आदि के अतिरिक्त कुछ स्थलों
पर भाषण और स्वगत का भी प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं अनुमान का
भी सहारा लिया गया है। कथा में रोचकता, औत्सुक्य की भी यथेष्ट
मात्रा मिलती है। गुप्तजी जीवन की मार्मिक परिस्थितियों से पूर्णतः
परिचित हैं और उनका चयन बड़ी सावधानी से करते हैं। इस प्रकार
उनकी प्रबन्धात्मक शैली आने में पूर्ण है।

२. उपदेशात्मक शैली—इस शैली का उपयोग उन्होंने हिन्दू,
गुरुकुल, भारत-भारती, रंग में भंग, वक-संहार तथा जयद्रथ-वध आदि
रचनाओं में प्रमुख रूप से किया है। इन ग्रन्थों में कवि का उपदेश
सराहनीय है। प्राचीन कथाओं की भित्ति पर वर्तमान वातावरण के
अनुकूल उनके पात्रों के मुख से निकले हुए उपदेश बड़े मार्मिक, गम्भीर
अनुकरणीय हैं। यह शैली साधारण और अलंकृत दो प्रकार की
अलंकृत शैली में शब्दालंकारों की सहायता से भाषा में ओज भरा
। साधारण शैली में भाषा का स्वाभाविक रूप वर्तमान है।

गीति-नाट्य-शैली—इस शैली में गुप्त जी ने नाटकीय प्रणाली
ग्रहण किया है। कथोपकथन पद्य में हैं, शेष

इसका उदाहरण है। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'यशोधरा' भी गीति नाट्य शैली के अनुसार लिखे गये हैं; पर 'यशोधरा' के अतिरिक्त इस दिशा में गुप्त जी को विशेष सफलता नहीं मिली है।

४. गीति काव्यात्मक शैली—गुप्त जी ने आधुनिक और प्राचीन शैली के ढंग पर गीत भी लिखे हैं। 'झंकार' उनके गीतों का संग्रह है। इस संग्रह के गीतों में भावनाएँ तो संगीतमय हो उठी हैं, पर स्वाभाविक अनुभूति चित्रण की कमी है। शब्दों में भी मिठास नहीं है। उन्होंने रहस्यवाद और छायावाद की शैली में भी गीत लिखे हैं। उनके गीत दो प्रकार के होते हैं—१. साधारण और २. अलंकृत। भाषा और अलंकार की दृष्टि से वह दोनों में सफल हैं। उनके गीतों में स्वाभाविक प्रवाह है, पर विरह-गीतों को छोड़कर शेष में तन्मयता, सौंदर्यानुभूति और स्वाभाविक वेदना का अभाव-सा है।

गुप्तजी की शैली स्पष्ट, प्रभावोत्पादक, शिष्ट, संयत, गंभीर, प्रसाद, माधुर्य और ओज से परिपूर्ण होती है। उनकी शैली में भाषा की प्रांजलता वर्तमान रहती है। 'हरिऔध' की भाँति भाषा की नियमबद्धता उनकी शैली में नहीं है। वह बड़े-बड़े पद नहीं लिखते। उनकी शैली में विशेष आकर्षण है जिसके कारण वह पहचाने जा सकते हैं। सारांश यह कि गुप्त जी अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं।

गुप्त जी की भाषा

गुप्तजी की भाषा खड़ी-बोली है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उनकी भाषा में न तो वे त्रुटियाँ अधिक मात्रा में हैं जो भारतेन्दु के समसामयिक और परवर्ती कवियों की एक विशेषता रही हैं, और न दुरूहपन ही उसमें कहीं उल्लेखयोग्य मात्रा में देखा जाता है। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने-वाली उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से 'अनघ' तक की भाषा में प्रायः एकरूपता का दर्शन होता है। उसमें कहीं-कहीं तद्भव शब्द आ गये हैं; पर प्राधान्य तत्सम शब्दों का ही है। गुप्तजी की काव्य-कला का उनकी समस्त

रचनाओं में ज्यों-ज्यों विकास हुआ है, त्यों-त्यों उनमें उन
की ओर, प्रसादपूर्ण और भावानुकूल होती गई है। 'भार
की भाषा में जो कर्कशता, रूखापन और नीरसता है, व
अन्य रचनाओं में उत्तरोत्तर कम हो गयी है। पञ्चवटी तक
पहुँचते उनकी भाषा का रूप निखर आया है और उसमें अधि
अधिक प्रसाद और माधुर्य आ गया है। बात यह है कि प
तक की उनकी रचनाएँ भाषा के परिमार्जन-काल में लिखी गयी
उस समय भाषा के संस्कार में द्विवेदी जी से उन्हें बड़ी सहाय
मिली। इसलिए हम उनकी भाषा पर द्विवेदीय भाषा का अधि
प्रभाव पाते हैं, पर यह प्रभाव द्विवेदी-युग तक ही सीमित रहा
नवीन युग का आरम्भ होने पर उनकी भाषा भी नवीन हो गयी।
भाषा में दो गुण होते हैं—१. शुद्धि और २. शक्ति। शुद्धि के
लिए उसके शब्द-कोष और व्याकरण की परीक्षा करनी पड़ती है और
शक्ति के लिए उसकी पद-योजना और प्रयोग-कौशल आदि पर विचार
करना पड़ता है। इस कसौटी पर कसने से गुप्तजी की भाषा पर सर्व
प्रथम हमें दो प्रभाव दीख पड़ते हैं—१. संस्कृत का प्रभाव और २.
प्रान्तीयता का प्रभाव। खड़ीबोली के अन्य कवियों की भाँति गुप्तजी
को भी शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भाण्डार की शरण लेनी पड़ी
है। उनकी भावनाओं और विचारों का संस्कृत-साहित्य से इतना घनिष्ठ
सम्बन्ध है कि उनकी सफल व्यंजना करने के लिए संस्कृत के तत्सम
शब्द ही उपयुक्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक विकासोन्—
भाषा के लिए इस प्रकार का शब्द चयन श्रेयस्कर भी होता है
गुप्तजी की रचनाओं में संस्कृत-पदावली का प्रचुर प्रयोग इसी दृष्टि
गया है। पर 'प्रिय-प्रवास' की भाँति वह संस्कृत-बहुला नहीं है।
उन्होंने संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग प्रायः प्रभाव-वृद्धि की
दृष्टि से ही किया है, छन्दों के आग्रहवश नहीं। कुछ शब्द अभ्याव-
वश भी आ गये हैं। खड़ी बोली की ...

करने में असमर्थ सी हो गई हैं। अस्तुद, त्वेष, जिष्णु आदि ऐसे ही शब्द हैं। तुक में इनसे सहायता भले ही मिल जाय, पर भाषा के स्वाभाविक प्रवाह और लय में इनसे अधिक बाधा पहुँची है। कुछ शब्दों का उन्होंने संस्कृत व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। संस्कृत का प्रभाव उनकी पद-योजना पर भी है। उनकी भाषा में पदावली प्रायः असमस्त है, समास कम हैं और प्रायः छोटे हैं, पर कुछ स्थानों पर काफ़ी लम्बे भी हैं। शब्दों के लचर प्रयोग भी मिलते हैं, पर कम। कहीं-कहीं तद्भव और तत्सम शब्दों को जोड़कर भाषा का सौंदर्य भी बिगाड़ा गया है।

गुप्त जी की भाषा पर दूसरा प्रभाव है प्रान्तीयता का। हिन्दी में अनेक प्रान्तीय बोलियाँ हैं। उनके शब्दों का ग्रहण प्रायः वर्जित है, पर शब्द की उपयुक्तता की दृष्टि से इस नियम का सर्वथा पालन नहीं किया जाता। गुप्तजी ने ऐसे शब्दों को भी अपनाया है। भर के, भौंमना, छींटना, अफर, धड़ाम आदि ऐसे ही शब्द हैं जो उनकी भाषा में मिलते हैं। इन शब्दों के प्रयोग से कहीं कहीं भाषा को बल मिला है, पर कहीं-कहीं हानि भी हुई है। देखिए :—

कहकर हाय धड़ाम गिरी।

कुछ क्रियारूप भी प्रान्तीय हैं। कीजो, दीजो आदि में साहित्यिकता कम, पण्डिताऊपन अधिक है। उर्दू-फारसी के शब्द एकाध ही मिलते हैं और वह भी तुक के आग्रह के कारण। गुप्त जी की भाषा व्याकरण-सम्मत है। उसमें अन्वय-दोष नहीं है। वाक्य पूरे और सुलझे हुए हैं। संवादों की भाषा पर अँगरेजी शैली का कुछ प्रभाव अवश्य है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, पर कम। कहीं-कहीं उनका स्वाभाविक रूप बदल दिया गया है। इससे भाषा का सौंदर्य नष्ट हो गया है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपने प्रकृत रूप में ही साहित्य की निधि हैं और उसी रूप में उनका प्रयोग उचित है।

भाषा की शक्ति की दृष्टि से गुप्तजी की भाषा में खड़ीबोली अपनी विशेषता पूर्णतया सुरक्षित रखती है। उनकी भाषा में खराश है। तुक मिलाने में, कथोपकथन की स्पष्टता में, वाद-विवाद में, बाह्य दृश्य-चित्रण में, मानव-चरित्र-चित्रण में उनकी भाषा उनके भावों के पीछे पीछे चलती है। अनुभूति का वेग प्रबल होने पर उनकी भाषा का प्रवाह प्रशंसनीय होता है। भाव शब्दों का नैसर्गिक परिधान पहनकर उनकी लेखनी से अमृत-बिन्दु के समान चू पड़ते हैं। उन्हें अपने भावों के अनुकूल शब्द-चयन की आवश्यकता नहीं पड़ती। भाव स्वयं अपने लिए शब्द खोज लेते हैं। पर इतना होते हुए भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ की भाषा लचर, शिथिल और उखड़ी हुई है। इसके दो कारण हैं, पालिश की कमी और तुक का प्रबल आग्रह। गुप्तजी अन्य कलाकारों की भाँति अपनी भाषा पर पालिश नहीं करते, उसे 'फिनिशिंग टच' नहीं देते। देखिए :—

लेकर उच्च हृदय इतना, नहीं हिमालय भी जितना।

पालिश की कमी और तुकबन्दी के आग्रह के कारण उनकी रचनाओं में खड़ीबोली की खड़खड़ाहट बहुत है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि गुप्तजी की भाषा माधुर्य शून्य है। उनकी भाषा का माधुर्य इन पंक्तियों में देखिए :—

चकाचौंध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्य वदनी बाला॥
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा मानों छवि से छलक रही॥

इस अवतरण में शब्दावली संगीत और भाषा स्वच्छ और भावानुकूल है। गुप्तजी की भाषा की एक और विशेषता है। वह सर्वत्र भाव, पात्र, प्रसंग और स्वभाव के अनुकूल होती है। उदाहरण की भाषा में

थोथा गर्व, लक्ष्मण की वाणी में गर्मी ओज, राम की वाणी में आर्यों की मर्यादा, उर्मिला की वाणी में आर्य-वधुओं की लज्जा और शील का मार्दव, कैकेयी की वाणी में उच्छ्वास तथा स्वाभिमान और राहुल की बोली में भोलापन मिलेगा। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गुप्त जी की भाषा में हमें खड़ी बोली का अत्यन्त शिष्ट, संयुक्त और प्रौढ़ स्वरूप मिलता है।

अब तक हमने गुप्त-साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर दृष्टिपात किया और यह देखा कि वह अपने प्रत्येक क्षेत्र में कोई-न-कोई विशेषता लिये हुए हैं। अतः अब हम यहाँ उन समस्त विशेषताओं पर ही संक्षेप में विचार करेंगे जिनके कारण उनका साहित्य वर्तमान युग में हिन्दी-साहित्य की अमर सम्पत्ति समझा जाता है।

गुप्त साहित्यकी विशेषताएँ

१. गुप्त-साहित्य में मानव के लिए एक सन्देश है और यही उनके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। वह अपनी प्रत्येक रचना में सोद्देश्य हैं। 'कला कला के लिए' उनके साहित्य का लक्ष्य नहीं है। उनका साहित्य जीवन का साहित्य है, जीवन को उठाने का साहित्य है। वह मानवतावादी हैं। मानव-कल्याण की प्रेरणा ही उनके साहित्य की जननी है। समाज-सेवा और राष्ट्र-सेवा द्वारा ही वह मानव को मानव बनाना चाहते हैं। उनके मानव का आदर्श है प्रेम और त्याग। 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही' में उनका इसी ओर संकेत है। वस्तुतः मानव का त्याग अनुरागपूर्ण होना चाहिए। बलिदान के बकरे का सा त्याग जीवन को ऊँचा उठाने की अपेक्षा उसे नीचे गिरा देता है। अतः प्रेमपूर्ण त्याग और त्यागपूर्ण प्रेम ही मानव-जीवन के ऐसे दो दीपक हैं जिनके प्रकाश में यह लोक ही स्वर्गलोक हो जाता है। वास्तव में मानव का कल्याण मानवता प्राप्त करने में ही है। अतः भगवान् राम का कथन 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया'

जब तक प्रत्येक मानव का कथन नहीं होता तब तक मानवता परास्त ही रहेगी। संक्षेप में गुप्त-साहित्य का यही संदेश है।

२. गुप्त साहित्य की दूसरी विशेषता है सामाजिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का सहज समन्वयीकरण। प्रत्येक जागरूक कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। वह अपने युग की सामाजिक प्रवृत्तियों के अध्ययन के साथ-साथ तत्कालीन साहित्य-प्रवृत्तियों पर भी ध्यान रखता है और फिर दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। उसका यह सामञ्जस्य स्थापन जितना ही सबल, गम्भीर और संश्लिष्ट होता है उतना ही उच्चकोटि का उसका साहित्य होता है। गुप्तजी के कार्य-काल में हिन्दू-समाज अथवा भारतीय समाज में समाजवाद का प्रवर्तन किन किन दशाओं में हुआ, वह प्रवर्तन अपने साथ किस आदर्श और किस लोकमत को लाया, उस आदर्श और उस लोकमत में व्यक्त होने-वाले सत्य को उन्होंने काव्य के क्षेत्र में किस परिमाण में व्यक्त किया, उन्होंने समाजवाद की प्रवृत्ति का कितना बल बढ़ाया और उनकी कृतियों द्वारा व्यक्तिवाद की कितने परिमाण में शक्ति घटी आदि प्रश्नों का उत्तर हमें उनका साहित्य देता है; और साहित्य है क्या? ऐसे ही सामाजिक प्रश्नों का उत्तर ही तो साहित्य है। साहित्य प्रत्येक युग की नाड़ी टटोलकर उसके स्पन्दन को अपनी भाषा में व्यक्त करता चलता है। इसलिए वह प्रत्येक युग के सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब कहलाता है। वास्तव में प्रत्येक युग का साहित्य दर्पणवत् होता है जिसमें उस काल से सम्बन्ध रखने वाले समाज की सभी शक्तियाँ, सभी दुर्बल-ताएँ सभी आकांक्षाएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। अपने साहित्यरूपी दर्पण में जब युग-विशेष का साहित्यकार तत्कालीन विचारों, भावों और प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्ब रूप में झलका देता है। तब वह हमारा हो जाता है और हम उसके हो जाते हैं। गुप्त-साहित्य इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण है।

३. गुप्त-साहित्य की तीसरी विशेषता है प्राचीन पृष्ठभूमि पर

नवीन युग का अंकन। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनके समस्त खण्ड-काव्य और महाकाव्य के कथानक प्राचीन हैं। राम, कृष्ण, अर्जुन, सीता, उर्मिला, यशोधरा आदि उस युग के पात्र हैं जब हमारी संस्कृति और सभ्यता अपने उच्च शिखर पर थी। हिन्दू होने के नाते गुप्तजी को अपनी इस प्राचीन सभ्यता पर गर्व है और वह उसी काल से अपने काव्य की सामग्री एकत्र करते हैं। उनका विश्वास है कि राम और कृष्ण की भारत को आज भी आवश्यकता है। अपने इसी विश्वास के कारण वह पीछे ही मुड़-मुड़कर देखते हैं और उसी से स्फूर्ति ग्रहण करके अपनी लेखनी को गतिशील करते हैं।

४. गुप्त-साहित्य की चौथी विशेषता है उसकी मौलिकता। गुप्तजी अपनी रचनाओं में पूर्णतः मौलिक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी काव्य-सामग्री के लिए प्राचीन कथानकों का आश्रय लिया है, पर नवीन युग के साँचे में ढालकर उन्होंने उनकी प्राचीनता को नवीन रूप दे दिया है। साहित्यिक दृष्टि से वह इसलिए मौलिक हैं कि उन्होंने उर्मिला और यशोधरा जैसी उपेक्षिताओं को भी अपनाया है। उनकी दिशा नवीन है, उनके भाव नवीन हैं, उनकी छन्द-योजना नवीन है।

५. गुप्त साहित्य की पाँचवीं विशेषता काव्य के कथानक से सम्बन्ध रखती है। गुप्त जी ने अपने कथानकों का चयन अपने उद्देश्यानुकूल ही किया है। इसी बात को हम यों कह सकते हैं कि गुप्तजी आदर्श सामने रखकर कथानक ढूँढते हैं, कथानक सामने रखकर आदर्श नहीं ढूँढते। कथानकों के विभिन्न प्रसंगों का चयन भी वह अपने आदर्शानुकूल ही करते हैं। इसीलिए हम उनके खण्ड-काव्य तथा महाकाव्य में प्रत्येक स्थल पर एक ही स्वर पाते हैं और वह स्वर है प्रेम और त्याग का। गुप्तजी ने अपने कथानक के चयन में सफल हैं। विभिन्न प्रसंगों को एक सूत्र में मिलाकर खण्ड-काव्य अथवा महाकाव्य का ढाँचा खड़ा कर देना उन्हीं के से सफल कलाकारों का काम है।

गुप्त जी का हिन्दी-साहित्य में स्थान

गुप्त जी हिन्दी काव्य-जगत् की उन अतिपय विभूतियों में से हैं जिन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी कृतियों द्वारा हिन्दू-समाज और भारतीय रा... की सुषुप्त नसों में नवजीवन का पुनीत स्रोत प्रवाहित किया है और कर्तव्य-विमूढ़ प्राणियों को कर्तव्य की शिक्षा दी है। उनकी रचनाओं में मानव-जीवन का संदेश है, अतीत का गौरव है और है वीर पुरुषों और वीरांगनाओं का कलापूर्ण चरित्र-चित्रण। जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अमर निधि है। उनके काव्य में राष्ट्रीय विचारों का सौंदर्य, मानव-अन्तर् की अन्तरतम प्रवृत्तियों का द्वन्द्व, परिवर्तन की पुकार और पराक्रान्त राष्ट्र का पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जागरण का महान् उद्घोष है। राष्ट्रीय उद्बोधन के साथ-साथ मानव-हृदय की कोमलता का भी गुप्त जी ने सफल चित्रण किया है। उनकी लेखनी जिस विषय को लेकर उठी है उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। उनके काव्य-विषय का केन्द्र है मानव, उसकी शक्ति और दुर्बलता, उसकी आशा और निराशा, उसका उत्थान और पतन, उसकी इच्छा और अनिच्छा, उसका आकर्षण और विकर्षण, उसका ... उसकी तृप्ति और तृष्णा। मानव की इन्हीं सूक्ष्म प्रवृत्तियों के बीच उनके काव्य का विकास हुआ है। उन्होंने मानव को मानव-समाज की उन अनुभूतियों को अपनी रचनाओं में दिया है जो युगेतर और शाश्वत हैं। उनके कथानक पुराने हैं, पर उन पुराने कथानकों में भी उन्होंने नवीन युग की समस्याएं निकाली हैं। उनके पात्र प्राचीन हैं, प्राचीनतम हैं, पर वर्तमान की बातें करते हैं। वर्तमान युग की जटिल समस्याओं पर विचार और उन पर अपना स्पष्ट मत प्रकट करते हैं। उनके सामने ...श्न तो है ही, समाज और परिवार के भी प्रश्न हैं। वह एक ...र शेष का तिरस्कार नहीं करते। वह सब पर सामूहिक

दृष्टि से एक साथ विचार और मनन करते हैं। इस प्रकार वह एक ही साथ अपने जीवन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रश्न में सामञ्जस्य स्थापित करते हैं और अपने-अपने समाज तथा अपने राष्ट्र के कल्याण का मार्ग निश्चित करते हैं। ऐसी दशा में हम गुप्त-साहित्य में केवल राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का हल ही नहीं पाते, पारिवारिक जीवन के जटिल प्रश्नों का भी उत्तर पाते हैं। वह अपने राष्ट्र के ही नहीं, समाज और परिवार के भी कवि हैं। उनके काव्य में व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र का विकास हुआ है।

गुप्त जी की काव्य-प्रेरणा का आधार एक ही युग नहीं है। उन्होंने भिन्न-भिन्न युगों से अपनी काव्य-सामग्री एकत्र की है और उसे अपने आदर्श के आलोक में सजाया-सँवारा है। उनकी सहज कल्पना ने सतयुग से आज तक की भाव-भूमि पर विहार किया है और प्रत्येक युग से अपने उद्देश्यानुकूल कुछ-न-कुछ ग्रहण किया है। इसलिए उनकी रचनाएँ विषय की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की हैं; पर वे सब एक उद्देश्य से, एक आदर्श से आपस में जुड़ी हुई हैं। उन्होंने कई खण्ड-काव्य और एक महाकाव्य लिखा है। उनके खण्ड-काव्यों में जयद्रथ-वध, पंचवटी और नहुष का अच्छा स्थान है। यशोधरा गीति-काव्य है। साकेत उनका महाकाव्य है। उन्होंने जितने खण्ड-काव्य लिखे हैं उतने कदाचित् हिन्दी के किसी कवि ने नहीं लिखे। वह इतिवृत्तात्मक कवि हैं। उन्होंने राष्ट्रगीत और भावगीत भी लिखे हैं। गीति-नाट्य भी उनकी लेखनी से प्रसूत हुए हैं, पर इन कला-कृतियों में हमें उनके अन्तस् के कवि का प्रकृत स्वरूप नहीं दिखाई देता। गुप्तजी अपने जिस रूप में सफल कलाकार हैं, वह रूप उनका इतिवृत्तात्मक ही है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने इस रूप में किसी नवीन आदर्श की किसी नवीन पथ की किसी नवीन शैली की स्थापना नहीं की। यह भी मानना होगा कि उन्होंने किसी काल्पनिक कथा का आधार लेकर, वर्तमान युग की समस्त

चेतनाओं को महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्य का रूप नहीं दिया,
स्वीकार करना होगा कि उन्होंने विश्व-प्रेम का केवल आभास
उसका विस्तृत परिष्कृत स्वरूप समाज के सामने नहीं रखा, पर
बातों के लिए उनका कवित्व दोषी नहीं, दोषी है उनका आर्य-
और सभ्यता के प्रति तीव्र मोह। यह उनकी काव्य-कल्पना और
को उसी सीमा तक विचरण करने का अवसर देता है जहाँ तक
आर्य-संस्कृति की मर्य्यादा के अनुकूल है। गुप्तजी को अपनी संस्कृति
गर्व है, महान् गर्व है। उनका विश्वास है कि यदि हिन्दू-जाति
से युक्त होकर अपनी शक्ति का संगठन कर ले तो वह विश्व का नेतृ
कर सकती है। हिन्दू में वह कहते हैं :—

मचा विश्व भर में फल क्लेश, होगे तुम्हीं शान्ति-सन्देश।
किन्तु तुम्हारी वाणी क्षीण, बनो प्रबल फिर बनो प्रवीण।

गुप्त जी की इन पंक्तियों में आर्य-संस्कृति के प्रति जो गौरव का
भाव है वह एक सच्चे हिन्दू-हृदय की अभिव्यंजना है। इस अभिव्यं-
जना में संकीर्णता नहीं, साम्प्रदायिकता नहीं, उदारता और शील का
आभास है। आर्य-धर्म विश्व-धर्म है, मानव-धर्म है। वह शाश्वत
है, चिरनूतन है। उनके सामने कोई आदर्श नया आदर्श नहीं है।
गुप्तजी ऐसे ही आर्य-धर्म के पोषक हैं। इसलिए वह विश्व के कल्याण
का स्वप्न भारत के कल्याण में ही देखते हैं। उनकी यह भाव-धारा
समझ लेने पर हमें उनके साहित्य की दिशा समझने में बड़ी सहायता
मिलती है। गुप्त जी अपनी किसी एक पुस्तक में नहीं, अपनी समस्त
पुस्तकों में हैं। हमें उनके समस्त विचारों का सामञ्जस्यीकरण करके ही
उनके सम्बन्ध में अपना विचार स्थिर करना होगा।

महाकवि के रूप में गुप्तजी का स्थान द्विवेदी-युग के कवियों में
सबसे ऊँचा है और वह इसलिए कि उन्होंने मानव जीवन, सामाजिक
जीवन और राष्ट्रीय जीवन—तीनों की समस्याओं पर

किया है। साकेत का प्रत्येक पात्र जीवन अथवा राष्ट्र की किसी-न-किसी समस्या का प्रतिनिधित्व करता है। गुप्त जी के काव्य का उत्कर्ष न केवल विचार या भाव में है, न शब्दों में, न लय में, न श्रुति माधुर्य में, वरन् इन सबके समन्वय में है। उनके अनेक पदों में भाव, भाषा, लय, माधुर्य और रस की धारा बहती है।

गुप्त जी वर्तमान काल में सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनकी रचनाओं का आबाल वृद्ध-वनिता सभी आनन्द लेते हैं। प्राचीन और नवीन युग की जो अनेक शैलियां साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किये हैं। प्राचीन विचार के साहित्य-सेवी उनकी रचनाओं में मंगलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं, द्विवेदी युग के कवि उन्हें प्रायः नेता के रूप में ग्रहण करते हैं, छायावादी कवि भी उनमें अपने मनोनुकूल कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ खोज लेता है, राष्ट्रीय कवि उनमें राष्ट्रीयता की मर्यादा की झलक पाते हैं और समाज-सुधारकों को उनमें समाज सुधार की बहुत-सी बातें भी मिल जाती हैं। गुप्त जी ने सबके लिए कुछ-न-कुछ लिखा है। इस प्रकार वर्तमान समय के सभी दलों को अल्पाधिक मात्रा में उनसे संतोष लाभ हो जाता है। उनके पाठकों की संख्या बहुत बड़ी है। अभी गुप्तजी की अवस्था अधिक नहीं है। उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता भी सचेष्ट है। इस समय वह गीतों की ओर अधिक झुके हुए हैं और हिन्दी-साहित्य का भाण्डार गीतों से भर रहे हैं। वह जो कुछ आगे लिखेंगे, भविष्य उसका मूल्यांकन करेगा, पर उन्होंने अब तक जो कुछ लिखा है, वह अपने में महान् है और हम उन्हें द्विवेदी-युग का सर्व-प्रथम कवि समझते हैं।

—५—

जयशंकर प्रसाद

जन्म सं० १९४६   मृत्यु सं० १९९४

जीवन-परिचय

श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी में एक प्रतिष्ठित कान्य-
कुब्ज वैश्य-परिवार में माघ शुक्ल दशमी संवत् १९४६ को हुआ था।
उनके पितामह का नाम श्री शिवरत्न साहु और पिता
का नाम श्री देवीप्रसाद था। श्री शिवरत्न साहु बड़े
दानी और दयावान् थे। प्रातःकाल गंगा-स्नान से
लौटते समय वह अपना कम्बल और लोटा तक
भिक्षुकों को दे डालते थे। काशी में वह सुँघनी साहु
नाम से विख्यात थे। इसी से प्रसाद जी को भी लोग सुँघनी साहु ही
थे।

प्रसादजी बाल्यावस्था से ही बड़े भावुक और काव्य-प्रेमी थे।
पिता व्यवसाय-कुशल, उदार और साहित्य-प्रेमी थे। काशी में

उनका बड़ा नाम था। उस समय बाहर से आनेवाले कवि तथा विद्वान् सभी काशीनरेश के दरबार से लौटकर उनके यहाँ अवश्य आते थे। और साहित्य-चर्चा होती रहती थी। प्रसाद के भावी जीवन पर इस प्रकार के वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनका बचपन बड़े सुख से बीता। संवत् १९७५ में उन्होंने अपनी माता के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज और अयोध्या आदि तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। बचपन की इस यात्रा का उनके भावी जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच नर्मदा की नौका-यात्रा उन्हें आजीवन प्रभावित करती रही। इतनी लम्बी यात्रा उन्होंने अपने जीवन में फिर कभी नहीं की। इस यात्रा के पश्चात् उनके पिता का देहान्त हो गया और चार वर्ष उपरान्त उनकी माता भी स्वर्गवासिनी हो गईं। ऐसी दशा में उनके जीवन की परिस्थियाँ ही बदल गईं।

प्रसाद जी दो भाई थे। उनके बड़े भाई का नाम श्री शम्भूरत्न था। पिता की मृत्यु के पश्चात् बाबू शम्भूरत्न को ही गार्हस्थ्य-जीवन का भार वहन करना पड़ा। प्रसाद जी उस समय काशी के क्वीन्स कालेज में सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। उन्हें परिस्थितियों से विवश होकर स्कूल की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। उनके बड़े भाई ने घर पर ही उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध किया। पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी प्रसादजी को वेद और उपनिषद् पढ़ाते थे। अँग्रेजी की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध था। इस प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य का भी अध्ययन करते जा रहे थे। इस समय उनके तीन काम थे—कसरत करना, अध्ययन करना और दूकान की देख-रेख रखना। दूकानदारी से उन्हें विशेष प्रेम नहीं था, पर बड़े भाई के कहने से वहाँ बैठा करते थे। वहाँ बैठे-बैठे वह बहीखाते के पृष्ठों पर कविता लिखा करते थे। एक दिन जब इस बात की सूचना उनके बड़े भाई को मिली, तब उन्होंने प्रसाद जी को इस कार्य के लिए बहुत डाँट-फटकार बताई और दूकान की ओर अधिक ध्यान देने पर ज़ोर दिया; पर प्रसादजी अपना ध्येय नहीं भूले। काव्य-प्रेमी की दूकान-

दारी से क्या नाता ! भाई के कहने से उन्होंने दूकान पर कविता करना बन्द कर दिया, पर अवकाश मिलने पर वह गुप्त रूप से कविता करते रहे। कुछ दिनों बाद जब आने-जाने वाले कवियों द्वारा प्रसाद जी की समस्यापूर्ति की प्रशंसा होने लगी तब शम्भूरत्नजी ने उन्हें कविता करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी और थोड़े दिनों बाद वह इस असार संसार से विदा हो गये।

भाई का मरना प्रसाद जी को अखर गया। माता और पिता की मृत्यु से उन्हें इतना दुःख नहीं हुआ जितना कि भाई की मृत्यु से। इस असामयिक दुर्घटना से उनका जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। सत्रह वर्ष के युवक प्रसाद जी संसार में निस्सहाय हो गये। परिवार के सभी लोग चल बसे थे, केवल भौजाई बच गई थी। ऐसी दयनीय परिस्थिति में उनकी पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार जमाने के लिए उनके कुटुम्बियों और सम्बन्धियों का षड्यन्त्र चलने लगा। इससे उन्हें और भी चिन्ता हो गई, पर इन समस्त कठिनाइयों का उन्होंने साहस से सामना किया और अपने साहित्यिक जीवन का स्वरूप नहीं बदला। उनका अधिकांश सम्‍ साहित्यिक वातावरण में ही व्यतीत होता था।

प्रसाद जी के तीन विवाह हुए। दूसरी पत्नी के देहान्त के पश्चा उनके विचार अत्यन्त ठोस और गंभीर हो गये थे। वह अपने विवाह पक्ष में नहीं थे, पर भौजाई के प्रतिदिन के शोकाकुल जीवन को सुख बनाने के लिये उन्हें अपना विवाह तीसरी बार करना पड़ा। इसी विवा से श्री रत्नशंकर उत्पन्न हुए जो इस समय अपना पैतृक व्यवसाय चला रहे हैं।

प्रसाद जी का पारिवारिक जीवन अधिक सुखमय नहीं था। जीवन की अत्यधिक कठोर परिस्थितियों तथा ऋण के कारण वह अधिक चिन्तित रहा करते थे। स्वभाव में अमीरी थी और दानशीलता उन्हें पैतृक सम्पत्ति में मिली थी, अतः उन्हें आर्थिक चिन्ताएँ सदैव घेरे रहती थीं। अधिक व्यय के कारण वह अपनी परिस्थिति सुधारने में असमर्थ

होते जा रहे थे। ऐसी दशा में उन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग बेचकर ऋण-मुक्त होना पड़ा। इस प्रकार ऋण-भार से मुक्त होने पर उन्होंने साहित्य सेवा की ओर ध्यान दिया। अपने व्यवसाय की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं था। वह चाहते तो अपने व्यवसाय में दत्त चित्त होकर अधिक धन पैदा कर सकते थे, पर उन्होंने लक्ष्मी की सेवा से सरस्वती की सेवा को अधिक महत्त्व दिया। उनकी दिनचर्या में साहित्य-सेवा का ही अधिक स्थान था। प्रातःकाल से रात्रिकाल तक वह या तो लिखते-पढ़ते रहते थे या लेखक और कवियों के साथ साहित्य-चर्चा करते रहते थे। इससे उन्हें अपने व्यवसाय की ओर अधिक ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिलता था। अधिक से अधिक वह इतना ही करते थे कि यदि कोई कस्तूरी का व्यापारी आया तो उससे कस्तूरी परखकर खरीद लेते थे, और यदि भपका चढ़ा तो गुलाब और इत्रों की देख रेख कर लेते थे। वह अपने व्यवसाय के पूर्ण ज्ञाता थे। सुर्ती, इत्र और हर तरह के टायलेट बनाने में वह दक्ष थे। पर इन कार्यों में उनका मन नहीं जमता था। उनकी दूकान नारियल बाजार में थी। सन्ध्या समय वह वहीं बैठा करते थे। वहीं साहित्यिकों का नियमित जमघट होता था। ६ बजे से ६ बजे रात तक व्यवसाय के साथ-साथ साहित्यिक चर्चा भी होती रहती थी।

प्रसादजी की अन्तरंग-मण्डली बहुत बड़ी नहीं थी। वह बहुत गम्भीर स्वभाव के थे। वाचालता उनमें नहीं थी किसी के यहाँ जाना भी उन्हें विशेष रुचिकर नहीं था। वह घर से बाहर बहुत कम निकलते थे। उनके साहित्यिक मित्रों में राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, मुं० प्रेमचन्द और पं० केशवप्रसाद मिश्र प्रमुख थे। उनके समय में हिन्दी-साहित्य-संसार में दल-बन्दी की धूम थी। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री दुलारेलाल भार्गव प्रसाद-विरोधी-दल के नेता थे। कुछ समय तक मुं० प्रेमचन्द भी प्रसादजी के विरोधी रहे, पर अन्त में दोनों मित्र हो गये। प्रसादजी अपने गम्भीर स्वभाव के कारण

किसी के विरोध की चिन्ता नहीं करते थे। वह हिन्दी-साहित्य भाण्डार अपने दृष्टिकोण, अपनी विचार-धारा और अपनी चिन्तन शैली के अनुसार भरना चाहते थे। इसलिए उन्होंने किसी की आलोचना की चिन्ता नहीं की। वह स्वतंत्र चिन्तक और गम्भीर विचारक थे। वह जानते थे कि उनके विरोधियों की आलोचना में साहित्यिक तथ्य कम और दलबन्दी की कलुषित भावना अधिक है। इसीलिए वह तर्क-वितर्क के दलदल में फँसकर अपने विचारों को गन्दा करना नहीं चाहते थे, वह आलोचना और प्रत्यालोचना से कोसों दूर रहे। उन्होंने किसी के ग्रन्थ की आलोचना नहीं की। किसी अन्य पुस्तक की भूमिका नहीं लिखी। वस्तुतः विवादग्रस्त प्रश्नों में पड़ने का उन्हें व्यसन नहीं था।

प्रसाद जी के समय में हिन्दी का पुस्तक-प्रकाशन बाल्यावस्था में था। अच्छे साहित्य की न तो माँग ही थी और न अच्छे प्रकाशक ही थे। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में एकमात्र 'सरस्वती' का ही स्थान था। सरस्वती-सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रसादजी का मतभेद था, इसलिए प्रसाद जी को उक्त पत्र द्वारा प्रोत्साहन मिलने की अधिक सम्भावना नहीं थी। ऐसी दशा में उनके आदेशानुसार उनके भांजे श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने 'इन्दु' नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसी मासिक पत्र से प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। यह सन् १९१० ई० की बात है। प्रसादजी इस पत्र को आर्थिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की सहायता देते थे। कालान्तर में इस पत्र ने हिन्दी की अच्छी सेवा की और प्रसादजी की रचनाओं से हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित हो गया। इस प्रकार जीवन की विरोधी परिस्थितियों के बीच प्रसादजी ने साहित्य के पुनीत प्रांगण में प्रवेश किया।

'इन्दु' कुछ समय तक निकलकर बन्द हो गया। 'हंस' मासिक रूप में प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में निकल रहा था। प्रसादजी इसमें कहानियाँ लिखा करते थे। उन्होंने ही इस पत्र का नामकरण किया था

और इसकी योजना प्रस्तुत की थी। आवश्यकता थी एक शुद्ध साहित्यिक पाक्षिक पत्र निकालने की। इस पत्र का सम्पादन-भार श्री शिवपूजन जी को दिया गया। इस प्रकार ११ फरवरी १६२६ ई० को पुस्तक-मन्दिर से 'जागरण' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। कुछ समय तक यह पत्र निकलता रहा, पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसका काम आगे चल न सका। अन्त में इसका प्रकाशन-भार मु० प्रेमचन्द को सौंप दिया गया। मु० प्रेमचन्द के सम्पादन में वह साप्ताहिक होकर निकलता रहा।

'इन्दु' और 'जागरण' की आर्थिक सहायता करने के कारण प्रसादजी की आर्थिक स्थिति फिर शोचनीय हो गई। एक नया मकान बनवाने तथा व्यवसाय-द्वारा आय कम हो जाने के कारण उन्हें पुनः आर्थिक कठिनाइयों ने घेर लिया। अतः वह चिन्ता-मुक्त होने के विचार से पुरी चले गये। पुरी के रमणीक एवं मनोरम दृश्यों ने उनके कवि-हृदय को आश्वासन तो दिया; पर मानसिक व्यग्रता बनी ही रही। इसलिये वहाँ से लौटने पर उन्होंने नियमित रूप से अपने व्यवसाय की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया, पर उससे समय बचाकर वह साहित्यिक-कार्य भी करते रहे।

प्रसाद जी सरल, उदार, मृदुभाषी, स्पष्टवक्ता और साहसी व्यक्ति थे। व्यायाम करने का उन्हें बचपन से ही अभ्यास था। अपनी जवानी में वह एक हजार बैठकी और पाँच सौ दण्ड प्रतिदिन करते थे। कुश्ती भी वह लड़ते थे। घृत, दूध और घी के अतिरिक्त पाव-आध सेर बादाम वह नित्य खाते थे। भोजन बनाने में वह कुशल थे। पुष्पों से उन्हें विशेष प्रेम था। अपने घर के सामने उन्होंने एक छोटी-सी वाटिका बनाई थी, जिसमें कई प्रकार के फूल फूलते थे। नौका-विहार में उन्हें विशेष आनन्द आता था। उनका वास्तविक जीवन अत्यन्त सात्विक और स्पष्ट था। पान वह बहुत खाते थे। पत्र-व्यवहार से वह बहुत हिचकते थे। दानशीलता उनमें बहुत थी। उन्होंने अपनी

कहानी अथवा कविता के लिए पुरस्कार के रूप में एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) का और नागरी-प्रचारिणी-सभा से २००) का जो पुरस्कार उन्हें मिला था उसे उन्होंने कुल मिलाकर ७००) नागरी-प्रचारिणी-सभा को दान कर दिया। कवि-सम्मेलन में जाकर कविता-पाठ करना अथवा सभापति होना उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्हें अपने काम से काम था। उनकी मनोवृत्ति धार्मिक थी। वह शिव के उपासक थे। आचार-व्यवहार में भी वह आस्तिक थे। प्रतिदिन के काम से जब उनका जी ऊबता था तब कभी-कभी सिनेमा देखने चले जाते थे। वह बड़े अध्ययनशील थे। प्रतिदिन नियमित रूप से संस्कृत के पौराणिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन में वह अपना समय देते थे। जीवन को इतना नपा तुला और संयमशील रखने पर भी वह मृत्यु की भयानक चोट से न बच सके। २८ जनवरी सन् ३७ को वह बीमार पड़े और २२ फरवरी को डाक्टरों ने यह कह दिया कि उन्हें राजयक्ष्मा हो गया है।

राजयक्ष्मा के परिणाम से प्रसादजी भली भाँति परिचित थे। उनकी पूर्व पत्नी इसी रोग का शिकार हो चुकी थीं। इसलिये इस रोग का हाल सुनकर वह अपने जीवन से उदासीन हो गये और अन्ततः कार्तिक शुक्ला एकादशी संवत् १९९४ को उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य के निष्णात पंडित और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। अपने अल्पकालीन साहित्यिक जीवन में उन्होंने जो कुछ लिखा, उस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है और वह उसकी स्थायी सम्पत्ति है। क्रमिक विकास के अनुसार हम उनकी समस्त रचनाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. पूर्व काल सन् [१९१०–२२] २. मध्य-काल सन् [१९२३–१९२९] और ३. अन्तिम-काल सन् [१९२९–३७]

प्रसाद की रचनाएँ

प्रसादजी ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्वकाल में विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि, छाया, प्रेम-पथिक, महाराणा का महत्त्व तथा चित्राधार; मध्य काल में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल और एक घूँट और अन्त में आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला तथा अधूरा उपन्यास इरावती की रचना की। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन का मध्य तथा अन्तिम काल ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रसाद जी की रचनाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है:—

१. उपन्यास—कंकाल, तितली और अधूरा इरावती।

२. नाटक—राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी।

३. कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल।

४. काव्य—चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, और झरना।

५. निबन्ध—काव्य और कला।

प्रसाद पर प्रभाव

प्रसाद जी की बहुरंगी रचनाओं को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा कई क्षेत्रों से प्राप्त हुई थी। उनके पारिवारिक जीवन के अध्ययन से यह पता चला है कि वह बचपन ही से कवियों, कलाविदों और गायकों के सम्पर्क में आ गये थे। उनके दादा दानी तो थे ही, साहित्य-प्रेमी भी थे। उनके यहाँ साहित्य-प्रेमियों का आये दिन जमघट रहता था। उनके पिता भी अपने पिता की भाँति ही उदार, दानी और साहित्य-प्रेमी थे। उनके समय में भी साहित्यिकों का आना-जाना होता

था। ऐसे वातावरण का बालक प्रसाद
था। अतः पद्य-रचना की ओर उन
धार्मिक यात्रा से बहुत बल मिला। अपने
कण्टक पर्वतमालाओं के बीच उन्होंने
कल्पना के पंख उन्मुक्त कर दिये और
विचरने लगे। आधी-आधी रात तक
पूर्ति करनेवाले कवियों की कविता सुनना और
सुनाना उनका स्वभाव-सा हो गया। उनका
विकसित होकर उन्हें कवि बनाने में सफल हुआ

पर कविता सुनने और उसे अपने जीवन
सुनाने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। कवि होने
अध्ययन और अभ्यास की भी आवश्यकता होती
प्रतिभा तो थी, पर अध्ययन और अभ्यास का अभाव
उन्हें प्रेरणा मिली ब्रह्मचारी दीनबन्धुजी से।
मृत्यु से अब उन्हें स्कूली शिक्षा को तिलाञ्जलि देनी
बन्धु ब्रह्मचारी ने ही उन्हें संस्कृत तथा उपनिषद्
ऊपर लिया। वह अपने समय के संस्कृत-साहित्य के
अतः उनकी शिक्षा का बालक प्रसाद के कोमल मस्तिष्क
पड़ा। प्रसाद में हम जो संस्कृत-साहित्य के प्रति
केवल इसी कारण से है। वास्तव में उनका संस्कृत
ज्ञान ब्रह्मचारी जी की देन है जिसे उन्होंने अपनी
स्वयं परिष्कृत बनाया है। इसी प्रकार के अध्ययन, चिन्तन
के आलोक में उनके कवि जीवन का महत्त्व आँका जा सकता
कविताओं से यह स्पष्ट है कि उनके जीवन पर
के धार्मिक स्थलों का

देखते हैं वह इसी शैव-दर्शन के प्रभाव के कारण। अतः उनकी रचनाओं की आलोचना करते समय हमें उनके ऊपर पड़े हुए इन समस्त प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक उपन्यासकारों में प्रसादजी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने ऐसे समय में उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया जब हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्द के अतिरिक्त कोई नहीं था। प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के अग्रदूत प्रसाद का उप- थे। उन्होंने सर्वप्रथम आधुनिक चरित्र-प्रधान हिन्दी न्यास-साहित्य उपन्यासों का ढाँचा खड़ा किया और उनमें मानव के सुख-दुःख की पहेलियों, सामाजिक जटिलताओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का स्पष्ट आकर्षक चित्र उपस्थित किया। प्रेमचन्द के पूर्व का भारतीय कथा-साहित्य पौराणिक तथा धार्मिक था। कुछ ऐसे उपन्यास भी जनता के हाथों में दिखाई देते थे जिनमें साहसिक क्रियाओं का वर्णन ही कथा का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथा-साहित्य के इस रूप में परिवर्तन किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में साहसिक क्रियाओं के स्थान पर आत्मा को आश्रय दिया। इस प्रकार उन्होंने जासूसी, तिलस्मी तथा घटना-प्रधान पौराणिक उपन्यासों के युग में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का आयोजन किया।

प्रसादजी प्रेमचन्द के समकालीन थे। इसलिए प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में प्रसादजी का ही स्थान है। उन्होंने तीन उपन्यासों की रचना की है—१. कंकाल, २. तितली और ३. इरावती।

प्रसादजी के इन उपन्यासों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता उनके उपन्यासों की है कथानक की मौलिकता और पात्रों की स्पष्टवादिता। उनके कथानक का मानव-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। उनमें मानव-जीवन के पाप-पुण्य की चर्चा इतने स्वतंत्र

ढंग से और इतने चुभे शब्दों में की गई है कि समाज के प्रति
सहानुभूति प्रकट करने का साहस होता है। उन्होंने अपने इन
द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को मनोरंजक घटनाओं के
निकालकर सत्य भाव-भूमि पर बनाया है और भावी उपन्
के लिए नवीन दिशा का पथ-प्रदर्शन किया है। उनके उ
सजीव और स्वाभाविक हैं। वह अपने हृदय का पाप-पुरुष
दिखाकर घृणा और द्वेष के पात्र नहीं बनते। उनके प्रति पा
सहज सहानुभूति जाग्रत होती है। दूसरी विशेषता उनके उपन्
है मानसिक द्वन्द्व के सुन्दर शब्द-चित्र। समाज के बन्धनों से
मानव-हृदय का चित्र उतारने में प्रसादजी बड़े कुशल हैं। मनोभ
द्वन्द्व का हृदय पर ही नहीं, शारीरिक व्यापारों पर भी सम्यक्
पड़ता है। इसलिए मनोभावों का चित्र उपस्थित करने के साथ
उनके उपन्यासों में हमें शारीरिक व्यापारों के भी सुन्दर और प्रभा
शाली चित्र बहुतायत से मिलते हैं। तीसरी विशेषता उनके उपन्या
की है उनका दृश्य-वर्णन। वह अपने उपन्यासों में प्रकृति, ग्राम, न
और समाज सबके सम्यक् चित्र उपस्थित करते हैं और उनसे अप
पाठकों को इतना प्रभावित कर देते हैं कि उनका हृदय उपन्यास के
कथानक से क्षण भर के लिए हटने नहीं पाता। 'कंकाल' और 'तितली'
में ऐसे दृश्यों की कमी नहीं है। चौथी विशेषता जिसके कारण प्रसाद
उपन्यासकार समझे और माने जाते हैं उनकी भाव-प्रवणता है। भावों
को जगाने में, उनको आन्दोलित, संयत और सफल बनाने में वह अपने
उपन्यास और काव्य में एक से हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने
अपने अनुभवों के प्रचुर वैभव के साथ अपनी कोमल भावनाओं का
सहज मिश्रण करके कल्पना के सहारे जिन कला-कृतियों को जन्म दिया
है, वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। पाँचवीं विशेषता उनके
की है भाषा की सरलता। अपने उपन्यासों में प्रसाद जी अपने
की अपेक्षा अधिक चलती हुई

प्रसाद और ओजपूर्ण भाषा का व्यवहार करते हैं। नाटकों में उनकी भाषा-अधिक क्लिष्ट और बोझिल हो गई है। इसलिए कला की दृष्टि से परिपूर्ण होने पर भी वह पाठकों को अपने में इतना तन्मय नहीं कर पाते जितना कि उनके उपन्यास। इन विशेषताओं के अतिरिक्त चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग, आधुनिक मानव-जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का प्रतिबिम्ब, कला और प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता-सम्बन्धी विचार आदि बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनका प्रसाद के उपन्यासों में बाहुल्य है। उनके उपन्यास उन्मुक्त यौवन के प्रणय की समस्याओं के उपन्यास हैं।

प्रसाद का कहानी-साहित्य

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रसाद जी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी के कहानीकारों में उनका प्रथम स्थान है। उन्होंने तीन प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कुछ कहानियाँ साधारणतः भावात्मक और कला की दृष्टि से निम्न-कोटि की हैं, पर उनकी जो कहानियाँ रहस्यवादात्मक तथा यथार्थवादात्मक हैं वह हिन्दी में अपना एक निजी महत्त्व रखती हैं। अपनी यथार्थवादी कहानियों में साधारण कोटि के पात्रों के प्रति गुप्त रूप से वह अपनी सहानुभूति का परिचय बराबर देते रहते हैं। यही यथार्थवादी साहित्य का सिद्धान्त है। प्रसाद अपने यथार्थवादी साहित्य में स्पष्ट हैं। उन्होंने कहानी-कला को बहुत ऊँचे स्थान पर उठाया है। उनकी कहानियों में हमें प्रथम बार आधुनिक कहानी-लेखन कला का परिचय मिलता है। उनकी कहानियों का कथानक, उनकी कविता के विषय की भाँति, एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र, किसी घटना की एक रेखा, प्रेम की एक झलक अथवा निष्ठुरता की ओर एक संकेत मात्र रहता है। यही उनकी कहानी के विषय हैं। इन विषयों के लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा, इधर-उधर से सामग्री एकत्र करने की आवश्यकता नहीं हुई। उनके मन में

भावनाएँ उठीं और उन्होंने कहानी लिख डाली। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ भावात्मक हैं और सरलतापूर्वक कहानी-कला की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। एक बात और है, भावात्मक कहानियों का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। वह प्रचार अथवा प्रशंसा की दृष्टि से नहीं लिखी जातीं। वह तो कहानी-लेखक की तन्मयता की प्रकाशन-मात्र होती हैं। वह जो कुछ लिखता है, अपनी धुन में, अपने भावों से प्रभावित होकर लिखता है। प्रसादजी इसी वर्ग के कहानी-लेखक हैं। उनकी कहानियों में राग-विराग का, सुख-दुःख का जो अन्तर्द्वन्द्व है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि प्रसाद जी की अधिकांश कहानियों में अस्वाभाविकता है। ऐसा कहने वालों को यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी कहानियों के कथानक का विकास किसी रहस्य की छाया में होता है। अतएव उनकी कहानियों के सम्बन्ध में स्वाभाविकता अथवा अस्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी कहानियाँ स्थूल जगत् से सम्बन्ध न रखकर भाव-जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वह कहानीकार के साथ ही कवि भी हैं, पर अपनी कहानियों में वह सर्वथा भावात्मक चित्र ही प्रस्तुत नहीं करते। उन्होंने वास्तविक चित्र भी उतारे हैं और बड़ी सफलतापूर्वक उतारे हैं। वह अपनी प्रांजल भाषा, अद्भुत व्यंजन-कुशलता और भावों की तीव्रता से सहज ही पाठक को अपनी ओर खींच लेते हैं और उसे यह अनुभव नहीं होने देते कि कोई कहानी पढ़ रहा है। इसी में कहानी-कला की सफलता का रहस्य है और इस दृष्टि से प्रसादजी आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य के अग्रदूत हैं। उनकी कहानियों में निष्फल यौवन, करुण प्रलाप और दर्दीली स्मृति के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित होते रहते हैं। इन्हीं चित्रों के साथ-साथ कुछ सूक्ष्म मानवी मनोवृत्तियों की एक धुंधली, पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी अंकित कर दी जाती है। उनकी सभी कहानियों का 'थीम' प्रायः एक-सा है। केवल स्थान और पात्रों के नाम में अन्तर है। संक्षेप में इन

यह कह सकते हैं कि उनकी कहानियाँ, एकांकी नाटकों की भाँति एकांगी होती हैं, जिनमें एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक सीधी रेखा होती है। इसीलिए हमें उनकी कहानियाँ पढ़ते समय गद्य-काव्य का-सा आनन्द मिलता है।

प्रसाद और प्रेमचन्द दोनों अपने समय के महान् कलाकार हैं। प्रेमचन्द कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार हैं। साहित्य के विभिन्न अंगों पर उन्होंने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं।

प्रसाद और प्रेमचन्द

प्रसाद, प्रेमचन्द की भाँति, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबन्ध-लेखक तो हैं ही, कवि भी हैं। प्रसाद स्पष्टतः दो ही रूपों में हमारे सामने आते हैं—कवि के रूप में और नाटककार के रूप में। उनका औपन्यासिक रूप इन दोनों रूपों के सामने गौण हो जाता है; पर प्रेमचन्द का एक ही रूप है और वह है उनका औपन्यासिक रूप। अपने इस रूप में वह प्रसाद की अपेक्षा महान् और अग्रगण्य हैं। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रसाद उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने दर्जनों उपन्यास लिखे हैं, दर्जनों कहानी-संग्रह प्रकाशित कराये हैं; पर प्रसाद का साहित्य इस दिशा में इतना विस्तृत नहीं है।

प्रसाद और प्रेमचन्द की साहित्यिक रचनाओं की संख्या एवं मात्रा में अन्तर तो है ही, उनके दृष्टिकोण, उनकी शैली तथा उनके भाव में भी अन्तर है। उपन्यासकार और कहानी-लेखक दोनों हैं, पर दोनों अपने-अपने पात्रों को अपने-अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अपने ढंग से, अपने दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों कलाकारों को भारत के विकृत सामाजिक आचार-विचारों के प्रति उत्कट असन्तोष है, पर उस असन्तोष को प्रकट करने का, उसे अपने पाठकों के सामने उपस्थित करने का ढंग पृथक्-पृथक् है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज की जिन समस्याओं का

स्थित किया है वह स्पष्ट है, सबकी आँखों के सामने है, पर इन
ों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जो भारतीय समाज
र से खोखला बनाती जा रही हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों
प्रकार की समस्याओं को ध्यान दिया है। अतः हम यह कह
कि प्रेमचन्द ने जिस समाज को ऊपर से देखा है, प्रसाद की
उसके भीतर है। यही कारण है कि प्रेमचन्द जहाँ अपने उपन्यासों
नों की दयनीय स्थिति, सामाजिक विषमता तथा आर्थिक
ओं का चित्र उपस्थित करते हैं, वहाँ प्रसाद अपने उपन्यासों में
त समस्याओं की आड़ में होनेवाले पापाचार का चित्र उपस्थित
। यदि आप 'कंकाल' के कथानक पर विचार कीजिए तो
पता चलेगा कि प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में धार्मिक पृष्ठ
भारतीय समाज के ऐसे ही नग्न चित्र उतारे हैं। प्रेमचन्द
यासों में इस प्रकार के चित्रों का अभाव है। प्रसाद की कौन-
कला का विकास पतितों को उठाने में, घृणित पात्रों को अपनाने
है। इसलिए उनके उपन्यास यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द अपने
में कहीं आदर्शवादी और कहीं यथार्थवादी हैं। ऐसा जान
है कि वह यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों के मोह में पड़कर
उपन्यासों में बराबर भटकते से रहे हैं।

वस्तु की इस प्रकार की विभिन्नता के साथ-साथ इन दोनों
के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। जैसा कि पहले
जा चुका है, 'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है। इस उप-
प्रेमचन्द की समस्याओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता
द ने अपने इस उपन्यास में प्रेमचन्द के प्रायः सभी प्रिय पदों
ार कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस एक उपन्यास में
भारतीय वातावरण के अधिक से अधिक चित्र अंकित करने के
संलग्न रहे। यही कारण है कि उनके इस उपन्यास में कथानक
...। हो गई है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक

की बहुलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रसाद ने अपने कथानक की बहुलता का निर्वाह कलात्मक ढंग से किया है, वहाँ प्रेमचन्द के कथानक कुछ शिथिल और अस्वाभाविक से हो गये हैं। 'रंगभूमि' 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्मभूमि' में कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। प्रसाद के कथानक में निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं है। वह उतना ही कहते हैं जितना उन्हें कहना चाहिए। इसीलिए उनके कथानक का उत्थान, विकास और उसकी समाप्ति सभी बड़े क्रमिक और कलात्मक ढंग से होते हैं। इने-गिने स्थलों को छोड़कर उनके कथानकों में सामंजस्य का अभाव कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब दोनों कलाकारों के उपन्यासों की पात्र-कल्पना पर विचार कीजिए। प्रसाद के उपन्यासों के पात्र बड़े समाज से—समृद्धशाली समाज से सम्बन्ध रखते हैं। प्रेमचन्द के पात्र प्रायः ग्रामीण समाज से लिये गये हैं। पर पात्रों के चरित्र की जैसी सूक्ष्म विवेचना हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है वैसी प्रसाद के उपन्यासों में नहीं है। प्रसाद ने अपने पात्रों को प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा विकास-स्वातंत्र्य अधिक दिया है। इसलिए प्रसाद के कुछ पात्र अपेक्षाकृत अधिक अस्वाभाविक और काल्पनिक हो गये हैं। तितली के प्रायः सभी प्रमुख पात्र अधिक भावुक हैं। इस प्रकार की भावुकता प्रेमचन्द के पात्रों में नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्रसाद स्वयं दार्शनिक और भावुक हैं। इसीलिए वह अपने पात्रों को भी अपने ही रंग में रँगकर उपस्थित करते हैं। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि प्रसाद के पात्र व्यक्ति होते हैं। वह किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते। प्रेमचन्द के पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द को अपने उपन्यासों में सफलता मिली है। इस दृष्टि से हटकर जहाँ उन्होंने वर्ग-रहित पात्रों की कल्पना की है, वहाँ उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है।

प्रसाद इस दिशा में सफल हुए हैं। पर वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों का निर्माण सफलता पूर्वक नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि प्रसाद के पात्र प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र और मनमौजी हैं।

यह तो हुआ उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में दोनों कलाकारों के दृष्टिकोणों का अन्तर। कहानी-साहित्य के क्षेत्र में भी हमें उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान होती हैं और प्रसाद की भावना-प्रधान। प्रेमचन्द अपनी कहानियों में सामाजिक चित्र की अवतारणा का लक्ष्य रखते हैं और प्रसाद अपनी कहानियों में मानसिक चित्र की उद्भावना करते हैं। इस प्रकार एक में वस्तु कला है तो दूसरे में ललित कला। टालस्टाय और तुर्गनेव की कहानी-कला में जो अन्तर है वही अन्तर प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानी-कला में पाया जाता है। टालस्टाय की कहानियाँ जनता की कहानियाँ होती हैं, उसके दुःख-सुख की, उसके संघर्षों की कहानियाँ होती हैं, पर तुर्गनेव की कहानियाँ शुद्ध साहित्यिक होती हैं। इस प्रकार यदि प्रेमचन्द हिन्दी के टालस्टाय हैं तो प्रसाद हिन्दी के तुर्गनेव।

शैली की दृष्टि से प्रसाद, प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक गंभीर हैं। प्रसाद की शैली पर कवित्व का पुट अधिक है। प्रेमचन्द की शैली स्वच्छ और सीधी सादी होती है। दार्शनिकता एवं भावुकता के बाहुल्य से प्रसाद की शैली कहीं-कहीं ऐसी रहस्यपूर्ण हो जाती है कि पाठक विचारमग्न हो जाता है। इससे पाठकों के आनन्द में बाधा पड़ जाती है, पर प्रेमचन्द की शैली इस दोष से मुक्त है। वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन दोनों कलाकारों का प्रभावपूर्ण और संयत होता है। पर जहाँ प्रसाद की भाषा अपनी क्लिष्टता के कारण दुरूह हो जाती है, वहाँ प्रेमचन्द की भाषा अपनी सरलता के कारण पाठक के हृदय को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। शैली-सम्बन्धी इस अन्तर के

अन्तर के साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी हैं और प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी। दोनों कलाकारों के इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि के कारण उनके पात्र भी कथोपकथन में एक ही शैली से काम नहीं लेते। प्रेमचन्द के आदर्शवादी पात्र जहाँ उपदेशक बन बैठते हैं, वहाँ प्रसाद के यथार्थवादी पात्र गंभीर, स्पष्ट और थोड़े में बहुत कहने वाले होते हैं। प्रसाद अपनी कृतियों में आदर्शवाद की ओर संकेत करते हैं और प्रेमचन्द उसका प्रचार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी कला के निष्णात पंडित हैं। दोनों अपने-अपने में महान् हैं। मानवता से दोनों को प्रेम है, दोनों भारतीय समाज की विकृत अवस्था से परिचित हैं और उसका कल्याण चाहते हैं। दोनों मानव-मंगल के लिए समय की माँग और आवश्यकताओं के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए दोनों ने अपनी स्वतंत्र बुद्धि से विचार किया है, सोचा है और उसे जनता के सामने अपनी-अपनी शैली में उपस्थित किया है।

प्रसाद उपन्यासकार ही नहीं, नाटककार भी हैं। उपन्यासकार की अपेक्षा वह हिन्दी-साहित्य-मनीषियों के बीच नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उन्हीं का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने अपने जीवन-काल में बारह नाटकों की रचना की है जिनका क्रम निम्न प्रकार है:—

प्रसाद का नाट्य-साहित्य

१. सज्जन—१९१० ई०	२. करुणालय—१९१२ ई०
३. प्रायश्चित—१९१३ ई०	४. राज्यश्री—१९१४ ई०
५. विशाख—१९२१ ई०	६. अजातशत्रु—१९२२ ई०
७. जनमेजय का नाग-यज्ञ—१९२६ ई०	८. कामना—१९२७ ई०

९. चन्द्रगुप्त—१९२८ १०. स्कन्दगुप्त—१
११. एक घूँट—१९२९ ई० १२. ध्रुवस्वामिनी—

प्रसाद के इन नाटकों के रचनाकाल से यह ज्ञात हो
उन्होंने प्रथम चार नाटक लिखने के पश्चात् सात वर्ष तक
नहीं लिखा। इसी प्रकार विशाख तथा अजातशत्रु, के पश्चात्
के लिए उन्होंने पुनः नाटक-रचना से अवकाश ग्रहण किया।
उन्होंने छह नाटक लिखे। इन नाटकों में से 'सज्जन' और '
चित्राधार नामक संग्रह में संकलित हैं, 'करुणालय' गीत-
राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथ
स्वामिनी ऐतिहासिक नाटक हैं, कामना रूपक है जनमेजय क
यज्ञ पौराणिक नाटक है और एक घूँट से संकेतवाद की प्रवृत्ति
है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटकों की रचना में प्रसाद क
को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिला है। उन्होंने वि
प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास किया है, पर उनके प्रथ
अन्तिम नाटकों में इतना अन्तर हो गया है कि उसके आधार प
नाटकों के सम्बन्ध में कोई सामान्य धारणा नहीं बनाई जा
वास्तव में उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास है। कलात्मक
अभ्यास की अपेक्षा करता है। प्रसाद के नाटकों में कलात्मक प्र
साथ-साथ अभ्यास के चिह्न भी मिलते जाते हैं। विशाख के
धीरे-धीरे उनकी एक ही प्रकार की शैली और विचार-पद्धति वि
और परिपक्व होती चली जाती है। उनके नाट्य-साहित्य क
विशेषता अपने में महान् है।

प्रसाद के नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो
कविता के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। आज सेक्सपियर अथवा का
के नाटकों का विश्व-साहित्य में जो मान है वह इसलिए नहीं कि
पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, अपितु इसलिए कि युग-युग
लोग उनकी कविता पढ़ते और आनन्द लाभ करते आये हैं। इ

आधुनिक रोमांटिक युग में यौवन और प्रणय के कवि प्रसाद ने साहित्य के अन्य प्रमुख अंगों के साथ नाटक को भी अपने भावों को व्यक्त करने का एक माध्यम बना लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके नाटक अभिनयशील नहीं हैं, पर कला और काव्य की दृष्टि से वह अपने में बेजोड़ हैं। उनकी नाट्य-कला परखने के लिए हमें निम्न बातों पर विचार करना होगा :—

१. कथावस्तु—प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री तीन प्रकार की है—१. ऐतिहासिक, २. पौराणिक और ३. भावात्मक। उन्होंने अपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में प्राचीन संस्कृति और। वैभव का नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमलतम भावनाओं से अनुरंजित किया है। उन्होंने अपने नाटकों में जो गड़े मुर्दे उखाड़े हैं वह आज की समस्याएँ लेकर नवीन हो गये हैं। उनका शरीर पुराना है, भाव नए हैं। पुरानी बोतलों में नई रंगीन मदिरा भरी गई है जिसके नशे से आज का साहित्य-प्रेमी झूम जाता है। उनके नाटकों में भावों और विचारों की इतनी सबल प्रेरणा है कि उसके सामने कथा-वस्तु गौण बन जाती है। वास्तव में कथावस्तु उनके भावों तथा विचारों का माध्यम मात्र है। इसलिए हमें उनके नाटकों में यह देखने की आवश्यकता है कि उनके पात्र क्या कहते हैं। कौन कहता है, इसकी चिन्ता और छान-बीन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों-द्वारा इतिहास की शुष्क इतिवृत्तात्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ परिवर्तन भी किया है, पर एक सीमा के भीतर और बड़े कलात्मक ढंग से।

प्रसाद के समस्त नाटकों का एक ही सन्देश नहीं है। कथावस्तु की विभिन्नता के साथ-साथ उनके सन्देश भी बदलते गये हैं। पर ऐसे सभी सन्देश एक उद्देश्य-सूत्र से बँधे हुए हैं। उनके नाटकों का उद्देश्य है

पतितों को उठाना, निराशा के गर्त में गिरे हुए प्राणियों को, पीड़ित मानव को, विश्व-मंगलकारी आशावाद का संदेश देना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री उस स्वर्ण युग से संकलित की है जो भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए आकर्षण का माध्यम है। इसीलिए उनके नाटकों में राजनीतिक द्वन्द्व, प्रणय के घात-प्रतिघात तथा आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ आकर्षण है, ओज है, आदर्श है।

२. चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण, का एक विशेष स्थान होता है। यदि सच पूछा जाय तो नाटक महान् चरित्रों की एक मित गाथा-मात्र है। आदर्श की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में हम दो प्रकार के चरित्र पाते हैं—१. स्वाभाविक और २. परिस्थितिजन्य। परिस्थितियों से ही चरित्र बनता है और चरित्र का विकास भी परिस्थितियों के अनुकूल ही होता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इस बात का अत्यधिक ध्यान रक्खा है। उन्होंने अपने पात्र को ऐसी परिस्थितियों में रखकर उनके चरित्र का विकास किया है कि पाठक को उसे समझने में कठिनाई नहीं हो सकती।

चरित्रों के दो मुख्य अंग होते हैं—१. सूचनात्मक और २. विकासात्मक। नाटकों के कथोपकथन में कुछ चरित्रों को तो हम विकासात्मक पाते हैं और कुछ को सूचनात्मक। नाटककार चरित्रों के इन दोनों अंगों का विकास १. वार्तालाप, २. स्वगत कथन, ३. दूसरों का कथन और ४. कार्य-व्यापार द्वारा करता है। प्रसाद ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इन चारों साधनों का सम्यक् निर्वाह किया है। उनके सम्पूर्ण चरित्र तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं—१. देवता, २. राक्षस और ३. मनुष्य। देव-चरित्रों में गौतम, प्रेमानन्द और वेदव्यास आदि की गणना की जा सकती है। ये संसार में रहते हुए भी उससे तटस्थ तथा उदासीन रहते हैं। उनमें वैराग्य और निर्वेद की भावना प्रधान रहती है और इस भावना के साथ एक सात्विक वातावरण रहता है। ऐसे चरित्र उनके

नाटकों में आधारभूत दार्शनिक तत्त्वों और धर्म-सूत्रों को तर्क-द्वारा प्रतिष्ठापित करते हैं और अपने संसर्ग में लाकर दुष्ट चरित्रों का परिष्कार तथा सुधार करते हैं। प्रमुख-चरित्रों में काश्यप, देवदत्त-प्रख्यातिभिक्षु तथा विरुद्धक आदि की गणना की जा सकती है। मानव-स्वभाव में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, पर इनमें से जब किसी एक की प्रधानता हो जाती है तब हम अपनी कल्पना के अनुसार देवता अथवा राक्षस-चरित्रों का अनुमान करते हैं। राक्षस चरित्र भी परिस्थितियों की लपेट में आते हैं, और अपनी प्रबल तामसिक भावनाओं के कारण समस्त वातावरण को कलुषित और विषाक्त बना देते हैं। अन्त में उनकी पराजय होती है और वे देव-चरित्रों के संसर्ग में आकर सुधर जाते हैं। तीसरे प्रकार के चरित्र मानव हैं जो संसार की तरंगों पर बहते हैं। वह इमग्रीव प्रलोभन और भयानक स्थिति से प्रभावित होकर घुटने टेक देते हैं। उनमें मानव की सभी दुर्बलताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रसाद ने ऐसे चरित्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का द्वार खोल दिया है। इसीलिए हमें उनके नाटकों में करुणा, क्षमा तथा विशेष-प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रसाद के प्रमुख पात्र जीवन के बाह्य संग्राम के साथ-साथ स्वयं अपने मन के साथ भी लड़ते हैं वह आत्मचिन्तन करते हुए ही कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। एक ओर उन्हें पाशविक बर्बरता को ध्वंस करने की आवश्यकता का अभ्यास होता है तो दूसरी ओर उन्हें अपने मन को संवेदनशील बनाये रखने की साधना करनी पड़ती है।

प्रसाद के नाटकों में स्त्री-पात्रों की प्रमुखता है। जिस प्रकार सृष्टि के मूल में स्त्रियों की प्रधानता है उसी प्रकार प्रसाद के पुरुष-पात्रों के मूल चरित्र में नारियों की। उन्हीं की सुकुमार एवं भीमाकार मनोवृत्तियों के इंगित पर परचालित होकर प्रसाद के पुरुष-पात्र जीवन के विशाल रंगमंच पर नृत्य करते हैं। प्रसाद की नारी पात्रियाँ पुरुषों को उनके कर्तव्य-मार्ग में उद्बुद्ध और प्रोत्साहित करती हैं। नाटककार के कौशल से पुरुष पात्रों के तामसिक, राजसिक एवं सात्विक गुणों के

अनुरूप ही उन्हें उनकी राष्ट्रोक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रसाद के नाटकों में जटिल से जटिल राजनीतिक गुत्थियाँ पात्रों द्वारा ही सुलझाई गई हैं। वे कभी प्रेम के मादक कुंजों में विहार करती हैं, कभी जीवन के प्रज्वलित समर-स्थल में तलवारों के साथ खेलती हैं और कभी गार्हस्थ्य जीवन की शोभा बढ़ाती हैं। वे नायिका भी बनती हैं और आतुरती भी। राजनीतिक उलझनों के बीच वे छल-बल-कौशल अपने काम लेती हैं और अपने निर अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। वे राजनीति धुरन्धरा और कूटनीतिज्ञा हैं। इस दिशा में प्रसाद बंकिम बाबू के नारी-पात्रों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

३. कथोपकथन—कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भाव-व्यंजक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इसका प्रधान कार्य कथानक को विस्तार देना, उसे संकेत करना और उसके उत्कर्ष का साधन होना है। उसकी भाषा सजीव, शिष्ट, स्वाभाविक, संयत और गंभीर होती है। वह पात्रों के उपयुक्त होती है और उससे पाठकों की उत्सुकता आदि से अन्त तक बनी रहती है। प्रश्न और उत्तर के साथ-साथ उसमें मानव का दोष नहीं होता। नाटकीय कथोपकथन और औपन्यासिक कथोपकथन में महान् अन्तर होता है। जहाँ उपन्यासकार अपने कथोपकथन को विस्तार देता है वहाँ नाटककार को एक उचित सीमा के भीतर शिष्ट और संयत वाक्यों में सब कुछ कह देना पड़ता है। नाटककार के कथोपकथन में अपेक्षाकृत उत्सुकता की मात्रा अधिक रहती है। प्रसाद के कथोपकथन में सब कुछ है, पर उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि पाठक को पग-पग पर अर्थ-सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है।

४. नृत्य, संगीत तथा दृश्य—नृत्य नाटक का एक प्रमुख अंग है। नृत्य के साथ-साथ गीत का भी स्थान है। घटना-क्रम समझाने के लिए दृश्य भी अनिवार्य होते हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में इन तीनों को उचित स्थान दिया है। उनके गीत प्रायः छायावादी

या रहस्यवादी होते हैं। इससे रस-परिपाक में कहीं-कहीं बाधा उपस्थित हो गई है। नृत्य का आयोजन कम है। दृश्य दो प्रकार के हैं। पथ और प्रकोष्ठ। राजकीय पात्र अधिकांश प्रकोष्ठ पर दिखाये गये हैं। राजनीतिक संघर्ष के कारण व्याकुल साधारण पात्र पथ पर मिलते-जुलते हैं। पथ और प्रकोष्ठ के अतिरिक्त वन तथा उपवन की भी छटा उनके नाटकीय दृश्यों में मिलती है। स्कन्दगुप्त में दृश्यों की विचित्रता और नवीनता अधिक है। प्रसाद ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी सन्निवेश किया है।

५. अभिनयशीलता—प्रसाद के नाटक अभिनयशील नहीं हैं। भाषा की क्लिष्टता, काव्य की साहित्यिकता तथा अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने रंगमंच की शोभा बढ़ने के लिए अपने नाटकों की रचना नहीं की। नाटक के लिए बाहरी रंगमंच ही सब कुछ नहीं है। रंगमंच को नाटककार के अनुसार अपना विकास करना पड़ता है। रंगमंच के अनुसार नाटकों की रचना करना नाटक-मंडलियों का काम है। साहित्यिक नाटककार जब नाटक लिखने बैठता है तब उसके सामने नाट्य-साहित्य की परम्पराएँ और मानव-हृदय का अन्तर्द्वन्द्व होते हैं। वह नाट्य-साहित्य की परम्पराओं का न्यूनाधिक सहारा लेकर अपनी कल्पना तथा अनुभूति से जिस नाटक की रचना करता है उसमें मानव-हृदय बोलता रहता है। वह प्रस्तुत रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करता। यदि वह ऐसा करने लगे तो न तो रंगमंच का ही विकास हो सके और न नाट्य-कला का ही। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों में अभिनयशील न होने का जो दोष है वह क्षम्य है। फिर भी कुछ काट-छाँट के पश्चात् उनके कतिपय नाटक रंगमंच की शोभा बढ़ा सकते हैं। चन्द्रगुप्त, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त तथा अजातशत्रु का अभिनय 'साधारण' परिवर्तन के साथ बड़ी सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

६. अन्य विशेषताएँ—प्रसाद के नाटकों की, उपर्युक्त पंक्तियों में,

जो आलोचना की गई है उससे उनकी विशेषताओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है, पर उन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। अतः निम्न पंक्तियों में उन्हीं पर प्रकाश डाला जायगा—

[१] प्रसाद के अधिकांश नाटक करुण सुखान्त होते हैं। इस दिशा में उन्होंने न्यूनाधिक भरत मुनि की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया है। उनके नाटकों में पहले फलागम का पता नहीं चलता, पर संघर्ष बढ़ता रहता है और अन्त में नायक को शान्ति प्राप्त होती है।

[२] कला की न्यूनाधिक स्वतंत्रता लेते हुए भी प्रसाद ने कतिपय प्राचीन परिपाटियों का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने नाटकों में स्वगत, विदूषक और गान का विधान प्राचीन नाट्य-परम्परा के अनुसार ही किया है। 'सज्जन' नामक एकांकी नाटक में नान्दी का सर्व प्रथम आना और उसके पश्चात सूत्रधार का अपनी स्त्री से नाट्याभिनय के लिए प्रस्ताव करना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन नाट्य-कला के प्रति उनकी सहानभूति थी। आगे चलकर यद्यपि उनकी इस सहानुभूति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो गया तथापि उनके कथोपकथन तथा दृश्य-वर्णन में प्राचीन परिपाटी का रंग मिलता है। वर्जित दृश्य दिखाने में उन्होंने अपनी स्वतंत्रता से काम लिया है। इस प्रकार वह कहीं प्राचीन और कहीं नवीन, दोनों एक साथ हैं।

[३] प्रसाद के नाटकों पर सामयिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का भी प्रभाव है। उन्होंने भारतीय आख्यान के पुरातन कलेवर में नूतन-प्राण प्रतिष्ठा कर दी है। भारतेन्दु-काल में लोगों का अंगरेजी सत्ता में विश्वास था, पर बंगाल-विभाजन के पश्चात् स्वदेश-प्रेम और स्वराज्य की जो लहर फैली उसने देश की राजनीति को ही नहीं साहित्य को भी प्रभावित किया। प्रसाद इस प्रभाव से वञ्चित न रह सके। उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण,

उज्वल और पवित्र चित्र भर दिये कि अतीत हमारे लिए वर्तमान हो गया। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा यदि पुरुष-चरित्रों में महान हैं तो दिवकी, देवसेना, अलका तथा वासवी भारतीय देवियों के चित्र हैं। ऐसे चरित्र हमारे लिए प्राचीन होने पर भी चिर नवीन हैं।

[४] प्रसाद प्राचीन साहित्य-प्रेमी हैं। उन्हें अपने प्राचीन गौरव से विशेष प्रेम है। प्रत्येक युग एक दूसरे युग का जन्मदाता होता है, अतएव वर्तमान को समझने के लिए हमें भूतकाल की ओर तथा भविष्य को समझने के लिए वर्तमान काल की ओर दृष्टिपात करना पड़ता है। इतिहास से हमें इसी प्रकार के दृष्टिपात के लिए एक प्रकाश मिलता है जिसकी साहित्य में हम अवहेलना नहीं कर सकते। प्रसाद के नाटक प्राचीन भारत की जो झाँकी हमारे सामने उपस्थित करते हैं उससे हमें प्रोत्साहन मिलता है। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर उनके सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। आलोचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनका यह इतिहास-प्रेम कहीं-कहीं अतिरेक भी हुआ है। इससे उनका कलाकार का रूप दब-सा गया है और वस्तु-संकलन तथा कार्य-संकलन पर भी आघात पहुँचा है, पर इन दोषों के होते हुए भी उनका नाट्य-साहित्य अपने में महान् है।

[५] प्रसाद पहले रहस्यवादी कवि और बाद में नाटककार हैं। इसलिए उनके पात्र अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर कथोपकथन करते हैं। पर सर्वत्र सभी पात्रों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। प्रसाद की शैली और विचार का क्रमशः विकास हुआ है। इसीलिए उनके नाटक असम महत्त्व के हैं। उनकी भाषा, उनकी शैली, उनकी विचारधारा पात्रों के योग्य तथा देश और काल के सम्यक् प्रभाव से बदलती रहती है। भावावेश में ही उनकी भाषा, कल्पना और अलंकारों का उपयोग करती है और धीरे-धीरे कवित्व का रूप धारण कर लेती है। ऐसे ही अवसरों पर उन्होंने अपने नाटकों में गीतों का समावेश किया है।

[६] प्रसाद के नाटकों में उनकी दार्शनिकता के कारण गंभीरता आ गई है। इसीलिए उसमें हास्य-रस का एक प्रकार से अभाव है। उनके नाटकों में करुण, शान्त और शृंगार रसों की प्रधानता है। प्रत्येक नाटक का अवसान प्रायः शान्त रस में होता है।

[७] प्रसाद नियतिवादी कलाकार हैं, उनका नियतिवाद उनके नाटकों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है, पर वह उनकी निराशा का, उनकी अकर्मण्यता का कारण नहीं बनता। कबीर की भाँति वह नियति से जूझने का, उससे लोहा लेने का प्रयास करते हैं। नियति-सम्बन्धी उनकी यह धारणा उनकी विचारधारा को, उनके साहित्य को ऊँचा उठाने में समर्थ हुई है।

प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय

हम यह बता चुके हैं कि प्रसाद के नाटकों पर बंगला-साहित्य के नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव है, पर प्रसाद की मौलिकता तथा विषय की गम्भीरता ने उसे उभरने का अवसर नहीं दिया। इसीलिए दोनों कलाकारों की कृतियों में हमें महान् अन्तर दिखाई देता है। दोनों इतिहास-प्रेमी हैं, भारत के प्राचीन वैभव के उपासक हैं; पर जहाँ प्रसाद अपने नाटकों की सामग्री बौद्धकालीन भारत से ग्रहण करते हैं वहाँ राय बाबू मुग़लकालीन भारत से अपने नाटकों की कथावस्तु का संकलन करते हैं। हिन्दू राष्ट्रीयता की दृष्टि से बौद्धकालीन भारत मुग़लकालीन भारत से अपेक्षा अधिक वैभवपूर्ण और ओजस्वी रहा है। बौद्धकालीन भारत की हमारी सभ्यता और संस्कृति का जो रूप है वह मुग़ल-काल में मिलना दुर्लभ है। मुग़ल-काल हमारी पराजय का—हमारे ह्रास का—काल है; बौद्ध-काल हमारे उत्थान, यश और वैभव का। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों का क्षेत्र द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत, गम्भीर, रहस्यमय और भारतीय है। इसके अतिरिक्त राय बाबू के नाटकों में मानव-हृदय और मस्तिष्क का वह अन्तर्द्वन्द्व नहीं है जो हमें प्रसाद के

नाटकों में देखने को मिलता है। राय बाबू के नाटकों का मुख्य उद्देश्य है बंगीय रंगमंच को उन्नत करना और लोकरुचि के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करना। इसीलिए उनकी रचनाएँ अन्तर्द्वन्द्व प्रधान न होकर घटना-प्रधान हैं। इसके विरुद्ध प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना साहित्य को ऊँचा उठाने और उसका गौरव बढ़ाने के विचार से की है। वह अपने नाटकों में न तो लोक-रुचि की चिन्ता करते हैं और न रंगमंच की। राजनीतिक क्रान्ति, प्रणय के घात-प्रतिघात और आत्मिक अन्तर्द्वन्द्व के बीच वह साहित्य को कल्याणकारी साहित्य को—जन्म देते हैं। उनका उद्देश्य है मानव-प्रवृत्तियों का संस्कार। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए वह अपने नाटकों में उतनी ही घटनाओं का सन्निवेश करते हैं जितनी से उन्हें अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने में सहायता मिलती है। पर द्विजेन्द्र बाबू का उद्देश्य मानव-प्रवृत्तियों का संघर्ष उपस्थित करना नहीं है। इसलिए उनके नाटकों में उतने ही अन्तर्द्वन्द्व हैं जितने से कथावस्तु के विकास में सहायता मिलती है। यही कारण है कि राय बाबू के नाटकों में हमें जीवन की ऊपरी चहल-पहल मिलती है और प्रसाद के नाटकों में जीवन की गम्भीरता।

प्रसाद तथा राय बाबू की नाट्य-कला के सम्बन्ध में जो अन्तर ऊपर की पंक्तियों में दिखाया गया है वही अन्तर न्यूनाधिक रूप में हिन्दी के अन्य नाटककारों की नाट्य-कला में पाया जाता है। इस समय हिन्दी-साहित्य में लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, बेचन शर्मा, उग्र, सुदर्शन, भट्ट जी आदि उत्कृष्ट लेखक हैं, पर इन कलाकारों की कृतियों के पीछे वह साधना और वह अध्ययन नहीं है जिसके लिए प्रसाद के नाटक प्रसिद्ध हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों की कथा वस्तु-सामग्री पर वर्षों मनन किया है, उसे सजाया और सँवारा है और तब उसे साहित्य का रूप दिया है। उन्होंने अपनी ऐसी कृतियों से ही हिन्दी-नाट्य-साहित्य को ऊँचा उठाया है और उसे एक नवीन

दिशा की ओर अग्रसर किया है। उनके नाटकों के अध्ययन से हमारी अतीत की स्मृतियाँ जाग्रत होती हैं, हमारी भावनाओं का संस्कार होता है, हमारी राष्ट्रीयता को बल मिलता है और हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा होती है। उनके नाटकों में हम देख सकते हैं कि हम क्या थे और अब क्या हैं। इस प्रकार प्रसाद अपने नाटकों में नवभारत के स्रष्टा और उसके पथ-प्रदर्शक हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के वह अमर कलाकार हैं। उन्होंने अपने नाटकों में अपने आदर्शों की स्वयं रचना और रक्षा की है। इसीलिए वह प्रभावित होकर भी प्रभावित से नहीं जान पड़ते। वह अपनी रचनाओं में अक्षरशः मौलिक हैं। उन्होंने अपनी रुचि और अपनी प्रतिभा के अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों के सम्मिश्रण से एक स्वतंत्र शैली बना ली है और उसका उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

प्रसाद का निबन्ध-साहित्य

प्रसाद ने उपन्यास, कहानी और नाटक ही नहीं, उत्कृष्ट निबन्ध भी लिखे हैं। उनके निबन्धों की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में उनके वे निबन्ध आते हैं जो प्रारंभिक काल में लिखे गये हैं और चित्राधार में प्रकाशित हुए हैं। चित्राधार में पाँच प्रबन्ध हैं—दो कथा-प्रबन्ध के रूप में और तीन गद्य-काव्य के रूप में। इन निबन्धों की शैली शिथिल, असंयत और बिखरी हुई है। उनके दूसरे प्रकार के वे निबन्ध हैं जो उन्होंने भूमिका के रूप में लिखे हैं। इन निबन्धों से उनकी साहित्यिक पहुँच, उनकी अध्ययनशीलता तथा उनके साहित्यिक आदर्शों का पता चलता है। कामायनी महाकाव्य समाप्त करने के पश्चात् इन्द्र पर एक नाटक लिखने का उनका विचार था और उसके लिए उन्होंने सामग्री भी एकत्र की थी। वह सामग्री निबन्ध के रूप में प्रकाशित हुई और इससे पता चला कि इन्द्र ही प्राचीन आर्यावर्त के प्रथम सम्राट् थे। इससे प्रसाद की प्रखर प्रतिभा और गवेषणात्मक शक्ति का आभास मिल जाता है।

तीसरी श्रेणी में प्रसाद के उन निबन्धों की गणना की जाती है जिन का संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के नाम से किया गया है। यह निबन्ध-भाग, भाषा तथा शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन निबन्धों को, उनके प्रथम निबन्धों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने बीस वर्ष की अवधि में अपने को कितना ऊँचा उठाया है।

प्रसाद की काव्य-साधन

प्रसाद की प्रतिभा के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वह प्रथम श्रेणी के कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका इसी रूप में अधिक मान हुआ है। हम यह भी लिख चुके हैं कि उन्हें अपने पारिवारिक वातावरण में ही सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा मिली थी। वह अपने घर की साहित्यिक गोष्ठियों में बैठते थे और समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों की कविताओं का आनन्द लेते थे। अतः उन्होंने अपने जीवन के प्रभात काल में जो कविताएँ की, उन पर उसी वातावरण का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वह प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित हुए और अध्ययन तथा अभ्यास से उनकी प्रतिभा का विकास हुआ तब उनकी काव्य-शैली ने भी अपना रूप बदल दिया। इस प्रकार वह प्राचीन युग की काव्य-साधना से निकलकर नवीन युग की काव्य-साधना के अग्रगामी बन गये। रचना-क्रम के अनुसार उन्होंने आठ काव्य-ग्रन्थ—१. चित्राधार, २. कानन-कुसुम, ३. महाराणा का महत्त्व, ४. प्रेम-पथिक, ५. झरना, ६. आँसू, ७. लहर और ८. कामायनी—लिखे हैं। इन काव्य-ग्रन्थों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

१. काव्य-विषय में नवीनता-प्रसाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह वह समय था, जब उसमें अनैसर्गिक काव्य-व्यापार चल रहा था। उसमें यदि एक ओर रीतिकालीन परम्पराओं का पिष्ट-पेषण हो रहा था तो दूसरी

और भारतेन्दु के प्रभाव के कारण प्रतिक्रिया के रूप में कुछ ऐसे आद
र्शों की स्थापना का प्रयास हो रहा था जो काव्य की आत्मा को ऊँ
उठानेवाले नहीं थे; अतः हिन्दी कविता इस द्वन्द्व में पड़ी छटपटा र
थी। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसे समय में प्रसाद
जन्म लेकर उसे नवीन विषयों से अलंकृत किया। उन्होंने उस
मूर्च्छा दूर की, उसके बन्धनों को काट दिया और उसे नवजागर
का संदेश देकर उसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया।

२. **भाव-जगत् का संस्कार**—हिन्दी काव्य-साहित्य में नवी
विषयों के सन्निवेश के साथ ही प्रसाद ने उसे मस्ती और विह्वल भावु
कता के भँवर से निकालकर एक दृढ़, स्वस्थ और सन्तुलित मानसि
पृष्ठभूमि पर स्थापित किया। उनके समय में कवियों के दो वर्ग थे—
एक वर्ग शृंगार के नाम पर नारी-शरीर का अत्यन्त स्थूल और उत्तेज
वर्णन कर रहा था और दूसरा उसका बहिष्कार। काव्य-साहित्य के लि
इस प्रकार की दोनों धारणाएँ अहितकर थीं। इसलिए प्रसाद ने एक
सच्चे कलाविद् के रूप में पहली बार विकृत शृंगार के प्रति विद्रोह
किया और उसके स्वार्थरहित और व्यापक रूप का परिचय दिया।
वह प्रारंभ से ही मानवता के लिए स्वास्थ्यकर साहित्यिक पृष्ठभूमि की
रचना में संलग्न हुए। इसके लिए उन्होंने प्रकृति को अपना उपादान
बनाया और उसी में सनातन पुरुष को विराट् प्रकृति-नारी का सौंदर्य
देखा। ऐसा करने में उन्होंने दो आदर्शों की पूर्ति की। एक ओर तो
उन्होंने शृंगार के विकृत स्वरूप का परिष्कार और परिमार्जन किया
और दूसरी ओर मनुष्य और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया।
धीरे-धीरे यही सामञ्जस्य विकसित और प्रस्फुटित होकर करुणा, दया
क्षमा, सहानुभूति तथा विश्व-प्रेम में परिणत हो गया। यदि ध्यानपूर्वक
देखा जाय तो प्रसाद का समस्त साहित्य इन्हीं पुन भावनाओं से ओत-
प्रोत है।

३. **नवीन कल्पना की सृष्टि**—भाव के अतिरिक्त कल्पना और

सौंदर्य का भी काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए प्रसाद ने अपने काव्य में कल्पना तथा सौंदर्य का भी विधान बड़े कलात्मक ढंग से किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं तथा उनके बाहुल्य के कारण काव्य का संतुलन विकृत हो गया है, पर इस दोष के कारण उनका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग के काव्य में कल्पना लांछित थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय नवीन कल्पनाओं की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। प्रसाद ने नई कल्पनाओं से सर्वप्रथम कविता-कामिनी का शृंगार किया। आँसू, झरना, लहर तथा कामायनी में उनकी कल्पनाओं का सौष्ठव और शृंगार देखने योग्य है। आँसू और कामायनी में भव्य प्रासाद तो कल्पना के ही आधार पर खड़ा किया गया है। इन काव्य-ग्रन्थों में कवि की कल्पना ने पृथ्वी से उठकर आकाश का चुम्बन किया है। कहने का तात्पर्य यह कि पूर्व काल में जो कल्पना काव्य-परम्पराओं से जकड़ी हुई थी, प्रसाद ने अपने काव्य में उसे मुक्तकुंतला नारी के समान पागल बना दिया है। इस पागलपन का कारण उनके काव्य का रहस्य वादी पक्ष है।

४. मानवीय सौंदर्य का चित्रण—प्रसाद का अधिकांश काव्य मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। वह प्रथमतः अशरीरी और अमूर्त भावों तथा विचारों के कवि हैं। शुद्ध मानव-सौंदर्य के चित्रण का प्रयत्न कामायनी में हुआ है। चिन्तित मनु का वर्णन देखिए—

> तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुरश्मशान
> नीचे प्रलय सिंधु लहरों का होता था सकरुण अवसान

गर्भिणी की चिन्ता का चित्र देखिए :—

> केतकी गर्भ-सा पीला मुख, आँखों में आलस भरा स्नेह
> कुछ कृशता नई लजीली थी, कंपित लतिका सी लिए देह

दशा का रूपकमय चित्रण देखिए :—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
यह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम, शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग, देते अनुराग-विराग ढाल

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद मानव-सौंदर्य के चित्रण में बड़े कुशल थे। उनकी दृष्टि बाह्य सौंदर्य के तरलतम तत्वों पर ही पड़ती थी। नारी-सौंदर्य के चित्रण की जो परम्परा विद्यापति और सूरदास के काव्य में होती हुई देव और पद्माकर तक पहुँची थी, उसके वह विरोधी थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य को नारी के नग्न सौंदर्य के चित्रण से सर्वथा अछूता रक्खा।

५. प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण—मानवीय सौंदर्य के चित्रण के साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण भी प्रसाद के काव्य की एक विशेषता है। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी दृष्टि सर्वप्रथम प्रकृति के सौंदर्यपूर्ण गति-विधानों पर ही गई थी। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी काव्य-प्रेरणा का मुख्य आधार प्राकृतिक सौंदर्य ही है। प्राकृतिक सौंदर्य ने ही उनकी काव्य-कला को वाणी दी है और उनके काव्यमय जीवन का विकास किया है। उनकी समस्त रचनाएँ प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण से ओत-प्रोत हैं। उनके काव्य में हमें प्रकृति के अनेक रूपों के शुद्ध एवं रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं, रहस्यात्मक इसलिए कि उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम को दर्शन की दृढ़ भित्ति पर खड़ा किया है। कामायनी में प्रकृति के इसी विराट् एवं रहस्यमय रूप का अंकन है। कथावस्तु में प्रकृति को इस प्रकार गूँथ दिया गया है कि दोनों को पृथक् करना कठिन हो जाता है। आरंभ में प्रलय का चित्र देखिए :—

नीचे जल था, ऊपर हिम था एक तरल था, एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन

कृति की रहस्यमयी सत्ता का एक चित्र देखिए :—

महानील उस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत् कण करते हैं किसका संधान

'लहर' में सूर्योदय का एक सुन्दर चित्र देखिए :—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अंगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

वस्तुतः प्रसाद के प्राकृतिक चित्रों का ऐश्वर्य और उनका वैभव अद्भुत है। वह जिस दृश्य का वर्णन करते हैं, उसका पूरा चित्र कुशल चित्रकार की भाँति पाठकों के सामने उतार देते हैं।

६. भाव-सौंदर्य की स्थापना—हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद यौवन और प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में यौवन के बड़े ही मार्मिक, सजीव और हृदयग्राही चित्र उतारे हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ कुछ प्रेम-सम्बन्धी हैं, कुछ भक्ति-सम्बन्धी, कुछ पौराणिक आख्यान-सम्बन्धी और कुछ प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी। इन कविताओं में भावों की उतनी निगूढ़ता नहीं है जितनी विषय-विन्यास की नवीनता है। प्रसाद का भाव-सौंदर्य देखने के लिए हमें आँसू, झरना, लहर कामायनी तथा नाटकीय गीतों का अध्ययन करना चाहिए। इन काव्य-ग्रन्थों में भावों का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद हर्ष-विषाद-युक्त मानवीय मनोभावों के कवि हैं। वह मानवीय मनोभावों से इतने प्रभावित हैं कि मानव ही उनके चिन्तन की इकाई बन गया है। हमें उनकी रचनाओं में सौंदर्य और प्रेम के मनोवृत्त्यात्मक

तथा वर्णनात्मक दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों का प्राकृतिक सौंदर्य के साथ इस प्रकार गँठबन्धन हो गया है कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण प्रतीत होता है। उनके सौंदर्य और प्रेम में ऐहिक भावना के साथ-साथ मानवीय मनोवृत्तियों को उन्नत रूप देने वाली उदात्त भावनाएँ भी हैं। उनकी ऐसी ही उदात्त भावनाओं में ही हमें उनके रहस्यवाद का परिचय मिलता है। यौवन के प्रति कवि के आग्रह का एक चित्र लीजिए :—

यौवन ! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पीलूँ जो रस तू है लाया

प्रसाद के यौवन के चित्र बड़े संयत, गम्भीर और आदर्श की पूर्ति में सहायक होते हैं। यद्यपि ऐसे चित्रों के अंकन में कल्पना का योग अत्यधिक रहता है तथापि वे वास्तविक-से जान पड़ते हैं। यौवन का एक चित्र लीजिए :—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल-से तुम आये।

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद अपने भावों के सुन्दर चित्र उतारने में बड़े कुशल हैं। उनकी भावाभिव्यंजना आकर्षक, सरस, सांकेतिक और वैभवयुक्त होती हैं।

७. रहस्यवाद और छायावाद—प्रसाद वर्तमान युग के प्रथम छायावादी कवि थे। उन्होंने हिन्दी-काव्य-जगत् में छायावाद की मधुर रागिनी उस समय छेड़ी थी जिस समय बंगला-साहित्य में महाकवि रवीन्द्रनाथ की धूम थी। वह उनकी गीताञ्जलि से बहुत प्रभावित थे। हम पहले कह चुके हैं कि उनके कवि-रूप को सार्थक बनाने में प्रकृति का बड़ा हाथ था। वस्तुतः प्रकृति ही उनके मस्तिष्क और हृदय को, उन के विचारों और भावों को एक सूत्र में बाँधकर अभिनव रूप देने में

समर्थ हुई थी। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा ज्ञान पड़ता है कि प्रकृति अपने सम्मोहक रतिरूप में खड़ी होकर उन्हें अपनी ओर बुला रही थी और वह उसके संकेत पर उसकी ओर खिंचे चले जा रहे थे। प्रकृति-सुन्दरी के इस प्रकार के आकर्षण के साथ-साथ उन पर अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। ऐसी दशा में उनका छायावादी हो जाना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद को छायावादी कवि बनाने में चार बातें मुख्य हैं—१. प्रकृति-प्रेम, २. अज्ञात के प्रति उनकी स्वाभाविक जिज्ञासा, ३. दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन और ४. गीताञ्जलि का प्रभाव। इन्हीं प्रभावों के कारण उन्होंने प्रकृति में मनुष्य का—मानव जीवन-का—प्रतिबिम्ब देखा है और उसे कवि की हैसियत से चित्रित किया है। छायावादियों के दो वर्ग होते हैं—एक तो अन्योक्ति कहकर उपदेश देनेवाले और दूसरे कवि। प्रसाद दीनदयाल गिरि की भाँति अन्योक्तियों का सहारा लेकर उपदेश नहीं देते। वह छायावादी कवि हैं। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वह बाह्य परिस्थितियों की भावुकता से संचालक अथवा उनसे संचालित जीवन के रहस्यों से उद्वेलित होते हैं। ऐसी दशा जब उनके काव्य-जीवन में आती है तब वह रहस्यवादी हो जाते हैं। इस प्रकार प्रसाद अपनी रचनाओं में कहीं छायावादी और कहीं रहस्यवादी के रूप में आते हैं। छायावादी कवियों की भाँति रहस्यवादी कवि भी दो प्रकार के होते हैं—एक विचारक और दूसरे कवि। प्रसाद रहस्यवादी कवि हैं और उनके ये दोनों रूप—छायावादी और रहस्यवादी—आनन्दमय हैं। रहस्यवादी कवि के रूप में वह आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए हैं और छायावादी कवि के रूप में वह प्राकृतिक सौंदर्य में मानव-जीवन का सौंदर्य देखते हैं। छायावाद का उदाहरण लीजिए :—

रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

गूँज उठी तेरी पुकार कुछ
कन कन विमवदान कर अ

रहस्यवाद का उदाहरण लीजिए :—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम कुछ हो
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत यही कर

८. प्रेम-साधना—प्रसाद प्रेम और वासना
हिन्दी के प्रथम कवि हैं। प्रेम के प्रति उनका दृ
है। उनका प्रेम-निरूपण न तो एकदम अलौकि
लौकिक। लौकिक और अलौकिक के बीच उनके
है। उनका प्रेमी लौकिक प्रेम में अध्यात्म का स
निरूपण की यह धारणा सर्वथा नवीन है। भक्ति-काल
को इतना ईश्वरोन्मुख बना दिया था कि उसमें लौकिक
हो गया था। इसके विरुद्ध रीतिकाल में कवियों ने प्रेम
को ही प्रधानता दी थी। प्रसाद ने इन दोनों मार्गों के बी
बनाया। ऐसा करने में उन्होंने भारतीय संस्कृति और यु
का भी ध्यान रक्खा। वह जीवन को अनन्त मानते थे,
मभावना भी अनन्त थी। कामायनी में उन्होंने प्रेम के
र सात्विक तीनों रूपों का चित्रण किया है। इड़ा राजस
मनु तामस प्रेम के प्रतीक हैं और श्रद्धा सात्विक प्रेम की
प्रेम का संदेश लेकर आई है

साद की अलंकार और रस योजना

प्रसाद मुख्यतः भाव-लोक के कवि हैं और रीतिकालीन परम्पराओं की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसलिए हम उनके काव्य में अलंकार अथवा रस की कोई निश्चित योजना नहीं पाते। भावों का चित्रण ही उनके काव्य का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति में अलंकारों तथा रसों का विधान गौण रूप से हुआ है। उसकी रचनाओं में हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अधिक मिलते हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी अनूठी और आकर्षक होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में जहाँ उन्होंने अलंकारों का उपयोग किया है, वहाँ भी उपमा, रूपक इत्यादि की ही अधिकता है और रूपकों में भी नारी-सापेक्ष्य प्रकृति की सांग-रूपकता ही का प्राधान्य है।

अलंकारों की भाँति रसों का आयोजन भी प्रसाद के साहित्य मे गौण है। उनके काव्य में रस-परिपाक अपने स्वाभाविक रूप में हुआ है। भावों तथा कल्पनाओं की क्लिष्टता के कारण कहीं-कहीं बाधाएँ भी उपस्थित हुई हैं। उनकी रचनाएँ शृंगार-रस-प्रधान होती हैं जिनका अवसान शान्त रस मे होता है। इन दो रसों के अतिरिक्त करुण-रस भी उनकी रचनाओं में मिलता है।

प्रसाद की द-योजना

प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य कई छन्दों में है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ प्रायः घनाक्षरी में हैं। खड़ी बोली में अपने विशिष्ट काव्य के प्रकाशन के लिए उन्होंने नये छन्दों का आयोजन किया है। इन नये छन्दों में अतुकान्त कविताओं का प्रमुख स्थान है। प्रेम-पथिक इसी छन्द में लिखा गया है। यद्यपि उनके पहले भी कुछ अतुकान्त कविताएँ लिखी गई थीं तथापि भाव एवं भाषा के सामञ्जस्य की दृष्टि से जैसी रोचकता प्रसाद के अतुकान्त छन्दों में पाई जाती है, वैसी उनमें नहीं है। प्रसाद ने भाव और छन्द को एक नवीन आवरण

देने की अभिलाषा से ही अतुकान्त छन्दों की सृष्टि की। काव्य में अतुकान्त छन्दों की आवश्यकता पड़ती है गीति-नाट्य अथवा कथात्मक प्रबन्ध-काव्य में। प्रसाद ने गीति-नाट्य-'करुणालय' अतुकान्त छन्दों में ही लिखा। इस समय अतुकान्त छन्द के दो रूप सामने हैं—एक गुप्त जी द्वारा अनुवादित मेघनाद-वध का घनाक्षरी से उत्पन्न मित्राक्षरी छन्द और दूसरा घनाक्षरी के प्रवाह के अनुरूप निराला का अतुकान्त मुक्त छन्द। प्रेम-पथिक के अतिरिक्त प्रसाद ने जो अतुकान्त कविताएँ लिखी हैं वह प्राय: घनाक्षरी छन्द के प्रवाह पर ही चली हैं। प्रेम-पथिक में उनके अतुकान्त छन्दों का नवीन प्रयोग है। अपने इस प्रयोग में भी वह सफल हैं। उन्होंने पन्त और निराला जैसी स्वतंत्रता से अपने अतुकान्त छन्दों में काम नहीं लिया है। उन्होंने 'सानेट' (Sonnet) जैसी अँगरेजी और त्रिपदी और पयार जैसे बंगाली छन्दों का भी बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। अपने काव्य-ग्रन्थ 'आँसू' में उन्होंने एक निश्चित छन्द का प्रयोग किया है। यह बड़ा लोक-प्रिय छन्द है। कामायनी का अन्तिम सर्ग इसी छंद में लिखा गया है। इन छंदों के अतिरिक्त कामायनी में ताटंक, पादाकुलक, रूपमाला, सार, रोला आदि छंद भी मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह अपनी छंद-योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं।

प्रसाद की भाषा

भाषा की दृष्टि से प्रसाद का साहित्य अपनी कई विशेषताओं के साथ हमारे सामने आता है। हम यह बता चुके हैं कि वह उच्च कोटि के कलाकार थे। इसलिए उन्होंने नवयुग का साहित्य निर्माण करने में भाषा का बहुत ध्यान रखा। उनकी भाषा हमें दो रूपों में मिलती है—व्यावहारिक भाषा और संस्कृत-प्रधान भाषा। आरम्भ में उनकी रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी, पर ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया, विचारों और भावों में परिपक्वता आती गई त्यों-त्यों उनकी भाषा भी गंभीर होती गई। इसीलिए उनकी

प्रारंभिक रचनाओं में हमें व्यावहारिक भाषा मिलती है। गद्य में उनकी भाषा खड़ी बोली है, पर पद्य में उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा खड़ी-बोली दोनों का प्रयोग किया है। इसी कारण से उनकी भाषा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और प्रवाह में बाधा भी पड़ी है। इसके बाद हमें उनकी संस्कृत-प्रधान भाषा मिलती है। मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने तथा गंभीर विषयों के विवेचन में ही उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त होने के कारण क्लिष्ट अवश्य हो गई है, पर उसकी स्वाभाविकता और प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है। उनकी भाषा में प्रयत्न नहीं है। संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होंने इतना अपना लिया है कि भाषा उनके विचारों का अनुगमन मात्र करती है। उनका शब्द-चयन अद्वितीय है। उनकी रचनाओं में एक-एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा हुआ ज्ञात होता है। उनके वाक्य उनकी विचारधारा के साथ चलते हैं और विचारों की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है। उनकी रचनाओं में गूढ़ वाक्य प्राय: सूत्र की भाँति प्रतीत होते हैं। मुहावरों का उनकी रचनाओं में अभाव है, पर वह खटकता नहीं। कुछ मुहावरे अपने प्रकृत रूप में न आकर कृत्रिम रूप में आये हैं जिससे उनका सौंदर्य बिगड़ गया है और प्रयोग भी खटकता है। कहावतें तो मिलती ही नहीं। गम्भीर विषयों के विवेचन में इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कदाचित् इसी कारण से उन्होंने मुहावरों तथा कहावतों के प्रयोग से अपनी भाषा को सजाने की चेष्टा नहीं की। उनकी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी बहुत कम हैं। नाटकीय कथोपकथन में उनके समस्त पात्रों की भाषा एक-सी है, इसलिए उसमें अस्वाभाविकता आ गई है। पात्रों के अनुकूल ही उनकी भाषा का उतार-चढ़ाव होना चाहिए। नाटकों की भाषा उनके उपन्यासों की भाषा से कठिन है, पर उसमें सर्वत्र माधुर्य, ओज और प्रवाह बना हुआ है। इन विशेषताओं

के अतिरिक्त उनकी भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है । इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है । इसलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं करते । मिल्टन और स्टीवेन्सन की भाँति उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण साधारण पाठकों के लिए नहीं किया है । वह विचारक समालोचक और तत्वदर्शी हैं । इसलिए उनकी भाषा भी वही समझ सकते हैं जिनकी गंभीर विषयों में पहुँच है । पांडित्य-प्रदर्शन उनकी भाषा का उद्देश्य नहीं है और न उन्होंने शब्दों के साथ खेल किया है । अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शब्द की इन तीनों शक्तियों से उन्होंने अपने मनोभावों के स्पष्टीकरण में सहायता ली है और वह सफल हुए हैं । अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनके भावों तथा विचारों की भाँति उनकी भाषा का भी विकास हुआ है और ज्यों-ज्यों वह लिखते गये हैं त्यों-त्यों उसमें प्रौढ़ता, सौंदर्य, प्रवाह और सौष्ठव आता गया है ।

भाषा की भाँति प्रसाद की शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है । उनकी शैली पर उनके विषय, उनकी स्वाभाविक रुचि, उनके गंभीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव है । इसलिए उसमें इतना अपनापन है, इतना 'प्रसादत्व' है कि समस्त आधुनिक साहित्य में उनका एक वाक्य भी छिप नहीं सकता । वह अपने प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक पद में बोलते हुए से जान पड़ते हैं । छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना और फिर उसमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है । वह अपनी शैली में गम्भीर भी हैं और सहृदय भी । प्रयत्न और प्रयास के अभाव के कारण उसमें स्वाभाविकता बनी हुई है । अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वह जैसी उपमाओं और उक्तियों का विधान करते हैं, वैसी अन्यत्र मिलना कठिन है । उनकी शैली में काव्यात्मक चमत्कार है । यह चमत्कार

प्रसाद की शैली

वह अपनी रचनाओं में केवल इसीलिए ला सके हैं कि वह अपने पाठक के दुःख-सुख को, उसकी आशा-निराशा को, उसके उत्थान-पतन को, उसके अनुराग-विराग को समझने और अपनाने में समर्थ हुए हैं। जब वह भावावेश में आते हैं तब उनकी भावात्मक शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह पाठक को अपने में निमग्न कर लेती है। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी शैली में समा जाता है। शब्दों द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता उत्पन्न करने में उनकी शैली बेजोड़ है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य सब जगह हमें उनकी शैली की यह विशेषता स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी शैली अपना प्रभाव डालने में समर्थ होती है। कहीं-कहीं इस प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में मार्मिक व्यंग्य का भी समावेश किया है। ऐसे स्थलों पर उनकी व्यंग्यात्मक शैली का सहज माधुर्य देखने योग्य होता है। उसमें कसक नहीं, मिठास होती है जिसका आनन्द वक्ता और श्रोता दोनों समान रूप से लेते हैं। यह तो हुई उनके गद्य-साहित्य की बात। पद्य साहित्य में उनकी शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपने काव्य-साहित्य को जिस प्रकार नये ढंग से अलंकृत किया है वह हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में अपना एक निजी महत्व रखता है। वह अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। अँगरेजी, बँगला तथा संस्कृत साहित्य से उन्होंने जो कुछ सीखा और अपनाया है उस पर उनके व्यक्तित्व की इतनी स्पष्ट छाप है कि उसका विदेशीपन दूर हो गया है। अब यदि हम संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में कहना चाहें तो केवल इतना कह सकते हैं कि उनकी शैली सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, ओजमयी, प्रभावशाली, चुटीली और संवेदनशील होती है। चित्रोपमता उनकी शैली का विशेष गुण है।

अब तक हमने प्रसाद और उनके साहित्य के विविध अंगों पर [illegible]
दृष्टि से, संक्षेप में, विचार किया है उससे स्पष्ट है कि उनकी प्रति[illegible]
बहुमुखी थी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के वह निर्मा[illegible]
थे। उन्होंने अपने अध्ययन और चिन्तन से हिन[illegible]

प्रसाद का हिन्दी-साहित्य में स्थान

को उन्नत रूप दिया और अपनी रचनाओं का दा[illegible] देकर उसे सबल और प्रौढ़ बनाया। क्या नाट[illegible] क्या कहानी और उपन्यास; क्या गीति काव्य औ[illegible] महाकाव्य, क्या इतिहास और निबन्ध सब उनकी प्रतिभा से पवित्र और पुष्ट हुए हैं। एक ओर उनकी कविताएँ साहित्य के निष्णात पंडितों और आचार्यों के अमीप समाद[illegible] हुई हैं तो दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रणाली के अनेक कवियों का पथ-प्रदर्शन किया है। हिन्दी के कथा-क्षेत्र में वह एक नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। उनका नाट्य-साहित्य अपने ढंग का निराला और अद्वितीय है। उसमें पात्रों की नवीनता और भावों की गम्भीरता के साथ-साथ चरित्र-चित्रण का माधुर्य सोने में सुगन्ध का काम करता है। उनके उपन्यास उच्च वस्तुवादी कला के श्रेष्ठतम् उदाहरण हैं और उनमें समाज-निर्माण की कई नवीन समस्याओं का विश्लेषण है। जिस प्रकार गुप्तजी को काव्य के क्षेत्र में कथा-वस्तु-द्वारा भावोद्भावना होती है। उसी प्रकार प्रसाद को उपन्यास के क्षेत्र में भाव एवं विचार द्वारा कथा-सृष्टि की स्फूर्ति मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में निम्न वर्ग के—ग्रामीण जीवन के—चित्र बड़ी सफलतापूर्वक उतारे हैं और प्रसाद ने उच्च वर्ग के नागरिक जीवन के। इसीलिए प्रसाद के पात्र अपनी-अपनी शिक्षा के आलोक में प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक दार्शनिक, तत्ववेत्ता और विचारक हैं। उनमें पतितों के प्रति सहानुभूति और करुणा का भाव है। इसका एक कारण है। प्रसाद ने अपनी साहित्य-साधना में बौद्ध-साहित्य एवं दर्शन से करुणा का बौद्धिक दृष्टिकोण ग्रहण किया और हिन्दू-दर्शन एवं उपनिषद्,

विशेषतः वेदान्त से स्थायी एवं विराट् चेतना का आधार लिया। इसके साथ शैव-तत्त्व-ज्ञान से उनको आनन्द और उत्फुल्लता तथा उसी के साथ शक्ति के अभेदत्व की अनुभूति प्राप्त हुई। इस प्रकार तीन तत्त्व-ज्ञानों से उन्होंने अपनी साधना का सूत्र ग्रहण किया और उसको अपनी बुद्धि एवं चेतना के प्रकाश में एक उज्ज्वल और कल्याणकारी रूप प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी साधना का सारा आधार बौद्धिक था। अपनी इसी बौद्धिक प्रतिभा और शक्ति के कारण उन्होंने जीवन के अनेक संघर्षों से लोहा लिया और अन्ततः साहित्य-स्रष्टा के रूप में सफल हुए। उनका जन्म दो शताब्दियों के संक्रान्ति काल में हुआ था। वह उन्नीसवीं सदी में उत्पन्न हुए और बीसवीं सदी में पनपे, पर इन दोनों सदियों के प्रभाव से अपनी बौद्धिक प्रतिभा के कारण ही वह अपने आपको बचा सके। वह स्वयं अपने निर्माता बने। उन्होंने इन दोनों शताब्दियों के बीच से होकर जाने वाले मार्ग का अनुसरण किया। इसलिए वह हमारे सामने प्राचीनता और नवीनता दोनों एक साथ लेकर आये। उनकी प्राचीनता में नवीनता और नवीनता में प्राचीनता थी। वह कहीं भी एकदम प्राचीन अथवा एकदम नवीन नहीं थे। क्या साहित्य में, क्या जीवन में उनके विकास की धारा दोनों कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। इस दृष्टि से जब हम उनके समकालीन कलाकारों की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें निराश होना पड़ता है। हम उनमें प्रसाद-जैसी न तो बौद्धिक शक्ति पाते हैं और न निश्चित विकास की रेखा। कोई साहित्यकार अपनी कृतियों की गिनती गिनाकर ही साहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी नहीं बन जाता। प्रसाद का महत्त्व हिन्दी-साहित्य में उनके प्रकाशनों की संख्या के कारण नहीं, वरन् उनकी बौद्धिक प्रतिभा और उस प्रतिभा के उत्तरोत्तर विकास के कारण है। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि जब से उन्होंने लिखना प्रारंभ किया तब से वह सदा आगे ही बढ़ते रहे और अन्त में 'कामायनी' के रूप में उन्होंने हिन्दी को ऐसा सुन्दर दान दिया जिसकी जोड़ का

आधुनिक साहित्य में कोई स्थान नहीं है। आप 'चित्राधार' से 'का
तक की उनकी समस्त रचनाएँ उठा लीजिए। किसी स्थल पर भी
उन्हें लड़खड़ाते हुए, नीचे गिरते हुए नहीं पायेंगे। उनकी रच
वस्तुतः उनके साहित्यिक जीवन की पैड़ियाँ हैं। प्रत्येक पैड़ी का
निजी महत्त्व है और वह उन्हें ऊँचा उठाती है। अतः हम कह
सकते हैं कि उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिन्दी को उन्नत कर दिया
उसकी भावधारा पर जीवन के बौद्धिक दृष्टिकोण का अंकुश
दिया। एक सच्चे साहित्यकार का यही काम है।

प्रसाद की साहित्य-साधना के सम्बन्ध में हम पिछले पृष्ठों में
कुछ कह चुके हैं। हम देख चुके हैं कि साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उ
पहुँच थी। वस्तुतः वह हिन्दी के रवीन्द्रनाथ थे। जो कार्य रवीन्द्रना
बंग-साहित्य में किया, वही काम प्रसाद ने हिन्दी में किया। बंग-भा
का परिष्कार एवं परिमार्जन करने में जिन कठिनाइयों और परिस्थि
का अनुभव रवीन्द्रनाथ को करना पड़ा, प्रसाद की कठिनाइयाँ उनमें
नहीं थी। साहित्य-साधना के क्षेत्र में दोनों कलाकार एक ही परिस्थि
से गुज़रे हैं और अपने-अपने पथ के स्वयं निर्देशक और निर्माता रहे
इन दोनों कलाकारों की प्रतिभा और अनुभूति की मात्रा में अन्त
सकता है, पर जैसे रवीन्द्रनाथ ने नाटक, उपन्यास, कहानी, कवि
निबन्ध, गीति-नाट्य सभी कुछ सफलता के साथ लिखे हैं उसी प्र
प्रसाद ने भी साहित्य के सभी क्षेत्रों को उदारतापूर्वक अपनी प्रतिभा
दान किया है। इतना होते हुए भी प्रसाद को रवीन्द्रनाथ की सी लो
प्रियता नसीब नहीं हुई। इसका कारण प्रसाद के पक्ष में उपयुक्त सा
का अभाव था। प्रसाद हिन्दी-साहित्य के मौन साधक थे। कहीं उ
और वाद-विवाद में भाग लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। वह क
कार का साहित्यिक बाजारों और मेलों में जाना उचित नहीं सम
थे। अपने घर से दूकान तक और फिर दूकान से घर तक—बस इ
ही दूर उनका आना-जाना होता था। इसलिए वह अपने पाठकों

कोई समुदाय नहीं बना सके। रवीन्द्रनाथ के पाठकों का एक समुदाय था जिसने उन्हें ऊँचा उठा दिया। इसलिए रवीन्द्रनाथ विश्व-कवि हो गये और प्रसाद हिन्दी-साहित्य तक ही सीमित रह गये, पर इससे उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के प्रति जनता की रुचि ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों प्रसाद की कला से वह प्रभावित होती गई और आज वह उन्हें आधुनिक हिन्दी-कविता के पिता के रूप में देख रही है। प्रसाद का साहित्य इतना विस्तृत और महान् है कि उस पर बराबर नई-नई आलोचनाएँ निकलती जा रही है और उनकी काव्य-कला के सौंदर्य से लोग प्रभावित होते जा रहे हैं।

प्रसाद अपने प्रमुख रूप में कवि हैं। उनके एक इसी रूप में उनके कई रूपों का समाहार और अवसान हुआ है। वह एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। उनकी समस्त रचनाएँ एक आदर्श, एक उद्देश्य से बँधी हुई है। उनमें एक ही स्वर है और वह है करुणा, दया, सहानुभूति और विश्व-प्रेम का स्वर। वर्तमान युग के पीड़ित और जर्जरित मानव को उनका यही संदेश है। दार्शनिक भाव-भूमि पर उन्होंने अपने इस संदेश को जिस प्रकार सजाया-सँवारा है, वह अपने में महान् है। लाख चेष्टा करने पर भी उसका अनुकरण नहीं हो सकता। हिन्दी के वह अद्वितीय कलाकार हैं। अपनी कल्पना के उड़ान में, अपने भावों तथा विचारों के समन्वय में, अपने प्रकृति-चित्रण में, अपने भावों को गीतात्मक रूप देने में वह नवयुग के साहित्य में अग्रगण्य हैं। उनके गीतों में जो सरसता है, जो प्रवाह, जो संगीत और मानव-जीवन का जो सत्य है उसने हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है और उसे विश्व-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

प्रसाद हिंदी के युगेतर कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में युग से ऊपर जीवन के महान् तत्त्वों में सामञ्जस्य लाने का सफल प्रयत्न किया है। वह मूलतः प्रेम, सौंदर्य और आनंद के कवि हैं। अतः उनके काव्य के सारे उपकरण इन्हीं युगेतर तत्त्वों के आधार को पुष्ट करते हैं। प्रकृति

का भी स्वतंत्र प्रयोग हम उनके काव्य में नहीं पाते। उन्होंने मानव के मनस्तत्त्व के स्थायी तत्त्वों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इस लिए वह इस युग के कवि होते हुए भी कई युगों के कवि हैं। तुलसी की भाँति उन्होंने मानव-हृदय की दुर्बलताओं और शक्तियों को इतना टटोला और परखा है कि वे उनके काव्य में चिरन्तन सत्य हो गई हैं। काव्य के सम्बन्ध में उनकी एक निश्चित धारणा थी। वह उसे प्रतिदिन के उत्ताप से, दैनिक जीवन के कोलाहलपूर्ण वातावरण से केवल अपने युग की चीज बनाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में केवल उन्हीं समस्याओं को चित्रित किया जो शाश्वत और अमर हैं। पन्त और निराला की कृतियों में हमें यह बात नहीं मिलती। उन्होंने अपने युग को सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी परखा है। उनकी रचनाएँ कभी इस युग की समस्या लेकर आई हैं और कभी युगेतर की, पर प्रसाद का सर्वत्र एक ही स्वर है। यही प्रसाद की महत्ता है और इसीलिए हम उनके साहित्य को भारतीय साहित्य की परम निधि मानते हैं। वह अपनी रचनाओं में चिर नवीन, चिर जीवित और अमर हैं। हिन्दी उन्हें ऊँचा स्थान देकर आज अपना गौरव बढ़ा रही है।

—६—

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म सं० १९५३ जीवित

कविवर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म माघ शुक्ल ११ सं० १९५३ वि० को हुआ था। उनके पिता, पं० रामसहाय त्रिपाठी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव जिले के गढ़कोला नामक गाँव के रहने वाले थे, पर जीविका के कारण

जीवन परिचय

उन्हें बंगाल जाना पड़ा। बंगाल में वह मेदनीपुर के महिषा दल राज्य में नौकरी करते थे। यहीं निराला जी का जन्म हुआ और यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। राज-दरबार की उनके पिता पर विशेष कृपा थी, इसलिए उसने अपने ओर से निरालाजी की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया।

निरालाजी अपनी बाल्यावस्था ही से स्वतंत्रता-प्रिय थे। किसी प्रकार का बन्धन उन्हें अप्रिय था। पाठशाला की बँधी पढ़ाई उनके स्वभाव के प्रतिकूल थी। इसलिए उन्होंने विविध दिशाओं में विविध

कलाओं का ज्ञान और अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। अध्ययन के अतिरिक्त उन्हें कुश्ती लड़ने और अश्वारोहण में भी विशेष आनन्द मिलता था। इन दोनों कलाओं में वह दक्ष थे। राजकीय कृपा के कारण उन्हें जीवन-निर्माण की सभी सुविधाएँ सुलभ थीं। संगीताचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण उन्हें संगीत से भी प्रेम हो गया और इस कला के भी वह पंडित हो गये। बंगला भाषा तो उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित थी। इसलिए उसका साहित्य उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने संस्कृत-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम था। अतः इसकी छाप उनके जीवन पर बराबर बनी रही।

निरालाजी धनी परिवार के बालक थे। उन्हें अपने बचपन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में हो चुका था। इससे दो संतानें हुईं—एक लड़का और एक लड़की। लड़की की तो मृत्यु हो गई, पर लड़का जीवित है। उनकी पत्नी, मनोहरा देवी विदुषी थीं। संगीत और साहित्य में उन्हें विशेष प्रेम था। निरालाजी को संगीत एवं साहित्य-साधना में उनसे विशेष प्रेरणा मिली थी और अपने दाम्पत्य जीवन से दोनों सन्तुष्ट थे। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् निरालाजी ने महिषा-दल राज्य में नौकरी भी कर ली थी। उन्हें आर्थिक संकट भी नहीं था। पर सन् १९१९ के पश्चात् उनके जीवन में महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। २२–२३ वर्ष की अल्पावस्था में उनकी पत्नी का देहान्त हो जाने से उनकी जीवन-दिशा बदल गई। उन्होंने राज्य की नौकरी त्याग दी। इससे उन्हें आर्थिक संकटों का सामना विवश करना पड़ा, पर इस बात की उन्होंने चिंता नहीं की। उनका व्यक्तित्व अत्यंत सबल था और वह जीवन के प्रत्येक संघर्ष से प्रसन्नतापूर्वक लोहा ले सकते थे।

इस समय तक निरालाजी हिन्दी-साहित्यिकों के सम्पर्क में आ चुके थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी उनकी प्रतिभा से भली-

भाँति परिचित हो चुके थे और उन्हें बराबर प्रोत्साहन दिया करते थे। इसलिए जब निरालाजी महिषा-दल राज्य से पृथक् हुए तब संवत् १६७८ में द्विवेदीजी ने उन्हें 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के प्रधान केन्द्र बैलूर मठ म 'समन्वय' का सम्पादन करने के लिए भेज दिया। निरालाजी को अपनी रुचि के अनुसार कार्य मिल गया। इस कार्य-भार को ग्रहण करने से उन्हें भारतीय दर्शन की नवीनतम व्याख्या को निकट से अध्ययन करने का शुभ अवसर हाथ लग गया। अतः उन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन और सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया। इससे उनके अपरिपक्व विचारों में प्रौढ़ता और दार्शनिकता आ गई।

'समन्वय' कलकत्ता से निकलता था, पर जब कुछ दिनों पश्चात् वहाँ स्वगाय श्री महादेवप्रसाद सेठ द्वारा हिन्दी का नवीन आयोजन हुआ और 'मतवाला' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा तब निरालाजी इसके सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। इनके विशेष प्रयत्न से यह पत्र चमक उठा और थोड़े ही दिनों में वह अत्यन्त लोक-प्रिय हो गया। यह हास्य और व्यंग्य का प्रमुख पत्र था।

'मतवाला' में एक वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् निरालाजी कलकत्ता छोड़कर लखनऊ चले आये और वहाँ कुछ दिन रहकर अपने गाँव चले गये। गाँव से आकर उन्होंने पुनः लखनऊ को ही स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बनाना पसन्द किया, पर अधिक दिनों तक वहाँ उनका जी नहीं लगा। लखनऊ के पश्चात् उन्होंने प्रयाग को अपनाया। संवत् २००३ वि० में काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा में उनकी जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई। इस जयन्ती में हिन्दी के बहुत से साहित्यिकों ने भाग लिया और उनकी साहित्यिक सेवाओं की मार्मिक शब्दों में प्रशंसा की। निरालाजी अभी जीवित हैं, पर शरीर और मन दोनों से वह शिथिल हो गये हैं। उनका साहित्यिक जीवन एक प्रकार से समाप्त हो चुका है।

निरालाजी अपने विद्यार्थी जीवन से ही कविता-प्रेमी रहे हैं। जब

वह पाठशाला में पढ़ते थे तब कभी-कभी कविता भी किया करते थे। उस समय उनकी कविताएँ बंगला भाषा में होती थीं। हिन्दी-खड़ी बोली का ज्ञान उन्हें नहीं था। तुलसीकृत रामायण का पाठ करने के कारण उन्हें ब्रजभाषा, अवधी और बैसवाड़ी का साधारण ज्ञान हो गया था। अतः कभी-कभी इन भाषाओं में तुकबन्दियाँ भी कर लिया करते थे। बाद को जब उन्होंने संस्कृत-भाषा का ज्ञान प्राप्त किया तब इस भाषा में भी उन्होंने रचनाएँ कीं। अन्त में उन्होंने बड़े परिश्रम से खड़ीबोली सीखी। 'जुही की कली' खड़ीबोली में उनकी सर्वप्रथम रचना है। उनका पहला लेख हिन्दी और बँगला के सम्बन्ध में सन् १६१६ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इन्हीं दो प्रारम्भिक रचनाओं से हिन्दी में उनके साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश हुआ और तब से अब तक वह अजस्र रूप से हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं। उनका साहित्यिक जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है। इस जीवन में प्रवेश करने पर उन्हें आचार्य द्विवेदी जी तथा श्री महादेवप्रसाद सेठ से अधिक प्रोत्साहन मिला है। निरालाजी ने स्वयं इन दोनों साहित्यकारों का आभार स्वीकार किया है। वस्तुतः निरालाजी को प्रकाश में लाने का श्रेय इन्हीं दोनों व्यक्तियों को है। 'समन्वय' और 'मतवाला' उनके साहित्यिक जीवन के निर्माण में बहुत सहायक हुए हैं।

निरालाजी हिन्दी के युग प्रवर्तक कलाकार हैं। उनकी गणना द्विवेदी-युग के आरम्भ के द्वितीय खेवे के साहित्यकारों में की जाती है। उनका साहित्यिक जीवन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १६१६ से आरम्भ होता है। तब से अब तक उन्होंने हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय सेवा की है। 'समन्वय' का सम्पादन करने के अतिरिक्त उन्होंने लगभग ५४ ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के परिवर्द्धन तथा विकास में उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही है। उनके

निराला की रचनाएँ

ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

१. **काव्य**—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका (नवीन) कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा ।

२. **उपन्यास**—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली ।

३. **कहानी-संग्रह**—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीबी ।

४. **रेखा-चित्र**—कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा ।

५. **आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह**—प्रबन्ध-पद्म, प्रबन्ध प्रतिमा, प्रबन्ध परिचय, रवीन्द्र-कविता-कानन ।

६. **जीवनियाँ**—राणा प्रताप, भीम, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला ।

७. **अनुवाद**—महाभारत, श्री रामकृष्ण-वचनामृत चार भागों में, परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्दमठ, चन्द्रशेखर, कृष्णकान्त का बिल, दुर्गेशनन्दिनी, रजनी, युगलांगुलीय, राधारानी, तुलसीकृत रामायण की टीका, वात्स्यायनकृत कामसूत्र, गोविन्द-दास पदावली पद्य में (अप्रकाशित) ।

निराला का व्यक्तित्व

हिन्दी-साहित्य-सेवियों में निरालाजी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। वह सैकड़ों में शीघ्र पहचाने जा सकते हैं। उनका शरीर उन्हें छिपा नहीं सकता। विशाल शरीर, तेजस्वी आँखें, लहराते हुए बाल और उनकी मस्तानी चाल को जिन्होंने एक बार देखा है वह उन्हें आजीवन भूल नहीं सकते। उनके मुख-मंडल की रेखाएँ किसी रोमन अथवा यूनानी मूर्ति की भाँति पूर्णतया व्यक्त, सुस्पष्ट और साथ ही सजीव भी हैं। उनकी वाणी में सिंह का-सा गर्जन और ओज है। जिस समय वह कविता-पाठ करने लगते हैं, उस समय उनकी वाणी में ओज और माधुर्य का अत्यन्त सुन्दर समन्वय सुनाई पड़ता है और वह मेघदूत के विरही यक्ष के आकार-प्रकार के से परिलक्षित होते हैं। उनके कविता-पाठ करने की एक विशेष मुद्रा है जो इतनी प्रवाहपूर्ण, आकर्षक, गम्भीर और ओजस्विनी है कि पाठक उसका अनुभव

करते हो मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं, पाठक को अपनी ओजमयी वाणी से, अपनी संगीत की स्वर-लहरी से, अपने हाव-भाव से वह इतने शीघ्र आकृष्ट कर लेते हैं कि अन्य कवि उनको इस कला की तुलना में टिक नहीं सकते।

निरालाजी आकारसदृश प्रज्ञ हैं। शरीर की विशालता के साथ-साथ उनका हृदय और उनकी बुद्धि भी विशाल है। वह कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। बंगला, अवधी, ब्रजभाषा, हिन्दी, खड़ीबोली, संस्कृत, उर्दू तथा अँगरेज़ी का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया है। भावना के क्षेत्र में दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम है। इसीलिए वह कान्तिक और रहस्यवादी अधिक हैं। वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी कला अपने में पूर्ण है। काव्य-कला का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है, इसलिए वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार काव्य-कला का प्रयोग करने में सफल हो सके हैं। उनके व्यक्तित्व में केशव का पाण्डित्य है। स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण वह स्वाभिमानी भी हैं। अपने विषय में की गई अनुचित आलोचना उन्हें असह्य हो जाती है। वह किसी का रौब अपने ऊपर सहन नहीं कर सकते। अपने काव्य-जीवन के वह स्वयं निर्माता हैं। उनके स्वभाव में अक्खड़पन भी है और कोमलता भी; व्यंग्य भी है और हास्य भी। वैविध्य और वैषम्य से उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है और इन दोनों के सुन्दर समन्वय से ही उनका व्यक्तित्व विकसित हुआ है। वह बन्धनमुक्त प्राणी हैं। दार्शनिक होते हुए भी वह भक्त हैं। ईश्वर के अस्तित्व में उनकी आस्था है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनका आग्रह अद्वितीय है। वह पीछे मुड़कर भी देखते हैं और आगे भी। वह आशावादी हैं। आदर और सत्कार में वह बड़े उदार हैं।

निराला का लौकिक और साहित्यिक जीवन संघर्षमय रहा है। अपने इस प्रकार के संघर्ष में उन्होंने प्रत्येक चोट का, प्रत्येक आक्रमण का, साहसपूर्वक सामना किया है। निर्भीकता उनकी नस-नस में भरी हुई

हैं। स्वतंत्रता, साहस और निर्भीकता—यही तीनों उनके जीवन के संबल हैं। शृंगार और वीर रसों का जैसा सुन्दर समन्वय उनके स्वभाव में है वैसा ही उनकी रचनाओं में भी पाया जाता है। उन्हें अपनी कला-कृतियों पर उतना ही गर्व है जितना कि अपनी परिस्थिति पर। हिन्दी-संसार में ऐसा व्यक्तित्व अप्रतिम है।

निराला के व्यक्तित्व की भाँति ही उनकी साहित्यिक सर्जना शक्तिशाली है। द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में जन्म लेकर उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा अभिनव साहित्य का नेतृत्व किया है। अपने नेतृत्व में उन्होंने हिन्दी को जो दान किया है उसका एक विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुत: हिन्दी के सभी क्षेत्र उनकी निराली देन से प्रभावित, आलोकित और विकसित हुए हैं।

निराला का महत्त्व

हम अभी कह चुके हैं कि निराला ने द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में साहित्य-निर्माण आरम्भ किया था। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण साहित्यकार की दृष्टि से संग्राहक युग था। इस युग में भाषा के परिष्कार की पुकार थी और इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता थी। विषय बहुधा भारतीय गौरव से सम्बन्ध रखते थे। ऐसे विषयों का प्रतिपादन भारतीय इतिहास तथा पुराणों के कथानकों के आधार पर होता था। कभी-कभी उसी वर्ग के राष्ट्रीय पुरुषों के वृत्तों पर भी रचनाएँ हो जाती थीं। इस प्रकार की रचनाओं में चरित्र-निर्माण तथा सुधार पर ही अधिक बल दिया जाता था। समस्यापूर्ति की प्रणाली भी प्रचलित थी। गीतों का तो एक प्रकार से अभाव हो था। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार अवश्य हो गई थी, पर काव्य में उसका स्वतंत्र चित्रण, जैसा होना चाहिए था, अभी नहीं हुआ था। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर चल रहा था। बँधे छन्द थे, बँधे भाव। काव्य के इन बन्धनों से ऊबकर कतिपय कवियों ने उसमें कल्पना का रंग

करते ही मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। पाठक को अपनी ओजमयी वाण
अपनी संगीत की स्वर-लहरी से, अपने हाव-भाव से वह इतने
आकृष्ट कर लेते हैं कि अन्य कवि उनकी इस कला की तुलन
टिक नहीं सकते।

निरालाजी आकारमदृश प्रज्ञ हैं। शरीर की विशालता के स
साथ उनका हृदय और उनकी बुद्धि भी विशाल है। वह कई भाष
के अच्छे ज्ञाता हैं। बंगला, अवधी, ब्रजभाषा, हिन्दी, खड़ीबो
संस्कृत, उर्दू तथा अंगरेजी का उन्होंने गंभीर अध्ययन किया है। भा
के क्षेत्र में दर्शन से उन्हें विशेष प्रेम है। इसीलिए वह काल्पनिक
रहस्यवादी अधिक हैं। वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी क
अपने में पूर्ण है। काव्य-कला का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया
इसलिए वह स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार काव्य-कला का प्र
करने में सफल हो सके हैं। उनके व्यक्तित्व में केशव का पाण्डित्य
स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण वह स्वाभिमानी भी हैं। अपने विषय में
गई अनुचित आलोचना उन्हें असह्य हो जाती है। वह किसी का
अपने ऊपर सहन नहीं कर सकते। अपने काव्य-जीवन के वह स्व
निर्माता हैं। उनके स्वभाव में अक्खड़पन भी है और कोमलता भ
व्यंग्य भी है और हास्य भी। वैविध्य और वैषम्य से उनके व्यक्तित्व
निर्माण हुआ है और इन दोनों के सुन्दर समन्वय से ही उनका व्यक्ति
विकसित हुआ है। वह बन्धनमुक्त प्राणी हैं। दार्शनिक होते हुए
वह भक्त हैं। ईश्वर के अस्तित्व में उनकी आस्था है। भारतीय संस्कृ
के प्रति उनका आग्रह अद्वितीय है। वह पीछे मुड़कर भी देखते हैं औ
आगे भी। वह आशावादी हैं। आदर और सत्कार में वह
उदार हैं।

निराला का लौकिक और साहित्यिक जीवन संघर्षमय रहा है
अपने इस प्रकार के संघर्ष में उन्होंने प्रत्येक मोड़ का, प्रत्येक आक्रमण
का, साहसपूर्वक सामना किया है। निर्भीकता उनकी नस-नस में भरी है

हैं। स्वतंत्रता, साहस और निर्भकिता—यही तीनों उनके जीवन के संबल हैं। शृंगार और वीर रसों का जैसा सुन्दर समन्वय उनके स्वभाव में है वैसा ही उनकी रचनाओं में भी पाया जाता है। उन्हें अपनी कला-कृतियों पर उतना ही गर्व है जितना कि अपनी परिस्थिति पर। हिन्दी-संसार में ऐसा व्यक्तित्व अप्रतिम है।

निराला के व्यक्तित्व की भाँति ही उनकी साहित्यिक सर्जना शक्तिशाली है। द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में जन्म लेकर उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा अभिनव साहित्य का नेतृत्व किया है। अपने नेतृत्व में उन्होंने हिन्दी को जो दान किया है उसका एक विशिष्ट महत्त्व है। वस्तुतः हिन्दी के सभी क्षेत्र उनकी निराली देन से प्रभावित, आलोकित और विकसित हुए हैं।

निराला का महत्त्व

हम अभी कह चुके हैं कि निराला ने द्विवेदी-युग के द्वितीय चरण में साहित्य-निर्माण आरम्भ किया था। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण साहित्यकार की दृष्टि से संग्राहक युग था। इस युग में भाषा के परिष्कार की पुकार थी और इतिवृत्तात्मक शैली की प्रधानता थी। विषय बहुधा भारतीय गौरव से सम्बन्ध रखते थे। ऐसे विषयों का प्रतिपादन भारतीय इतिहास तथा पुराणों के कथानकों के आधार पर होता था। कभी-कभी उसी वर्ग के राष्ट्रीय पुरुषों के वृत्तों पर भी रचनाएँ हो जाती थीं। इस प्रकार की रचनाओं में चरित्र-निर्माण तथा सुधार पर ही अधिक बल दिया जाता था। समस्यापूर्ति की प्रणाली भी प्रचलित थी। गीतों का तो एक प्रकार से अभाव ही था। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार अवश्य हो गई थी, पर काव्य में उसका स्वतंत्र चित्रण, जैसा होना चाहिए था, अभी नहीं हुआ था। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर चल रहा था। बँधे छन्द थे, बँधे भाव। काव्य के इन बन्धनों से ऊबकर कतिपय कवियों ने उसमें कल्पना का रंग

और हृदय का वेग भरना आरम्भ कर दिया था, पर क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित करने का उनमें साहस नहीं होता था। हिन्दी-साहित्य की ऐसी परिस्थिति में निराला ने जन्म लेकर द्विवेदी-युग के प्रथम चरण का अन्त और द्वितीय चरण का नेतृत्व-भार ग्रहण किया। उन्होंने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में आँधी की तरह प्रवेश किया और अपने नवीन काव्य के सन्देश से क्रान्ति का आयोजन किया। उनके सन्देश में पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह था। उनका विद्रोह था हिन्दी-काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से उन्मुक्त करके स्वाभाविक प्रवाह में लाना, जिसमें न छन्दों का बन्धन हो, न तुक का लगाव। इस विद्रोह का हिन्दी-संसार में खुलकर विरोध हुआ, पर वह अपने सन्देश पर आरूढ़ रहे। इस विरोध का इतना प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा कि वह इस उन्मुक्त भावना को साहित्य में न चला सके। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा—"मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया।"

निराला की विद्रोह-भावना का परिचय हिन्दी-संसार को सर्वप्रथम 'अनामिका' द्वारा मिला। इसमें संगृहीत कविताएँ अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द में लिखी गई थीं। इन कविताओं के विषय नवीन थे, भाव नवीन थे, छन्द नवीन थे। हिन्दी-साहित्य में इन कविताओं की विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई, पर साहित्य-समालोचकों का ध्यान उनकी ओर अवश्य आकृष्ट हुआ। उनमें से कुछ ने निन्दा की, कुछ ने प्रशंसा। स्वर्गीय महादेवप्रसाद सेठ तथा आचार्य द्विवेदीजी ने इन रचनाओं की विशेष प्रशंसा की और हिन्दी का गौरव बढ़ाने के लिए उन्हें अनुकरणीय बताया। इस प्रकार निराला की, 'अनामिका' ने हिन्दी-जगत् में एक विशेष परिवर्तन की सूचना दी। अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द निराला की हिन्दी को सर्वश्रेष्ठ देन है। इन छन्दों में संगीत का, उस संगीत का जिसे उन्होंने पाश्चात्य संगीत के स्वर और ताल से प्रभावित बंग-काव्य से प्राप्त किया था, सफल आयोजन हुआ। हिन्दी के लिए यह सर्वथा नवीन चीज थी। इस प्रकार

निराला ने काव्य के रूप के सम्बन्ध में एक साथ दो देनें दीं—उन्मुक्त छन्द और संगीतपरकता ।

भाव-क्षेत्र में निराला की देन और भी महत्वपूर्ण है। हम यह बता चुके हैं कि उन्होंने काव्य को संगीत के निकट लाने का अभिनव प्रयत्न किया है। ऐसा ही अभिनव प्रयत्न रहस्यवाद के क्षेत्र में दिखाई देता है। सौन्दर्यानुभूति की विस्तृत भूमि में अद्वैत-सत्तानुभूति की जड़ जमाकर उन्होंने आधुनिक रहस्यवाद को रीतिकाल का विलोम मात्र होने से बचाया है। उनका रहस्यवाद 'विराट् सत्ता' और शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है। प्रसाद की भाँति मानवीय माध्यम द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त न करके उन्होंने विराट् सत्ता द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं। प्रसाद के चैतन्य की इकाई है 'मानव' और निराला के चैतन्य की इकाई है 'शाश्वत ज्योति'। यही इकाई उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक तथा कलात्मक विचारों के मूल में काम करती है। उनकी दृष्टि में यह जीव जगत् मिथ्या है, सारहीन है। इसलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर उसी अमूर्त शाश्वत ज्योति का ही चित्रण किया है। वह रूप-रंगों में प्रकट होकर भी अमूर्त का ही अभिव्यंजन करते हैं। उनकी निबन्धात्मक रचनाओं तथा गीतों में उनका यही दृष्टिकोण है। 'तुलसीदास' का कथानक मानवीय होते हुए भी रहस्यात्मक है और यह हिन्दी को उनकी महान् देन है।

रहस्यवादी अभिनव भावना के अतिरिक्त निराला की देन शक्ति-काव्य की भावभूमि में भी है। उनके मुक्त छन्दों में शक्ति का अतुलनीय अजस्र अदम्य प्रवाह है। उनके शक्ति-काव्य में ओज चौर तोड़कर उमड़ पड़ा है। ऐसी भाव-भूमि में कवि में दम्भ है, दर्प है, त्याग और समर्पण है, प्राचीन शौर्य का स्मरण है और उसके लिए आदर है। छायावाद के इस युग में इस प्रकार की रचना एक विशेष महत्त्व रखती है।

शौर्य और ओज के साथ-साथ करुण और सहानुभूति के लिए भी निराला की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। एक प्रकार से उन्होंने अपने कठोर शौर्य और ओज के गतिमय प्रवाह को करुण और सहानुभूति के यथार्थ चित्रण से संतुलित किया है। वस्तुत: महादेवी की करुणा निराला के काव्य में यथार्थ की कठोर भूमि पर चली है और छायावादी विमोहक मुग्धता को त्यागकर तथा दुःख-सुख की पन्तवादी दार्शनिकता से तटस्थ होकर पीड़ा की वस्तुगत स्थूल गहराई को स्पष्ट करने लगी है। हिन्दी-साहित्य में यह भी निराला की अपूर्व देन है।

निराला ने व्यंग्य के चित्र भी अंकित किये हैं। उन्होंने ढोंगियों को अपने गूढ़ व्यंग्यों का विषय बनाया है। इस व्यंग की भावना ने विनोद का रूप भी ग्रहण किया है। 'कुकुरमुत्ता' इसी भावना से एक चित्र बन गया है। हिन्दी में यह एक अभिनव रचना है।

भाषा के क्षेत्र में निराला की देन का महत्त्व इसलिए है कि उन्होंने हिन्दी पद-विन्यास को अधिक प्रौढ़ तथा अधिक प्रशस्त बनाने का सफल प्रयत्न किया है और अत्यन्त नाथक शब्द-सृष्टि द्वारा हिन्दी की अभिव्यक्ति को विशेष शक्ति प्रदान की है। संगीतज्ञ होने के कारण शब्द-संगीत परखने तथा उसे व्यवहार में लाने में वह आधुनिक हिन्दी के दिशानायक हैं।

निराला पर प्रभाव

हिन्दी के आधुनिक निर्माण में निराला की देन का महत्त्व स्वीकार करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन को सफल बनाने के लिए किन-किन स्रोतों से सामग्री एकत्र की है और उसका अपने काव्य में कहाँ तक प्रयोग किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि वह अपने साहित्यिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बंग-साहित्य से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी जीवनी से यह स्पष्ट है कि उनके जीवन का प्रभातकाल बंगाल में ही व्यतीत हुआ और बंग-भाषा

ड़ोंने सीखी। विवाह होने के पश्चात् अपनी पत्नी के हिन्दी-ज्ञान
ावित होकर वह हिन्दी की ओर भी मुड़े। हिन्दी-साहित्य-साधना
तुलसीकृत रामायण का उनके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा। संस्कृत-
्य का भी उन्होंने अध्ययन किया और उसकी प्रेरणाओं का भी
र प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी रचनाओं में जो
 है उस पर उनकी संस्कृत-साहित्यप्रियता का ही विशेष प्रभाव
र होता है। पर इन दिशाओं में उनके अध्ययन और अध्ययन द्वारा
ए प्रभावों पर बंग-साहित्य और उसकी भाव-धारा का अमिट
र देखा जा सकता है। वस्तुतः बंग-साहित्य के बीच ही उनके हिन्दी-
त्यिक जीवन का उदय हुआ है, और वह भी उस समय जब बंग-
्य पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होकर अपना आधुनिक स्वरूप
 कर रहा था। इसलिए जिन नवीन प्रेरणाओं से बंग-साहित्य का
ाण हो रहा था उन प्रेरणाओं को लेकर जब निराला ने हिन्दी-
त्य में प्रवेश किया तब हिन्दी-जगत को एक अभिनव जागरण का
ाम मिला। अंगरेजी संगीतकला का अनुसरण पहले-पहल बंगाल
था। निराला ने भी उसका अनुकरण किया और उन्होंने अपने
 में उसका पूरा जौहर दिखाया। उन्होंने संगीत को काव्य के
 काव्य को संगीत के निकट लाने की बड़ी सफल चेष्टा की।
न के अतिरिक्त उनकी भाषा पर भी बंग-भाषा का प्रभाव पड़ा
 क्रियापदों का लोप और लम्बे समस्त पदों का प्रयोग जैसा
भाषा में पाया जाता है वैसा ही निराला की भाषा में भी।
 प्रकार उनकी स्वच्छन्द छन्द-योजना भी बंग-शैली द्वारा पूर्णतः
ावित है।

भावना के क्षेत्र में भी निराला बंगाल के श्रीरामकृष्ण मिशन
 स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। उनका
यवाद एक तरह से बंग-साहित्य का ही रहस्यवाद है। बंग-साहित्य
दर्शन और भक्ति का समन्वय जिस रूप में पाया जाता है, उसमें

मिलना-जुलना ही रूप निराला-साहित्य में देखा
यह है कि निराला ने अपने साहित्यिक जीवन के
में स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की
का अनुवाद किया था। इससे उनकी विचारधारा
पर उक्त दोनों कवियों की विचारधारा तथा रचना-शै
पड़ना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हिन्दी में उन्होंने
नन्द के वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व किया।
अनुसार ही कलकत्ता में रामकृष्ण मठ के 'समन्वय' मा
सम्पादकीय सुयोग मिल जाने से उन्हें अपनी वैदान्तिक
अभिव्यक्ति का प्रथम सुअवसर भी मिला। स्वामी विवेकानन्
के दो स्वरूप हैं—शक्ति और सेवा एवं करुणा। निराला की
में भी यही बातें देखी जा सकती है। उनके गीतों पर रवी
गीतों की छाया पड़ी है। इधर कुछ दिनों से वह मार्क्सवाद के
भी आ गये हैं और उन्होंने कुछ प्रगतिशील कविताएँ भी लि

इस प्रकार हम देखते है कि निराला पर बंग-साहित्य का
प्रभाव पड़ा है, पर इस प्रभाव को निराला के शक्तिशाली व्य
तथा उनकी वह वस्तु-स्पर्शिनी प्रतिमा ने अपने में इतना आत्मसात्
लिया है कि उसका महत्त्व उनकी रचनाओं में गौण हो गया है। उन
प्रत्येक रचना पर उनके व्यक्तित्व और उनके प्रतिभा की इतनी स्प
छाप है कि हम उन पर पड़े हुए प्रभावों को भूल जाते हैं।

अब तक की आलोचना से हम यह देख चुके हैं कि निराला के
व्यक्तित्व में अद्वैतवादी बुद्धितत्व की प्रधानता है। उनकी अनेक

निराला की दार्शनिकता

रचनाएँ सूक्ष्म दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं।
पंचवटी-प्रसंग में प्रलय की व्याख्या करते समय भगवान्
श्रीरामचन्द्रजी ने ब्रह्म और जीव का जो विवेचन
किया है वह निराला के वेदान्त के

लिए निराला हिन्दी में उनके वैदान्तिक सिद्धान्तों के साहित्यिक प्रति-
धि माने जाते हैं।

निराला के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार यह जीव-जगत् मिथ्या
सारहीन है, ब्रह्म, आनन्द-स्वरूप है। प्रत्येक दृश्य वस्तु का पर्यवसान
ी आनन्दस्वरूप ब्रह्म, अदृश्य, अनन्त सत्ता में होता है। जीव भी
हो कर आनन्द-स्वरूप हो जायगा। यहां तक निराला की दार्शनिकता
के मस्तिष्क का विषय बनी है; पर इसके आगे नहीं वह मस्तिष्क से
ैतवादी है, हृदय से भक्त तथा प्रेमवादी। उनका जीव स्वयं आनन्द-
रप होने की अपेक्षा आनन्द का अनुभव करना चाहता है। इसलिए
उपासक ही बने रहना चाहते हैं। इन विचारों को उन्होंने लक्ष्मण
मुख से पंचटी-प्रसंग में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

आनन्द बन जाना हेय है, श्रेयस्कर आनन्द पाना है

यही पंक्तियां निराला की भक्ति का आधार हैं। वह आस्तिक हैं।
रुणानिधान, भक्तवत्सल भगवान् पर विश्वास करते हैं। दुःख में, सुख
वह सदैव भगवान् को याद करते हैं। भक्तों की भांति उन्हें पूर्ण
श्वास है कि एक दिन उस 'शाश्वत ज्योति' का, उस 'अमूर्त सत्ता'
साक्षात्कार होने पर भक्त की सारी वेदना, उनके हृदय की सारी
कलता शांत हो जायगी :—

डोलती नाव, प्रखर है धार, सँभालो जीवन-खेवनहार।

इन पंक्तियों में निराला की भक्ति का स्वर प्रखर हो उठा है। पर
निराला की भक्ति सूर अथवा तुलसी की भक्ति नहीं है। वह प्रमुखतः
वेदान्ती हैं। उन्होंने एक वेदान्ती की दृष्टि से अपनी आन्तरिक प्रेर-
णाओं का अंकन किया है। उनकी आन्तरिक प्रेरणाओं में भक्तोचित
भावुकता है, इसलिए उनकी रहस्यवादी कृतियां अस्पष्ट नहीं होने पाई
। उनका रहस्यवाद मस्तिष्क की रंगशाला में पहुँचने पर सोऽहम् से

मिलता-जुलता ही रूप निराला-साहित्य में देखा जा सकता है
यह है कि निराला ने अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भि
में स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कतिपय
का अनुवाद किया था। इससे उनकी विचारधारा तथा रच
पर उक्त दोनों कवियों की विचारधारा तथा रचना-शैली का
पड़ना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हिन्दी में उन्होंने स्वामी वि
नन्द के वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व किया। अपनी
अनुसार ही कलकत्ता में रामकृष्ण मठ के 'समन्वय' मासिक
सम्पादकीय सुयोग मिल जाने से उन्हें अपनी वैदान्तिक भावना
अभिव्यक्ति का प्रथम सुअवसर भी मिला। स्वामी विवेकानन्द के
के दो स्वरूप हैं—शक्ति और सेवा एवं करुणा। निराला की कवि
में भी यही बातें देखी जा सकती हैं। उनके गीतों पर रवीन्द्र
गीतों की छाया पड़ी है। इधर कुछ दिनों से वह मार्क्सवाद के प्रभा
भी आ गये हैं और उन्होंने कुछ प्रगतिशील कविताएँ भी लिखी

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला पर बंग-साहित्य का
प्रभाव पड़ा है, पर इस प्रभाव को निराला के शक्तिशाली व्यक्ति
तथा उनकी बहु वस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा ने अपने में इतना आत्मसात्
लिया है कि उसका महत्व उनकी रचनाओं में गौण हो गया है।
प्रत्येक रचना पर उनके व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा की इतनी
छाप है कि हम उन पर पड़े हुए प्रभावों को भूल जाते हैं।

अब तक की आलोचना से हम यह देख चुके हैं कि निराला के
व्यक्तित्व में अद्वैतवादी बुद्धितत्व की प्रधानता है। उनकी
रचनाएँ सूक्ष्म दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं।

निराला की दार्शनिकता

पंचवटी-प्रसंग में प्रलय की व्याख्या करते समय भग
श्रीरामचन्द्रजी ने ब्रह्म और जीव का जो निरूप
किया है वह निराला के वेदान्ती सिद्धान्तों का सार है।
इन सिद्धान्तों पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है।

इसलिए निराला हिन्दी में उनके वैदान्तिक सिद्धान्तों के साहित्यिक प्रतिनिधि माने जाते हैं।

निराला के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार यह जीव-जगत् मिथ्या है, सारहीन है, ब्रह्म, आनन्द-स्वरूप है। प्रत्येक दृश्य वस्तु का पर्यवसान उसी आनन्दस्वरूप ब्रह्म, अदृश्य, अनन्त सत्ता में होता है। जीव भी ब्रह्म होकर आनन्द-स्वरूप हो जायगा। यहां तक निराला की दार्शनिकता उनके मस्तिष्क का विषय बनी है; पर इसके आगे नहीं वह मस्तिष्क से अद्वैतवादी हैं, हृदय से भक्त तथा प्रेमवादी। उनका जीव स्वयं आनन्द-स्वरूप होने की अपेक्षा आनन्द का अनुभव करना चाहता है। इसलिए वह उपासक ही बने रहना चाहते हैं। इन विचारों को उन्होंने लक्ष्मण के मुख से पंचवटी-प्रसंग में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

आनन्द बन जाना हेय है, श्रेयस्कर आनन्द पाना है

यही पंक्तियां निराला की भक्ति का आधार है। वह आस्तिक है। करुणानिधान, भक्तवत्सल भगवान् पर विश्वास करते हैं। दुःख में, सुख में वह सदैव भगवान् को याद करते हैं। भक्तों की भांति उन्हें पूर्ण विश्वास है कि एक दिन उस 'शाश्वत ज्योति' का, उस 'अमूर्त सत्ता' का साक्षात्कार होने पर भक्त की सारी वेदना, उनके हृदय को सारी विह्वलता शांत हो जायगी :—

डोलती नाव, प्रखर है धार, सँभालो जीवन-खेवनहार।

इन पंक्तियों में निराला की भक्ति का स्वर प्रखर हो उठा है। पर निराला की भक्ति सूर अथवा तुलसी की भक्ति नहीं है। वह प्रमुखतः तत्वज्ञानी हैं। उन्होंने एक वेदान्ती की दृष्टि से अपनी आन्तरिक प्रेरणाओं का अङ्कन किया है। उनकी आन्तरिक प्रेरणाओं में भक्तोचित भावुकता है, इसलिए उनकी रहस्यवादी कृतियां अस्पष्ट नहीं होने पाई हैं। उनका रहस्यवाद मस्तिष्क की रंगशाला में पहुँचने पर सोऽहम से

मिलती-जुलती भावना में परिणत हो जाता है, पर जब वही हृदय को रंग-स्थली में पहुँचता है तब उसमें प्रेम की सुकुमारता, कमनीयता और तड़पन आ जाती है। उनका रहस्यवाद एक ओर परोक्षप्रियता पर अवलम्बित है, दूसरी ओर उसी के व्यक्त गोचर स्वरूप पर। इस प्रकार उनकी रहस्यवादी भावना के दो पहलू हैं—एक तो वह जो 'विराट् सत्ता' और 'शाश्वत ज्योति' के रूप में व्यक्त हुआ है और दूसरा वह जो 'जड़' जीव-जगत् में सर्वत्र उसी 'शाश्वत ज्योति' का प्रकाश देखता है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके रहस्यवाद की इकाई 'शाश्वत ज्योति' है। इस 'शाश्वत ज्योति' को उन्होंने अमर विराम, माता, श्यामा आदि सांकेतिक शब्दों द्वारा अपनी रचनाओं में सूचित किया है। संक्षेप में यही निराला के काव्य की दार्शनिक भावभूमि है।

निराला की साहित्य-साधना के दो रूप हैं—एक पद्य में दूसरा गद्य में। उनके गद्यकार के रूप पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ हम यह देखेंगे कि वह अपने पद्यकार के रूप में कहाँ तक सफल हुए हैं। हम यह बता चुके हैं कि निराला का हिन्दी-जगत् में प्रवेश उस समय हुआ जब सत्काव्य की अनुभूति का समय आ रहा था। वह हिंदी के नवीन विकास की किशोरावस्था थी। इस अवस्था में यौवन की दृढ़ता अथवा शक्ति का परिचय थोड़ी ही मात्रा में था। स्वर्गीय हरिऔध और गुप्तजी प्रकाश में आ चुके थे। प्रसाद उभर रहे थे। इस परिस्थिति में निराला की 'अनामिका' प्रकाशित हुई और इसी ने निराला को हिंदी का कवि घोषित कर दिया। अनामिका के पश्चात् परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, आदि काव्य-पुस्तकें उन्होंने हिन्दी को भेंट कीं। इन कृतियों के अनुशीलन से उनके विकास की चार स्पष्ट रेखाएं हमारे सामने आती हैं।

निराला की काव्य-साधना

[१] निराला के विकास की प्रथम रेखा—निराला के विकास की प्रथम रेखा हमें उनकी 'अनामिका' में ही मिलती है। इस काव्य में

स्वच्छन्द छन्दों को पूर्णता की ओर उनका जितना झुकाव है उतना अन्य बातों की ओर नहीं है। उनकी स्वच्छन्द छन्द-योजना में प्राचीन रूढ़ियों का तिरोभाव हो गया था—इससे नवीन धारा का स्वागत करनेवालों में आत्मविश्वास की भावना को दृढ़ता प्राप्त हुई। वस्तुतः स्वच्छन्द-छन्द के मूल में ही यह मनोवृत्ति थी। निराला ने अपनी अन्य रचनाओं द्वारा इस आत्मविश्वास को और भी दृढ़ किया।

[२] निराला के विकास की द्वितीय रेखा—यह रेखा हमारे सामने उस समय प्रस्तुत होती है जब वह छन्दोबद्ध संगीतात्मक सृष्टि की ओर झुकते हैं। 'परिमल' की छन्दोबद्ध अधिकांश रचनाएँ इसी समय की हैं। हिन्दी-साहित्य का यह वह समय था जब कविता में भावना की प्रधानता हो चली थी, पर निराला की बौद्धिक प्रक्रिया उसके साथ-साथ रही। अपने इसी विकास-स्तर पर पहुँचकर निराला बुद्धि और भावना का रमणीय समन्वय करने में समर्थ हुए। इससे उनकी कविताएँ निखर गईं। उस समय की उनकी छोटी और बड़ी सभी रचनाओं में यह योग देखा जा सकता है।

[३] निराला के विकास की तृतीय रेखा—यह उनके गीतों से परिलक्षित होती है। उनके गीत कुछ तो दार्शनिक हैं और कुछ प्रेम और शृंगारविषयक। मधुर भावों की व्यंजना इन गीतों की विशेषता है। 'परिमल' में उन्हें जो सफलता नहीं मिली वह उन्हें इन गीतों में मिली है। इनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा हृदय-तत्त्व अधिक है। भाव और कल्पना, मस्तिष्क और हृदय के सुन्दर समन्वय में ही निराला कवि का पूर्ण विकास हुआ है। इस काल के अन्तर्गत लिखी गई उनकी रचनाएँ मानव-जीवन के प्रवाह से निखरी हुई हैं। उनमें क्लिष्ट कल्पनाओं का अभाव भी है।

[४] निराला के विकास की चतुर्थ रेखा—यह उनकी प्रगतिवादी रचनाओं में देखने को मिलती है। अपने इस विकास-स्थल पर वह मार्क्सवाद से थोड़े-बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं। 'कुकुरमुत्ता' आदि

पूँजीवाद के प्रति उनके जो व्यंग्य है वह आज की नवीन
पूर्ण ही है।

निराला के विकास को हम तीन रेखाओं से हमारा य
है कि इनमें एक दूसरे से पृथकता है। वस्तुतः निराला की
का उत्तरोत्तर विकास हुआ है जिसके मूल में भावना को
तत्व की प्रधानता रही है। उनके विकास में उनका काव्यग
सर्वथा सहायक रहा है और उसकी गति कभी मंद नहीं
प्रारम्भ से ही एक रंग रहे हैं।

निराला हिन्दी के दार्शनिक कवि हैं। उनकी प्रत्येक कवि
निक भावभूमि पर गढ़ी है। हम यह भी बता चुके हैं कि उनकी
निकता में भक्ति का भी सुन्दर समन्वय हुआ है। इस प्रकार के स
से उनकी रहस्यवादी रचनाएँ अधिकांश साम्प्रदायिक न होकर
और स्वाभाविक हो गई हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए
उनकी कविताओं को पांच श्रेणियों में विभाजित करते हैं—१. दा
निकता-प्रधान रचनाएँ, २. विशुद्ध प्रगति, ३. आलंकारिकता प्रधा
और उदात्त, ४. प्रगतिशील रचनाएँ और ५. व्यंग और हास्य-सम्बं
रचनाएँ।

[१] दार्शनिकता प्रधान रचनाएँ—निराला की दार्शनिकता-
प्रधान रचनाओं से हमारा तात्पर्य उन रचनाओं से है जिनमें उनके
अद्वैतवादी मस्तिष्क का प्रयोग अधिक है। ऐसी कविताएँ प्रायः
निबन्धात्मक हैं। 'परिमल' में उनकी 'जागरण' शीर्षक कविता इसी
प्रकार की है। इसमें हमें उनके अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। इस कविता
में उन्होंने आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को ही सच मानकर उसी के
द्वारा सृजनक्रिया के होने का उल्लेख किया है। इसमें कवि ने बताया
है कि हमारी आत्मा माया के आवरण से ढकी हुई है। यह मायावरण
असत्य है। मन के विकारों के कारण हम अपने चारों ओर जड़ की सृष्टि
कर लेते हैं। शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जीवात्मा

भेदकर अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचती है। माया का शुद्ध रूप प्रेम-रूप है। आनन्दमय चिदात्मतत्त्व ने अपने प्रेम-रूप में ही सृष्टि की रचना की है। उसने अपनी माया का प्रसार प्रेम-रूप में ही किया है। सारांश यह कि निराला की दार्शनिक रचनाएँ इसी प्रकार के विचारों से परिपूर्ण हैं।

[२] **विशुद्ध प्रगति**—निराला के विशुद्ध प्रगीतों में 'जुही की कली', 'जागो फिर एक बार', 'विधवा', 'भिक्षुक', 'सरोज स्मृति' आदि शीर्षक रचनाएँ आती हैं। इन प्रगीतों में प्रकृति, करुणा, प्रेम, देश आदि के सफल चित्रण मिलते हैं। निराला की ऐसी कविताएँ 'गीतिका' और 'परिमल' में मिलती हैं। वह सौंदर्योपासक कवि हैं। उन्होंने जीवन की शृंगारिक भावना के बड़े सुन्दर नग्न चित्र उतारे हैं, पर उनमें अश्लीलता नहीं है, संयम है, विलास की सौंदर्य वृत्ति है। 'जुही की कली' इसी प्रकार की एक रचना है। इसमें कवि के शृंगार-चित्र प्रकृतिमय होकर सजीव हो उठे हैं। इन पंक्तियों में उनकी शृंगारिक भावना की पवित्रता देखिए :—

हेर प्यारे को सेज पास, नम्र मुखी हँसी-खिली
खेल रंग, प्यारे संग

उनकी 'शेफालिका' शीर्षक कविता भी इसी प्रकार की है। इसमें यौवन उन्मत्त होकर रोम-रोम से फूट निकलता है। 'जागो फिर एक बार' में कवि अपने युग की राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित जान पड़ता है, पर इस चेतना को उसने अपनी कला और दर्शन के माध्यम से देखा है, केवल राजनीति के दृष्टिकोण से नहीं :—

जागो फिर एक बार
सिंहनी की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह, रहते प्राण ? रे अजान

'परिमल' में निराला के तीन प्रकार के गीत हैं—१. तुकान्त, २.

अतुकान्त और २. मुक्तक। उनकी भाषा संगीतात्मक है,
है और भावना बहुत ही मधुर है। संगीत की दृष्टि से उ
स्थान बहुत ऊँचा है। अपने गीतों में उन्होंने दीन
उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति भी चित्रित की है। 'विधवा' अ
शीर्षक उनकी रचनाएँ बड़ी मार्मिक और पूत भावनाओं से भ
इन कविताओं में न छायावाद काव्य की रंगीनी है, न आ
का चमत्कार, न उस कल्पना की उड़ान। 'भिक्षुक' का चित्र इ
में देखिए :—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
× × ×

इसी प्रकार 'विधवा' शीर्षक कविता में विधवा को पवित्रता उसके करुणापूर्ण जीवन का परिचय मिलता है। सारांश यह कि निर अपने गीतों में सर्वोच्च कलाकार है। इस क्षेत्र में उनके विषय नये भाव नये हैं, शैली नई है। यद्यपि उनके गीत अधिकांश जीवन दार्शनिक विचारों का ही उल्लेख करते हैं तथापि उनमें व्यथा है, मार्मिक वेदना है, अनुभूति की गहराई है, अलंकारों की सजावट है, संगीत और मधुरता है,

[३] आलंकारिकताप्रधान तथा उदात्त रचनाएँ—निराला की आलंकारिकताप्रधान तथा उदात्त वे रचनाएँ हैं जो लोक प्रचलित कथानकों के आधार पर आलंकारिक शैली में लिखी गई हैं। तुलसीदास, 'राम की शक्ति पूजा' आदि उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। 'तुलसीदास' में निराला ने जन-प्रचलित कथा को अनेक रूपों, अनेक रंगों, अनेक भाव-भंगियों के साथ उपस्थित किया है। तुलसी के मनोवैज्ञानिक संघर्ष, उनके अन्तर्द्वन्द्व उनकी आध्यात्मिक उड़ान का जैसा आलंकारिक चित्र इस काव्य में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार 'राम की शक्ति-पूजा' उनकी सर्वोत्कृष्ट कविताओं में है। इस कविता में उन्होंने

बंगला में प्रसिद्ध राम-कथा को बड़े ओज के साथ काव्य की भूमि पर उतारा है। 'अनामिका' की सबसे प्रौढ़, सबसे महत्त्वपूर्ण रचना यही है।

[४] **प्रगतिशील रचनाएँ**—'अनामिका' की कुछ कविताओं में हमें निराला की नई प्रगतिशील रचनाओं का भी आभास मिलता है। 'किसान की नई बहू का आँखें', 'खुला आसमान', 'ठूंठ', तोड़ती पत्थर आदि इसी प्रकार की कविताएँ हैं। इन कविताओं में निराला ने कल्पना-लोक से नीचे उतरकर ग्राम तथा नगर के दैनिक जीवन को चित्रित किया है। 'ठूंठ' शीर्षक कविता से उनके प्रगतिशील विचारों का आभास इस प्रकार मिलता है :—

अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष सा,

× × +

निराला को प्रगतिशील रचनाओं में 'तोड़ती पत्थर' सबसे सुन्दर रचना है।

[५] **व्यंग्य और हास्यपूर्ण रचनाएँ**—निराला की व्यंग्य और हास्यपूर्ण रचनाएँ 'कुकुरमुत्ता' आदि में मिलती हैं। इन रचनाओं द्वारा उन्होंने हमारे समाज और हमारी सामाजिक धारणाओं पर तीव्र व्यंग्य किया है। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है :—

अबे, सुनबे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगो आब,

× + ×

निराला की ऐसी रचनाओं में कटु चुटकी है, गम्भीर विनोद है, तीव्र व्यंग्य है। उन्होंने आधुनिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर तीव्र व्यंग किया है। अँगरेजी सभ्यता के प्रति, आधुनिक सभ्यता की स्त्री-पूजा के प्रति, आधुनिक अँगरेजी काव्य के प्रति, कवियों के प्रति, लेखकों के प्रति उनके व्यंग्य सजीव और बड़े चुटीले हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला जीवन को चतुर्दिक भाव
के कवि हैं, किसी एक दिशा के नहीं। देश, समाज, मानव-हृदय, प्र
जगत् सभी दिशाओं के भाव उनकी कविताओं में आये हैं। वे
उनका प्रिय विषय है। उनका मस्तिष्क दार्शनिक है, उनका हृदय कवि
उनके हृदय और मस्तिष्क की ये दो भिन्न-भिन्न भावनाएँ कभी पृथ
और कभी एक में मिली हुई दीख पड़ती हैं। उनकी कल्पनाएँ उनके भा
की सहचरी हैं। वे सुशीला स्त्रियों की भाँति पति के पीछे-पीछे चल
हैं। इसलिए उनका काव्य पुरुष-काव्य है। उनके चित्रों में उतनी रंगीनी
नहीं जितना प्रकाश है। काव्यानुशीलन से प्राप्त होनेवाली काव्य-सौंदर्य
की बारीकियाँ, उनकी विविधताएँ तथा उनकी अनोखी भंगिमाएँ निराला
की रचनाओं में नहीं है। उनकी कविताओं में उनका व्यक्तित्व है जिसमें
व्यापक जीवन-धारा के सौन्दर्य का सन्निवेश है और जिसमें ओज के साथ
एक सुकोमल सौहार्द का समाहार है। हिन्दी का कोई कवि इस क्षेत्र में
उनकी समानता का दावा नहीं कर सकता।

निराला की काव्य-साधना के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय
है और वह है उनका प्रकृति-चित्रण। इस सम्बन्ध में हमें सब से पहली
बात जो याद रखनी चाहिए वह यह है कि निराला ने
प्रकृति का चित्रण किसी प्राचीन प्रणाली के अन्तर्गत
नहीं किया है। उनके प्रकृति-चित्रण में न तो प्रकृति
की स्वाभाविकता है और न उसकी यथार्थता। उन
प्रकृति स्वयं उनकी निर्मित की हुई है। दूसरी बात
याद रखने की यह है कि उन्होंने प्रकृति को रहस्यवादी
और अद्वैतवादी दोनों दृष्टियों से देखा है। प्रकृति-चित्रण में रहस्यवादी
दृष्टिकोण रखने से हमारा यह तात्पर्य है कि निराला के भौतिक सीमा
के ऊँचा उठाकर प्रकृति के भीतर से एक चरम सत्य अथवा चरम
तथ्य तक पहुँचने का प्रयास किया है। ऐसी दशा में प्रकृति-चित्रण
आध्यात्मिकता आ जाती है। अतएव का प्रकृति-चित्रण इसीलिए रहस्य-

निराला का प्रकृति-चित्रण

वादी कहा जाता है। अद्वैतवादी ज्ञानी का दृष्टिकोण कुछ अंशों में इससे भिन्न होता है। वह चाहे तो प्रकृति को बाहर से भी देख सकता है। साधना के उच्च स्तर पर पहुँचने के पश्चात् दोनों में यह भेद मिट जाता है। निराला अद्वैतवादी हैं। वह प्रकृति और परमात्मा से अद्वैतता मानते हैं। इसलिए वह जायसी की भाँति प्रकृति और परमात्मा को एकात्म नहीं कर पाते, भिन्नता का भाव बना रहता है। प्रकृति के प्रति यह दार्शनिक भाव होते हुए भी उनके प्रकृति-चित्र रहस्यवादी भावना से अनुरंजित हैं। एक प्रकार से रहस्यवाद और अद्वैतवाद का सुन्दर समाहार उनके प्रकृति-वर्णन में ही हुआ है। उनके प्रकृति-वर्णन में विविधता है। उन्होंने प्रकृति को अनेक-रूपों से देखा है। उनके प्रकृति चित्रों के निम्न रूप प्रमुख हैं :—

[१] प्रकृति के दिगन्त व्यापी रूप का चित्रण करने में निराला के कवि ने वास्तव में आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीडा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। इस सम्बन्ध में उदाहरणस्वरूप उनकी दो रचनाएँ—'जुही की कली' और 'शेफालिका'—बड़ी ही उत्कृष्ट हैं। इन दोनों कविताओं में प्रकृति के दिगन्तव्यापी चित्रण के पश्चात् क्रमशः असीम की ससीम के प्रति, और ससीम की असीम के प्रति आसक्ति दिखाई गई है। 'शेफालिका' कविता की निम्न पंक्तियाँ देखिए :—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से

यौवन उभार ने

पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके

इस कविता में ससीम की असीम के प्रति आसक्ति है। शेफाली (आत्मा) नामक संज्ञा है। उसका प्रेमी गगन (परमात्मा) है। आत्मा जब अपने पूर्ण सौन्दर्य में विकसित हो जाती है तब उसे अनन्त का

स्पर्श मिलता है। इस मिलन के फलस्वरूप वह बन्धन
वह कहती है :—

पाती अमर प्रेम दान
आशा की प्यास एक रात में झर जाती है।

[२] इन प्राकृतिक रूपक चित्रों के अतिरिक्त निराला
के ऐश्वर्यपूर्ण स्वच्छन्द चित्र भी चित्रित किये हैं। अपने ऐसे
वह जायसी के अधिक निकट आ गये हैं। संध्या का वर्णन इन
में देखिए :—

अस्ताचल ढले रवि, शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख यामिनी-गंधा जगी—

इसी प्रकार अतीत युग का ऐश्वर्यपूर्ण चित्र 'जागरण' शी
कविता में देखने को मिलता है।

[३] निराला ने प्रकृति के अमूर्त विलास का चित्रण 'वन-कुसुम
की शय्या' में किया है। शरद और शिशिर दो ऋतुएँ हैं और पास-
पास आती हैं। निराला ने उनमें बहनापा दिखाया है। देखिए :—

सोती हुई सरोज अंक पर शरत शिशर दोनों बहनों के
मुख विलास-मद-शिथिल अंग पर पद्म-पत्र पंखा झलते थे,
मलती थी कर-चरण समीरण धीरे धीरे आती

[४] प्रकृति का प्रेयसीरूप में आलंकारिक चित्रण उनकी 'वसन
वासंती लेगी' शीर्षक कविता में देखने को मिलता है। इस कविता में
सूखी डाल को लेकर निराला ने पौराणिक पार्वती के तप का चित्र उप-
स्थित किया है। प्रकृति के गम्भीर रूप का चित्रण उनकी 'संध्या सुन्दरी
शीर्षक कविता में देखने को मिलता है। सारांश यह कि निराला ने
प्रकृति के व्यापक, विस्तृत और गम्भीर रूपों का चित्रण बड़ी कुशलता

पूर्वक किया है। 'परिमल' में उनके अनेक प्रकृति-चित्र मिलते हैं। प्रभाती, यमुना के प्रति, वासंती, तरंग के प्रति, जलद के प्रति आदि उनकी प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

निराला का गद्य-साहित्य

निराला कवि ही नहीं, गद्यकार भी हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में भी कई पुस्तकें हिन्दी को भेंट की हैं। कहानीकार के रूप में सखी, लिली, चतुरी चमार और सुकुल की बीवी; उपन्यास के रूप में अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे और चमेली; रेखा-चित्रकार के रूप में कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा और निबन्धकार के रूप में प्रबन्ध पद्म, प्रबन्ध प्रतिभा, प्रबन्ध परिचय आदि ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। उन्होंने कुछ जीवनियाँ भी लिखी हैं और महाभारत आदि के अनुवाद भी किये हैं। इस प्रकार उनकी प्रतिभा का प्रसार साहित्य के दोनों क्षेत्रों में समान रूप से हुआ है।

निराला में कथा सृष्टि की सुन्दर क्षमता है, कहानियों में भी, उपन्यास में भी। उपन्यास के क्षेत्र में वह शरद् बाबू की औपन्यासिक कला से प्रभावित हुए हैं। इसका यथेष्ट परिचय 'निरुपमा' के कथानक से मिलता है। इस पर शरद् बाबू की 'दत्ता' की स्पष्ट छाप है। अपने उपन्यासों में निराला अतीत के ऐश्वर्य की ओर अधिक झुके हैं। उनमें उपन्यास लिखने की प्रतिभा और कला दोनों ही पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अप्सरा, प्रभावती, अलका आदि चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। निराला ने नारी-चरित्र-चित्रण में बड़े संयम से काम लिया है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके पात्रों में आग्रह अधिक है।

उपन्यासों से अधिक निराला को रेखाचित्रों में सफलता मिली है। कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा उनके दो अद्वितीय रेखा-चित्र हैं। इन रेखा-चित्रों में व्यंग्य और हास्य की नवीन शैली को स्थान मिला है।

अलंकार-योजना की भाँति ही निराला की रस-योजना भी बड़ी सफल है। उन्होंने शृंगार, वीर, रौद्र आदि रसों के बड़े सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। उनके इन चित्रों में स्वाभाविकता है। उनका ओज-पूर्ण व्यक्तित्व वीर रस के निर्वाह में बहुत सफल हुआ है। उनकी अधिकांश कविताएँ वीर रसपूर्ण हैं। निराला अपनी ऐसी रचनाओं के कलापूर्ण वर्णन से पाठकों में ओज और उत्साह भर देते हैं। शृंगार के चित्र भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। उनका शृंगार सर्वत्र संयमित है। काव्य में प्रत्येक प्रकार का शृंगार वर्णन करते हुए भी उनका व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं हुआ है। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। निराला के शृंगारिक वर्णनों में दार्शनिक तटस्थता है। एक रूपक में देखिए :—

> **पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके**
> **मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलों के व्याकुल विकास पर**
> **झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के**

निराला का यह दार्शनिक रूपक हिन्दी की अमर निधि है और इस पर जितना गर्व किया जाय थोड़ा है।

निराला हिन्दी-कविता की बाह्य कला में स्वतंत्रता के सूत्रधार हैं। उनमें कवित्व कम, कलाकारिता अधिक है। हिन्दी मुक्त छन्द का प्रवर्तन उनकी सबसे बड़ी देन है। मुक्त छन्द कविता में भाव प्रवाह को एक विशेष गति प्रदान करता है। यह गति बन्धनमय छन्दों में सुलभ नहीं होती। इस सम्बन्ध में परिमल की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्मों के छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। जिस प्रकार मुक्त

निराला की छन्द-योजना

मनुष्य कभी किसी के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके
औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतंत्र—
कविता का हाल है। मुक्त काव्य साहित्य के लिए कभी अनर्थकार
होता। प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की चेतना फैलती है
साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।' निराला ने अपने
विश्वास को लेकर हिन्दी के छन्द-शास्त्र में क्रान्ति की। उन्होंने
के प्रयोग में स्वतंत्रता से काम लिया है। खड़ीबोली में काव्य-रच
प्रारम्भ होने के समय से उपयुक्त छन्दों के चुनाव का कठिन तथा आव
श्यक प्रश्न कवियों के सामने था। उन्होंने अपने ढंग से इस प्रश्न का
उत्तर दिया। इसमें उनको उचित सफलता मिली। भिन्न तुकान्त का
प्रयोग उनके पहले भी हो चुका था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, सिया
रामशरण गुप्त, प्रसाद और रूपनारायण पाण्डेय अतुकान्त छन्दों में
रचना कर चुके थे। उन्होंने स्वच्छन्द छन्द का प्रयोग आरम्भ किया।
उनके विचार से मुक्त छन्द वह है जो छन्द की भूमि में रहकर मुक्त है।
मुक्त छन्द का समर्थक उनका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध
करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति। जिस प्रकार
उन्होंने स्वच्छन्द छन्द का सृष्टि हिन्दी में की है, उसी प्रकार की एक
मुक्त-सृष्टि बँगला-साहित्य में स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष कर गये हैं।
इससे ज्ञात पड़ता है कि निराला ने उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलने का
प्रयास किया है।

निराला ने दो तरह के मुक्त छन्द लिखे हैं—१. तुकान्त और २.
अतुकान्त। तुकान्त में तुक के नियमों का पालन किया गया है, अतुकान्त
में तुक का पालन नहीं है। ऊपर-नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान
नहीं हैं। प्रत्येक पंक्ति अपने हो में पूर्ण है और भावों की आवश्यकता
के अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत है। पर एक दृष्टि से प्रत्येक पंक्ति
की ... आ है। छन्द में एक प्रकार ...
... है जिसके ...

है। संगीत की धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रत्येक पंक्ति को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखना आवश्यक हो गया है। बेमेल चरणों का विलक्षण प्रयोग उन्होंने अपने अतुकान्त छन्दों में अत्यधिक किया है। इस विलक्षणता के कारण बहुत से लोगों ने उसका नाम 'रबर छन्द' अथवा 'केंचुवा छन्द' आदि भी रख लिया है। अतुकान्त छन्द में घनाक्षरी का प्रयोग उनकी एक विशेषता है। इसमें छन्द का नियम न होते हुए भी वाक्य-प्रवाह से छन्द का निर्देश मिलता है। उनके अतुकान्त छन्द उनके विचार वेग के पौरुष तथा उनके हृदय के ज्वलन्त व्यक्तित्व के द्योतक हैं। तुकान्त मुक्तक छन्दों में भी उनका ऐसा ही पौरुष है जो भावमय उद्गार के रूप में होने के कारण कवित्वपूर्ण है।

निराला के मुक्तक छन्दों द्वारा मुक्तक-काव्यों को भाव-स्वातन्त्र्य मिलता है और अतुकान्त मुक्तक छन्दों-द्वारा गीति नाट्यों में वाक् स्वातन्त्र्य। उन्होंने पञ्चवटी-प्रसंग में जो तुकान्त कविताएँ लिखी हैं वह गुनगुनाई जा सकती हैं, पर अतुकान्त कविताएँ उन्होंने केवल पढ़ने के लिए लिखी हैं। इस प्रकार उनके तुकान्त छन्दों में संगीत कला है और अतुकान्त छन्दों में पठन-कला। अतुकान्त छन्दों का प्रयोग उन्होंने प्रायः वर्णनात्मक कविताओं में ही किया है। उनके गीत प्रायः तुकान्त छन्दों में हैं।

इन विशेषताओं के होने पर भी निराला के स्वछन्द छन्दों में कुछ दोष भी आ गये हैं। कहीं-कहीं उन्होंने अपने छन्दों को इतना स्वछन्द और विस्तृत कर दिया है कि उनमें स्वच्छन्दता का सौंदर्य ही नष्ट हो गया है। अति स्वच्छन्दता के कारण उनकी पंक्तियाँ कहीं-कहीं गद्य-सी हो गई हैं। इसीलिए उनमें गति-भंग दोष भी आ गया है। अपने इन्हीं दोषों के कारण उन्हें साधारण पाठक तक पहुँचने में कठिनाई हुई है।

निराला की स्वातंत्र्य-प्रियता केवल हिन्दी छन्दों तक ही सीमित

नहीं रहे। उन्होंने उर्दू-शैली का अनुकरण करके हिन्दी में ग
लिखी हैं। उनकी इन ग़ज़लों में वही विदेशी उपमाएँ तथा उक्ति
जिनके लिए उर्दू के कवि प्रसिद्ध हैं। दो-चार स्थलों के अ
उनमें नवीनता नहीं है।

निराला की भाषा और शैली

निराला की भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण खड़ीबो
है। उस पर बंग-भाषा का भी प्रभाव है। उन्होंने बंग-भाषा के बहुत
शब्द अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक प्रयोग कि
हैं। उर्दू और फ़ारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में
मिलते हैं। ऐसे विदेशी शब्दों के प्रयोगों से कभी तो
उनकी भाषा में जान आ जाती है, पर कभी हलके भी
पड़ जाते हैं। उनके वाक्य-विन्यास पर बंग-शैली का
स्पष्टतः प्रभाव है। भाषा की दृष्टि से वह शब्द-
रासायनिक कहे जाते हैं। भाषा के प्रयोग में वह बड़े
समर्थ हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली को संगीतात्मक बनाने
का सफल प्रयत्न किया है। इसलिए खड़ीबोली की कर्कशता उनकी
रचनाओं में नहीं है। उनकी रचनाओं में जहाँ बौद्धिक तत्व अधिक है,
वहाँ उनकी भाषा जटिल और दुरूह है, पर जहाँ हृदय-तत्व की प्रधानता
है वहाँ उनकी भाषा संस्कृतयुक्त कोमल-कान्त-पदावली के प्रयोगों से
सजी हुई है। उन्होंने विशेष मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक
परिस्थिति के अवसर पर भाषा के अत्यन्त व्यंजक प्रयोग किये हैं
र अपने शब्द-कोश में अप्रत्याशित विस्तार भी किया है। कोई भी
उन्हें अग्राह्य नहीं है। वह विशेषतः अभिधात्मक शब्दों का ही
करते हैं और जहाँ से चाहते हैं, जनता से, काव्य से, शास्त्र से,
, दर्शन से, उसे उठा लेते हैं और जहाँ तक होता है उसका सबसे
प्रयोग करते हैं।

राला की ऐसी रचनाओं

पर इस प्रकार की भाषा सर्वत्र नहीं है। क्लिष्ट भाषा का उदाहरण लीजिए :—

गंध-व्याकुल—कूल—उर—सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शरसर,
गूंज बारंबार! (रे कह)

इन उद्धृत रचनाओं में निराला की भाषा उनके भावों की भाँति ही मस्तिष्क को मथ डालती है। उन्होंने जहाँ कहीं भी अपना बौद्धिक चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है, वहाँ उनकी भाषा उनकी भावधारा को व्यक्त करने में अशक्त हो गई है। एक बात और है। बंग-साहित्य से प्रभावित होने के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में जहाँ संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के निकट लाने का प्रयास किया है, वहाँ अर्थबोधकता की ओर उनका ध्यान कम गया है। 'गीतिका' में उनके ऐसे ही गीतों का संग्रह है जिनमें उनका ध्यान संगीत की ओर अधिक है, अर्थ-समन्वय की ओर कम।

भाषा की भाँति निराला की शैली भी बंग-शैली से प्रभावित है। समासयुक्त लम्बी पदावलियों का बाहुल्य और क्रियापदों का लोप आदि उनकी शैली में विशेष रूप से पाया जाता है। एक शब्द को उठाकर दूसरे स्थान पर समस्त पद का अङ्ग बना देने में ही उनकी शैली का चरमोत्कर्ष है। लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में कम है। उन्होंने अपनी बुद्धि-विशिष्ट रचनाओं को अभिधाशैली में और स्वच्छन्द छन्द में लिखा है। वह अपनी शैली में सर्वथा स्वतंत्र रहे हैं। विद्रोही कवि होने के कारण उन्होंने अभिव्यक्ति को किसी विशिष्ट प्रणाली के भीतर अपनी विचारधारा को बाँधना स्वीकार नहीं किया है। उनकी शैली ओजमय, पठन-कलायुक्त और नाटकीय छटा से परिपूर्ण है। शृंगार की मधुरिमा और वीर रस का ओज उनकी शैली की विशेषता

के वह सफल प्रयोगकर्त्ता हैं। उनकी उपमाएँ नवीन
सांगोपांग रूपक बाँधने में वह सिद्ध-हस्त हैं।
ने निराला की भाषा-शैली पर विचार किया है। अब
नके समकालीन कवि पन्त की रचनाओं पर तुलना
दृष्टि से विचार करेंगे। हम यह तो जानते ही हैं
प्रत्येक कवि अपने जीवन की परिस्थितियों से प्रभावि
र होता है और उन प्रभावों का अंकन अपनी रचना
में करता है। ऐसी दशा में एक ही युग में जन्म ले
और एक ही साथ काव्य-साधना के क्षेत्र में प्रवे
करने पर कवियों की विचार-धारा और उसकी अभि
र पड़ जाता है। निराला और पन्त के सम्बन्ध में भी
जा सकती है। दोनों एक ही युग—नवीन युग—के
लगभग एक ही साथ दोनों कवियों का हिन्दी-साहित्य
उत्थान होता है, पर दोनों अपनी जीवन-परिस्थितियों
के अनुकूल साहित्य-साधना के पुनीत क्षेत्र में अपने
नुसरण करते हैं। निराला की मनोदिशा उनकी भार्या
के पश्चात् श्री रामकृष्ण मिशन तथा स्वामी विवेका-
सिद्धान्तों के सम्पर्क में आने पर परिवर्तित हो जाती है,
न के जीवन में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित
ला का पूर्व जीवन भी पन्त के पूर्व जीवन से भिन्न है।
बंगाल के एक राजदरबार में बीता है। व्यायाम
चि रही है, इसलिए उनके स्वभाव में पौरुष और
पन्त का बचपन प्रकृति की गोद में बीता है,
व में कोमलता और मार्दव है। इसके अतिरिक्त
अधिक संघर्षमय रहा है। उन्होंने अपने जीवन में
अधिक झेली हैं और समाज की कटुता का सामना
जीवन बराबर शान्तिमय रहा है। वह शान्तिमय वाता

वरण में पनपे और विकसित हुए हैं। इसलिए निराला ने अपनी रचनाओं में जहाँ सामाजिक भावनाओं की प्राय: उपेक्षा की है, वहाँ पन्त उनकी ओर अग्रसर रहे हैं।

भावना के क्षेत्र में निराला और पन्त दोनों करुणा और संवेदना के गायक हैं। मानव की कोमल प्रवृत्तियों और उनके सुख-दुःख का चित्रण दोनों ने सफलतापूर्वक किया है। निराला की 'विधवा' और पन्त की 'विधवा नववधू' में करुणा और संवेदनशीलता की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है। विश्व-बन्धुत्व की ओर निराला भी झुके हैं और पन्त भी। पन्त के 'गूँजे जय ध्वनि से आसमान' और निराला के 'जग को ज्योतिर्मय कर दो' में विश्व-बन्धुत्व की भावना समान रूप से चित्रित हुई है। पर इतनी समानता होने पर भी जो तड़पन, जो टीस, भावनाओं की जो गहनता और तन्मयता हमें पन्त में मिलती है वह निराला में नहीं है। निराला में भावों का सहज ओज है और पन्त में भावों का सहज स्वाभाविक मार्दव। निराला की 'विधवा' जहाँ केवल करुणा का, संवेदन-शीलता का, चित्र उपस्थित करके रह जाती है वहाँ पन्त की 'विधवा नववधू' हमारी करुणा पर, हमारी संवेदना पर अपना स्वाभाविक अधिकार जमा लेती है। निराला हमारी भावनाओं को जगाते हैं, उन्हें उद्वेलित और संचालित नहीं करते; पन्त हमारी भावनाओं को जगाते हैं और उन्हें उद्वेलित और संचालित भी करते हैं। निराला में भावों की कला है और पंत में भावों का मार्दव। निराला की रचनाओं के युगल वाहक हैं भावना और तर्कना एवं अनुभूति और बुद्धि। उनकी बुद्धिशीलता उन्हें तार्किक और दार्शनिक रूप में हिन्दी संसार के सामने लाती है और उनकी अनुभूतिशीलता उन्हें कवि के रूप में। पंत की रचनाओं में उनका एक ही रूप निखरा है और वह है कवि का। पन्त प्रकृति, यौवन, प्रेम और शृंगार के कवि हैं। भावना के क्षेत्र में पन्त का बौद्धिक विकास उसी सीमा तक प्राप्त हुआ है जिस सीमा तक एक कवि के लिए उसका प्रयोग वांछनीय है। अपने इसी गुण के

कारण पंत निराला की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय हैं। एक बात और है। पंत की कविता जीवन के संघर्ष में नहीं, जीवन के प्रहर्ष में ही प्राप्त हुई है। वह सदैव दृश्य-जगत् के कवि रहे हैं और उन्होंने जीवन में सौंदर्य और संगीत को प्यार किया है। उनकी रचनाओं में जीवन की स्वर्गीय विभूतियों का सजीव और सुंदर चित्रण है। उनकी कविता राजसी है, तामसी नहीं। उसमें एकान्त क्रीड़ा है, पीड़ा नहीं। निराला का काव्य संघर्ष में पनपा और विकसित हुआ है। उनकी कविता राजसी होने पर भी हर्ष-विषाद और सांसारिक आवेग-प्रवेग के उद्वेगों से परिपूर्ण है।

दार्शनिक क्षेत्र में निराला और पंत दोनों रहस्यवादी और छायावादी हैं, पर पंत में छायावाद की और निराला में रहस्यवाद की मात्रा अधिक है। छायावाद में आत्मा का आत्मा से मिलन होता है और रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा से। इस प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण, सचेतन, संवेदनशील पाते हैं तब छायावाद की सृष्टि होती है, परन्तु जब हम उस पुष्प में किसी विश्व-व्याप्त परम चेतन की सत्ता का आभास पाते हैं तब रहस्यवाद की अनुभूति होती है। निराला शुद्ध रहस्यवादी हैं। उनका सारा काव्य अद्वैत-भक्ति-दर्शन से प्रभावित है। वेदान्ती होने के कारण अदृश्य के प्रति उनके काव्य में इतना आग्रह है कि वह किसी क्षण उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। इसलिए उनकी रहस्यभावना में साम्प्रदायिकता का पुट आ गया है और उन्होंने उसकी रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, पर पंत में जहाँ रहस्य-भावना है वहाँ वह अधिकतर स्वाभाविक है, साम्प्रदायिक नहीं। उनकी रहस्य-भावना एक कवि की रहस्य-भावना है। उसमें जटिलता नहीं है, अस्पष्टता नहीं है, दुराव नहीं है। साम्प्रदायिक रहस्य-भावना के कारण ही निराला अपनी रचनाओं में अधिकांश अस्पष्ट और जटिल हो गये हैं।

और इसीलिए उन्हें समझने में पाठकों को कठिनाई होती है। पंत का छायावाद सामान्य भाव-भूमि पर है। इसलिए वह सरस, सुबोध और हृदयग्राही है। वह हमें प्रिय है इसलिए कि वह हमें वस्तु-जगत् से वस्तु-जगत् की ओर ही ले जाता है और हमारी मनोवृत्तियों का, हमारी अभिलाषाओं और आकांक्षाओं का, हमारे सुख-दुःख का यथार्थ चित्रण करता है।

प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में निराला ने प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी दृष्टिकोण से देखा है। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के रूप में प्रकृति के क्रीड़ा-विलास का सुन्दर चित्रण किया है। वह प्रकृति और परम सत्ता में अद्वैतता मानते हैं। उन्होंने प्रकृति में अव्यक्त के सौंदर्य की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की है। पंत का दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति इससे भिन्न है। उन्होंने प्रकृति को नारी के विविध रूपों में देखा है। इसलिए उनके प्रकृति-चित्रण में ऐन्द्रिक सुख अधिक है। प्रकृति के व्यापारों के प्रति दोनों कलाकारों ने आश्चर्य प्रकट किया है, पर निराला की जिज्ञासा पंत की भाँति बाल-जिज्ञासा नहीं है। निराला अपनी जिज्ञासा में एक सतर्क दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने प्रकृति के व्यापक, विस्तृत और गंभीर रूप का चित्रण भी किया है। इसलिए जहां पंत प्रकृति के बाह्य सौंदर्य पर ही टिक गये हैं, वहां निराला ने उसके भीतर बैठने का प्रयास भी किया है। रंगों के वर्णन में दोनों की समान गति है, पर जहाँ निराला में श्यामवर्ण की ओर अधिक झुकाव है वहाँ पंत में श्वेत और उज्ज्वल की ओर।

काव्य-विषय की दृष्टि से निराला की रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह अधिक है। इसलिए उन्होंने निबन्धात्मक रचनाएँ भी की हैं। 'तुलसीदास' उनकी निबन्धात्मक रचना है। उनके अधिकांश मुक्तक भी निबन्धात्मक हो गये हैं। पर उनमें एक ही भाव की पूर्णता है। पंत ने मुक्तक कविताएँ लिखी हैं। उनके मुक्तकों में न तो निबन्धात्मकता है और न एक भाव की पूर्णता। भावों की विविधता ही उनके

अनीतकालीन है। दोनों में सौंदर्य-निरा
निराला के पश्चात् भाषा का संदेश अ
जाता है। पर इतनी समानता होते हुए भी
दार्शनिक होकर कवि हैं और प्रसाद कवि हो
के रहस्यवाद का माध्यम है शाश्वत ज्योति,
माध्यम है मानव। निराला का माध्यम नारी
और प्रसाद का माध्यम वंगना के गल्पद्दं में।
नता है, प्रसाद में सौंदर्य की। दोनों की भाषा
है। निराला की भाषा में पक्षपात नहीं है। सं
इन तीनों भाषाओं के शब्दों से उन्होंने अपनी शैल
है। प्रसाद की भाषा में पक्षपात है। उनकी
शब्दों की प्रधानता है। शैली के क्षेत्र में निराला
अधिक 'टेक्नीशियन' है। उन्होंने छन्द, भाषा औ
नये प्रयोग किये हैं। इस कारण जहाँ निराला अ
वहाँ प्रसाद अपनी भाषा, शैली, पद-योजना आदि में
पर बंग-साहित्य का प्रभाव है और प्रसाद पर संस्कृत-सु

अब महादेवी को लीजिए। निराला से महादेवी
गीति काव्य के क्षेत्र में की जा सकती है। महादेवी की
काव्य की 'मीरा' है। उनके गीतों में मीरा की विरह-का
उन्होंने वेदना में ही पूर्ण संतोष, जीवन की पूर्ण उज्ज
उनके विरह में उल्लास की रेखा है। उनका प्रियतम
दिव्य सत्य है। अतएव उसकी अनुभूति में वह पार्थिव संस
होकर भाव-जगत् में पहुँच जाती है और राग-विराग, द्वैत-
बाधा से मुक्त होकर उसी में एकाकार हो जाती है।
रहस्यात्मकता निराला से

कला आदि में आगे हैं। उनकी प्रतिभा भी अपेक्षाकृत शक्तिशाली है। महादेवी करुणापूर्ण नारी-सुलभ हृदय की स्वाभाविक प्रेमाभिव्यक्ति में अतुलनीय हैं। भाषा और शैली के क्षेत्र में महादेवी और निराला में वही अन्तर है जो प्रसाद और निराला में। महादेवी की अपनी शैली है, अपनी प्रवृत्ति है, पर निराला की भाँति वह उन्हीं में सीमित नहीं हैं।

निराला का हिन्दी-साहित्य में स्थान

अब तक की विवेचना से यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य में निराला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी लौह लेखनी से प्रसूत रचनाओं ने हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया है और विश्व के साहित्य में उसे गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित किया है। हिन्दी को उनकी देन अद्वितीय है। जिस समय हिन्दी के पुनीत प्रांगण में उन्होंने प्रवेश किया था उस समय हिन्दी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसका साहित्य अत्यन्त गिरा हुआ—बिखरा हुआ था। निराला उसी युग में अवतीर्ण हुए। द्विवेदी-युग के प्रभाव में आकर उन्होंने हिन्दी को अपनाया और उसे बँधी हुई शैली से निकालकर विविधता प्रदान की। उन्होंने हिन्दी-कविता के बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों में युगान्तरकारी परिवर्तन किया और विदेशी प्रभावों को उसमें घुला-मिलाकर उसे काव्य-भूमि पर खड़े होने योग्य बनाया। क्या भाव, क्या छन्द और क्या भाषा तीनों दिशाओं में उनकी देन हिन्दी को गौरवान्वित करने में समर्थ हुई है।

निराला हिन्दी की अमर विभूति हैं। [illegible] हमारे सामने आते हैं। वह कवि हैं, कहानीकार हैं [illegible] निबन्धकार हैं और रेखा-चित्रकार हैं। उन्होंने [illegible] हिन्दी-जगत् में निराला अपने कवि [illegible] रूप में वह [illegible] य में पोषित [illegible] हुई है, पर

उन्होंने विशेष प्रयोग किया है। उनके छंद संगीतमय और न
होते हैं।

निराला स्वतंत्र प्रकृति के कवि हैं। वह स्वाभिमानी हैं और उ
प्रतिभा मर्दानी है। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार ही कविता-कामि
को स्वच्छंदता देकर उसका स्वाभाविक संगीतमय सौंदर्य उद्भासित क
ा प्रयत्न किया है। उनमें वैविध्य भी है और विषमता भी। वैविध्य
र विषमता का उनकी रचनाओं में सुन्दर सम्मिलन हुआ है। उनकी
छंद छंदमय कविताएँ कुछ तुकांत हैं और कुछ अतुकांत। उनमें
वाद भी है और हृदयवाद भी। उनमें अध्यात्मवाद है, पर अध्यात्मवाद के
भक्तिवाद भी है। उन्होंने निबंधात्मक कविताएँ भी लिखी हैं
गीतों की रचना भी की है। अपनी इन रचनाओं में वह कहीं
ी हैं और कहीं 'कोमल'। उनके भावों में, उनकी कला में,
ाषा और शैली में विविधता है। उनकी कविता कला के सर्वां
और विकसित हुई है। उनके शब्द-चित्र भी बड़े मनोमुग्धकारी
ह होते हैं। उनके ऐसे चित्र करुणा और सहानुभूति से
। वह आशावादी हैं और भारतीय संस्कृति के उपासक
प्रकृति-चित्रण में दार्शनिकता का उल्लास रहता है।
ा-शक्ति प्रबल है। कल्पना उनकी सहचरी होकर उनके
पीछे चलती है। उनके रहस्यवाद में स्वाभाविकता कम,
अधिक है, इससे वह कुछ जटिल अवश्य हो गये हैं।
र छंद के क्षेत्रों में निराला सर्वथा नवीन हैं और इसी
ौलिकता के कारण वह युगांतरकारी कवि कहे जाते हैं।

———

—७—

सुमित्रानंदन पंत

जन्म सं० १९५७ जीवित

जीवन परिचय

अल्मोड़ा से लगभग २१ मील उत्तर की ओर कौसानी एक रमणीक प्राकृति सौंदर्य पूर्ण पर्वतीय ग्राम है। इसी ग्राम में सं० १९५७ में पं० सुमित्रानन्दन पंत का जन्म हुआ था। उनके पिता पं० गंगादत्त पंत जमींदार थे और कौसानी राज्य में कोषाध्यक्ष का काम करते थे। उनकी माता का नाम श्रीमती सरस्वतीदेवी था। पंतजी उनकी सबसे छोटी सन्तान हैं। वह चार भाई हैं। उनके यहाँ जमींदारी का काम अब भी होता है।

पंत की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में सात वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ हुई। वहाँ लगभग चार-पाँच वर्ष शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में भरती हुए। इस स्कूल में

होने के कारण उनकी रचनाओं का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. काव्य—उच्छ्‌वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रंथि, गुंजन, युगान्त, युग-वाणी, ग्राम्य, स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल

२. नाटक—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्स्ना

३. उपन्यास—हार

४. कहानी-संग्रह—पाँच कहानियाँ।

५. अनुवाद—उमर खैयाम की रुबाइयों का हिन्दी में अनुवाद।

पंत का व्यक्तित्व

हिन्दी-काव्य के उपासकों में पंत का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनके रेशम-से कोमल-कुंचित केश, उनका प्रशस्त ललाट, उनकी चमकती हुई आँखें, उनका सुगठित शरीर जहाँ हमें उनके शारीरिक सौंदर्य का परिचय देता है वहाँ उनकी वेश-भूषा, उनकी रहन-सहन उनकी चाल-ढाल से हमें उनके आन्तरिक सौंदर्य का, उनकी कला-प्रियता का भी आभास मिल जाता है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला-प्रेमी हैं। प्रकृति सुन्दरी की गोद में जन्म लेने के कारण उन्हें प्रकृति से विशेष प्रेम है और यही प्रेम उनकी काव्यप्रेरणा का रहस्य है। उनमें जो शालीनता, चिन्तनशीलता, सौम्यता, दार्शनिकता, कल्पना-शीलता और उदारता है वह भी उनके प्रकृति-प्रेम के ही कारण है। उनके प्रकृति-प्रेम ने उनमें जहां एक ओर इन विशेषताओं को प्रतिष्ठापित किया है, वहाँ दूसरी ओर उसने उन्हें कम-भीरु भी बना दिया है। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी वह दूर रहते हैं।

पंत के व्यक्तित्व की एक यह भी विशेषता है कि उनका अन्तर्व्यक्तित्व जितना कोलाहलपूर्ण और गम्भीर है उतना ही उनका बहिर्व्यक्तित्व कल्पनापूर्ण है। व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों के समन्वय में ही उनके

कवि का यथार्थ परिचय एवं दर्शन मिलता है। साधारण दृष्टि से उनका व्यक्तित्व पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। उनका संगीतमय मधुर स्वर, निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, सौजन्य, विनम्र और निश्छल वार्तालाप में अद्भुत आकर्षण है। वह परम आस्तिक, आशावादी, आत्मविश्वासी और निरभिमानी हैं। उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि में व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुँचने की सुन्दर क्षमता है। दैनिक जीवन में वह अपने ऊपर उतना ही बोझ रखना पसंद करते हैं जितने से स्वस्थ रहकर वह जीवन को जीवन बनाये रह सकें। कवि के साथ ही वह अच्छे गायक और मनोहर वादकार भी हैं।

पंत अध्ययनशील कवि हैं। अपने विद्यार्थी-जीवन से अब तक वह बराबर अध्ययन करते आ रहे हैं। दर्शन, उपनिषद् ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने विशेष रूप से किया है। इस के अतिरिक्त वह स्वीन्द्र-साहित्य के भी प्रेमी रहे हैं और अँगरेजी साहित्य के भी। वह हिन्दी-संस्कृत, बंगला और अंगरेजी के अच्छे ज्ञाता हैं। इन विविध प्रकार के अध्ययनों से उनके व्यक्तित्व को पर्याप्त बल मिला है। प्रकृति की खुली पुस्तक भी उनके अध्ययन का माध्यम रही है। इसलिए उनको पर्यवेक्षण शक्ति अद्भुत है। प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का उन्हें जितना ज्ञान है उतना हिन्दी के अन्य कवियों को नहीं है। वह प्रकृति के सुन्दर और सौम्य रूप के ही उपासक रहे हैं, पर उसका उग्र रूप भी उन्होंने चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का सुन्दर पक्ष ही उन्होंने ग्रहण किया है। उनका मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं की ओर आकर्षित नहीं हुआ है। इस प्रकार संक्षेप में उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह अपने काव्य-जीवन में केवल सौन्दर्य और प्रेम के ही उपासक रहे हैं और रहेंगे।

पंत का व्यक्तित्व असामान्य है। उनका अन्तरंग और बहिरंग दोनों सुन्दर हैं। उनमें भावना का सौकुमार्य साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है। इसलिए वह जीवन के संघर्ष में जमकर खड़े नहीं हो सकते।

उनका अब तक अविवाहित रहना, जीविका की ओर से उदासीन रहना, कभी स्थायी रूप से कहीं न रहना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह अपने जीवन में किसी प्रकार का संघर्ष सहन नहीं कर पाते। जीवन की बहुरंगी कठिनाइयों से वह उसी प्रकार भागते हैं जिस प्रकार एक साधक; और वस्तुत: वह एक साधक हैं। जीवन का एकाकीपन उनकी साधना में सहायक हुआ है, अतएव वह निरंतर एकान्त एवं अन्तर्मुखी होती गई है। इस प्रकार उनका समस्त जीवन ही एक पलायन, एक एस्केप है और यही पलायन-वृत्ति उनकी सौंदर्य-साधना की जननी है। पलायन का मूल है अपने में वर्तमान विषमताओं के समाधान की शक्ति का अभाव देखना। इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्य जब अपने में वर्तमान विषमताओं का समाधान नहीं कर पाता और उनसे मानसिक पराजय स्वीकार कर लेता है तब वह पलायनशील हो जाता है। पंत हिन्दी के पलायनशील कवि हैं और वस्तुत: इसी पलायनशीलता ने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

पंत पर प्रभाव

अब हम पन्त पर पड़े हुए प्रभावों का अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक कवि अथवा लेखक की कृतियों के बहिरंग तथा अन्तरंग पर उसके जीवन-सम्बन्धी भौतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक वातावरण का अवश्य प्रभाव पड़ता है। पंत अपनी साहित्य-साधना में, दो बातों से अधिक प्रभावित दीख पड़ते हैं—एक तो अपने भौतिक वातावरण से और दूसरे अपने साहित्यिक अध्ययन से। पंत के जीवन-परिचय में हम यह बता चुके हैं कि बचपन में उनका पालन-पोषण प्राकृतिक सुषमा की गोद में हुआ था। इसलिए प्राकृतिक सौंदर्य का उनके काव्य-जीवन पर प्रभाव अवश्यंभावी था। इस सम्बन्ध में उन्होंने आधुनिक कवि संख्या २ के पर्यालोचन में लिखा है—'कविता की प्रेरणा मुझे सबसे ... प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी ... को

कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। इस सम्बन्ध में पंत का कहना है—"इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौंदर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन-युग की, सौंदर्य-कल्पना को ही परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का 'स्लोगन' भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ।'

पंत अपने युग की प्रगति तथा उसकी राजनैतिक परिस्थितियों और आवश्यकता से भी प्रभावित हैं। गांधीवाद और समाजवाद का भी उन पर विशेष प्रभाव है, पर इन दोनों वादों को उन्होंने अक्षरशः नहीं अपनाया है। उन्होंने इन दोनों वादों के सत्य को ग्रहण करके एक वाद के अभाव की दूसरे वाद से पूर्ति की है। इस प्रकार उनकी रचनाओं में न तो विशुद्ध गांधीवाद है और न विशुद्ध समाजवाद। इन दोनों का सुंदर समन्वय हमें उनकी रचनाओं में मिलता है। समय परिवर्तनशील है। परिवर्तनशील लीला का प्रभाव जब व्यष्टि रूप से हृदय पर पड़ता है तब साहित्य-कला की सृष्टि होती है और जब समष्टि रूप से समाज पर पड़ता है तब इतिहास की रचना होती है। पंत ने अपने युग के परिवर्तनों के इन दोनों प्रभावों को ग्रहण किया है, इसलिए उनकी काव्य-धारा भी बदली है और मनोधारा भी। युग की सम्पूर्ण प्रगति अभी प्राप्त नहीं, क्योंकि संसार में युग ने अभी अपना प्रथम चरण ही रखा है, अतएव वह भी अभी अविकसित हैं।

पंत का महत्त्व हिन्दी-साहित्य के उत्थान में पंत का महत्त्व कई दृष्टियों से आँका जा सकता है। भाषा की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि खड़ी बोली को काव्योचित भाषा का स्थान देने का एकच्छत्र श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। ब्रज-भाषा ने मध्ययुग से द्विवेदी काल तक जो कल-कोमल अञ्जलता, मनोहर चित्र-चारुता प्राप्त की थी उसे उन्होंने अपने कुल बीस-पचीस वर्षों

के काव्य-जीवन में ही खड़ीबोली को चर्चित कर दिया। खड़ीबोली की कविता के लिए यह प्रवाद था कि उसकी खड़खड़ाहट में ब्रजभाषा जैसा माधुर्य नहीं आ सकता, पर पंत ने उसकी खड़खड़ाहट और खुरदुराहट दूर कर उसे इतना सुस्निग्ध एवं कोमल बना दिया है कि सम्प्रति उसके सम्बन्ध में इस प्रवाद का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। द्विवेदी-युग में स्वर्गीय श्रीधर पाठक ने ब्रज भाषा के सम्मिश्रण से खड़ीबोली को मधुर बनाने का प्रयत्न किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। गुप्त जी ने खड़ीबोली को निजी गौंवा हिन्दी और संस्कृत के साहचर्य से उत्तेजित किया, पर उनकी भाषा में माधुर्य का गौण रूप से ही समावेश हो पाया। निराला ने खड़ीबोली को प्रबल उत्कर्ष अवश्य प्रदान किया, पर उनकी भाषा में उनके मानसिक पौरुष को ही स्थान मिला। अतः भाषा को अपनी संगीत के कोमल व्यक्तित्व से द्रवित होने की आवश्यकता थी। पंत ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। उनकी कविता में भाषा का कोमल संगीत खड़ीबोली के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा अधिक मुखरित हुआ। इस दिशा में उन्हें ब्रजभाषा के कवियों की अपेक्षा अधिक स्वावलम्बी बनना पड़ा। इसलिए भाषा के क्षेत्र में खड़ीबोली के नीरस कलेवर में रस-संचार का श्रेय केवल उन्हीं को प्राप्त है।

पंत के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भावों का विशद क्षेत्र लेकर भी अपनी रचनाओं में भाषा के सौन्दर्य और भावों के माधुर्य का ताल और स्वर की भाँति संतुलन बनाये रखते हैं। यह बड़े सधे हुए हाथों का काम है। काव्य-कला की यह साधना अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः इसी साधना में उनकी लोकप्रियता का रहस्य निहित है। उनके काव्य-कला की एक और विशेषता है और वह है पुनरुक्ति की—रिपीटीशन की। इस दिशा में अधिकांश कवियों ने पुराने कवियों की सी टेक ही अपनाई है। पंत ने अपनी कविताओं में शब्दों की पुनरुक्ति का प्रयोग विशेष कलात्मक रूप से किया है। उनका रिपी-

टीशन उस संगीत की भाँति है जो कुछ बजाकर अपनी अन्तिम ताल में प्रथम ताल को छू लेती है। इससे उनकी कविता में मर्मव्यंजकता आ गई है। शैली की इस विशेषता के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य अप्रस्तुत विधान की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में मिलती हैं।

भावना के क्षेत्र में कल्पना ही पंत की कविता की विशेषता और उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध बहुमुखी रचनाओं की आधार है और उनमें रमणीयता का विस्तार करती है। यही उनकी कविता की मेरुदंड और उनकी काव्य-दृष्टि का मापदंड है। कोरी कल्पना की बाल-सुलभ रंगीन उड़ानों से लेकर अत्यन्त तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण में उनके कवि का विकास-क्रम देखा जा सकता है। उनकी इस कल्पना-शक्ति को उनकी सौंदर्यानुभूति से पर्याप्त बल मिला है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके उन्हें ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग से खुल जाते हैं। प्रेम के संयोग और वियोग पक्षों को भी समान सौन्दर्य से प्रकट करने में उनकी कल्पना कुंठित नहीं होती। वह रहस्यमयी सृष्टि का आयोजन भी करती है। वस्तुतः पंत अपनी ऐसी कल्पना-शक्ति के कारण ही स्वच्छन्द होकर व्यापक, निर्लेप सृष्टि करने में समर्थ हुए हैं। आधुनिक हिन्दी का कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समानता नहीं कर सकता।

पर हिन्दी-जगत् में पंत की प्रसिद्धि एवं लोक-प्रियता केवल इन्हीं विशेषताओं के कारण नहीं है। ऐसी विशेषताएँ तो न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक कवि की रचनाओं में पाई जा सकती हैं। साहित्यकारों के बीच कवि का महत्त्वपूर्ण स्थान बनाता है उसका स्वतंत्र चिन्तन। पंत ने अपने स्वतंत्र चिन्तन द्वारा हमें बहुत कुछ दिया है। इस सम्बन्ध में हम उनके देन की चर्चा अन्यत्र करेंगे, पर यहाँ संक्षेप में हम यह बता

देना चाहते हैं कि उन्होंने हिन्दी की वर्तमान काव्य-धारा को सर्वप्रथम छायावाद और रहस्यवाद की रूढ़ियों से निकालकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता—रूमैंटिसिज्म—की ओर उन्मुख किया है। 'पल्लव' की कतिपय रचनाएं—उच्छ्वास, आंसू, परिवर्तन और बादल आदि—ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें देखने से पता चलता कि यदि छायावाद के नाम से एक वाद न चल पड़ा होता तो पंत स्वच्छन्दता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते, क्योंकि रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण प्रस्तुत करने की ओर उनकी प्रतिभा बहुत कम उन्मुख हुई है।

पंत के स्वतंत्र चिन्तन की दूसरी विशेषता है उनका मानव-काव्य हिन्दी-जगत् के लिए यह एक बिल्कुल नई चीज है। पंत के मानव-काव्य में उनकी सौंदर्य-भावना मंगल-भावना के रूप में परिणत हो गई है और वह अपने इस दृष्टिकोण के कारण बहुत ऊँचे उठ गये हैं। उनकी एक अपनी फिलासफी है जिसे उन्होंने कई वादों के अध्ययन तथा मंथन के पश्चात् ग्रहण किया है। उन्होंने काव्य, संगीत, चित्र और शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करने की चेष्टा की है।

एक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में पंत का और भी महत्त्व है। उन्होंने हिन्दी-कविता में मुक्तकों को एक विशेष उत्कर्ष दिया है। मध्य-युग में एक कवित्त अथवा एक सवैया में एक भाव अथवा एक चित्र के रूप में मुक्तकों की सृष्टि हुई थी। कतिपय वैष्णव-कवियों के गीति-काव्य में कहीं-कहीं एक भावना का विविध उत्थान-पतन भी दीख पड़ता है। द्विवेदी-युग में एक विषय इतिवृत्तात्मक रूप में उपस्थित कर दिया जाता था। नवीन युग में एक विषय के भाव-प्रवण विस्तार पर ध्यान रखा गया। पंत ने भाव-प्रवण विस्तार ही नहीं, चित्र की अनेकता तथा भाव की विविधता को संगीतोपम स्वरूप दिया। उनकी प्रायः प्रत्येक मुक्तक कविता एक खण्ड-काव्य का स्वरूप ग्रहण करती चलती है जिसकी

पंक्तियाँ किसी कथानक पर अवलम्बित न होकर भी भावों का सुदीर्घ उत्थान-पतन तथा प्राकृतिक सौंदर्य का विपुल निरीक्षण करती चलती हैं। उनके कई विषय बिल्कुल नये हैं। 'छाया' जैसे अमूर्त विषय को अपनी विपुल कल्पनाओं द्वारा साकार कर देना और 'बादल' जैसे चिर-परिचित विषय को नव-छवि और नव-ध्वनि प्रदान कर देना उनकी उर्वर कवि-प्रतिभा का सूचक है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने इस कार्य-सम्पादन में कहीं-कहीं उन्होंने अन्य कवियों के भावों का पाथेय लिया है, पर जिस प्रकार उन्होंने उन भावों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखा है। वह सर्वथा नवीन और हिन्दी को उनकी अपूर्व देन है।

पंत की दार्शनिक भाव-भूमि

प्रत्येक साहित्यिक का एक अपनी विचार-धारा होती है, एक अपनी सूझ होती है जिसके अनुसार वह साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। पंत की भी एक अपनी विचार-धारा है, एक अपनी सूझ है। ईश्वर, जीव, प्रकृति और इस द्वैत के अन्तर्गत आनेवाली जीवन, प्रकृति दुःख-सुख और आदि गूढ़तम समस्याओं के प्रति जिस प्रकार अन्य कवियों ने अपनी-अपनी धारणा और विश्वास के अनुकूल विचार प्रकट किये हैं उसी प्रकार पंत ने भी इन समस्याओं पर विचार किया है। यहाँ हम संक्षेप में इन्हीं बातों पर विचार करेंगे :—

[१] **ईश्वर-सम्बन्धी विचार**—पंत पूर्ण आस्तिक हैं। ईश्वर पर उनका पूर्ण विश्वास है। विश्वास को वह जीवन का अनिवार्य अंग समझते हैं। निर्गुण रूप में वह अपने ईश्वर को 'उल्लास' की संज्ञा से विभूषित करते हैं। वह कहते हैं :—

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधा भास

यही 'उल्लास' ईश्वर की अज्ञात शक्ति है जो कभी उन्हें प्रियतम

के रूप में विस्मित करती है और कभी जगज्जननी के रूप में उन्हें आनन्द-विभोर। वह मुख्यतः उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी-रूप के उपासक हैं।

[२] जीव और प्रकृति-सम्बन्धी विचार—ईश्वर की महत्ता के साथ-साथ पंत जीव की महत्ता भी स्वीकार करते हैं। वह उसके गौरव से भी अभिभूत हैं और उसे सत्य मानते हैं। उनके विचार में वह उसी सत्ता का—अज्ञात शक्ति का—प्रकाशमात्र है। इसी प्रकार प्रकृति भी सत्य है, क्योंकि वह भी ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है :—

शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विकास, हे जग जीवन के कर्णधार!

पंत उस अलौकिक छवि के अखिल-व्याप्त सुकुमार नारी रूप के उपासक हैं। यही नारी-रूप प्रकृति के भिन्न रूपों में, हमारी गृहलक्ष्मियों की भाँति, कहीं माता, कहीं सहचरी और कहीं प्रेयसी है। वह निखिल भुवन मोहिनी एक रूप में अनेक होकर चतुर्दिक प्रकृति में अपनी सुषमा-शोभा का विस्तार करती है।

[३] जीवन और जगत्-सम्बन्धी विचार—पंत की दृष्टि में यह जगत् उस अलौकिक छवि का प्रतिबिम्ब है, इसलिए यह भी सुन्दर और सत्य है। अपनी इसी धारणा के कारण वह विश्व-प्रेमी हैं। उन्हें इस विश्व की प्रत्येक वस्तु से प्रेम है। देखिए :—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, पशु, पक्षी, नर, सुर वर
सुंदर अनादि शुभ सृष्टि अमर!

जगत् से प्रेम होने के कारण पंत को जीवन से भी प्रेम है। उनके विचार से जीवन सत्य और सुंदर है। देखिए :—

जग-जीवन में उल्लास मुझे, नव आशा, नव अभिलाष मुझे

परन्तु जीवन अपूर्ण है। उसमें कोलाहल है द्वन्द है, संघर्ष है। पंत की दृष्टि में इसका कारण यह है कि मनुष्य मानव-जीवन का अर्थवाद की दृष्टि से तत्वावलोकन करता है। वस्तुतः उनके हृदय मे भौतिकवाद के प्रति अधिक आस्था है। इसलिए वह कहते हैं :—

आत्मवाद पर हंसते हो रट भौतिकता का नाम?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम?

पंत शारीरिक आवश्यकताओं को स्वीकार करके भी उसे सब कुछ नहीं मान लेते, अपितु आत्मवाद और भौतिकवाद के सुंदर संयोजन से एक नवीन संस्कृति का उद्भव चाहते हैं जो अपूर्ण मानव-जीवन को वास्तविक मानव-जीवन बनाने में समर्थ हो सके। यह उसी दशा में सम्भव होगा जब मानव जीवन के अन्तर में प्रवेश करेगा। जीवन के अन्तर में प्रवेश करने का अर्थ है जीवन को सार-रूप में ग्रहण करना, जीवन में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन को जागृत करना। इससे संसार स्वर्ग हो जाएगा और मानव देवता।

न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर, देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाहों में, है मुक्ति यही जीवन बंधन।

[४] जीवन और मृत्यु-सम्बन्धी विचार—जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में पंत के वही विचार हैं जो प्रायः भारतीय दार्शनिकों के रहे हैं। उनके विचार से जीवन विकास का नाम है और मृत्यु उसके क्रम के ह्रास का! जन्म और मृत्यु इस जगत् के दो द्वार हैं जिनमें से होकर आना-जाना लगा रहता है। जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नर-रूप के कोषों को धारण किये रहेंगे तब तक मानव-जाति विश्राम नहीं ले सकेगी। अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज संसार को पत्र-पुष्प देकर फिर बीज में ही परिणत हो जाता है, यही सृष्टि का रहस्य है।

[५] मानव के सुख-दुःख-सम्बंधी विचार--मानव के सुख-दुःख के सम्बन्ध में पंत कहते हैं :—

जग-जीवन में है सुख-दुःख,
सुख-दुःख में है जगजीवन।

× × ×

सुख-दुःख न कोई सका भूल।

पंत जीवन में सुख और दुःख दोनों की सत्ता स्वीकार तो करते हैं, पर चित्रण करते हैं सुख का---जीवन के आह्लाद का। पंत जीवन को हास-हुलासमय देखना चाहते हैं। अपने मधुर-मलय-पुलकित जीव में वह कभी निदाघ-संतप्त समीर का भी स्पर्श पा लेते हैं और उस समय उनकी पलकों में विश्ववेदना के कुछ तुहिन-बिन्दु भी उमड़ पड़ते हैं पर जीवन के प्रति उनका जो विश्वास है वह उन्हें वेदना की ओर झुकने का अधिक अवकाश नहीं देता। वह कहते हैं :—

हँसमुख से हो जीवन का पर हो सकता अभिवादन।

× × ×

जीवन की लहर-लहर से हंस खेल खेल रे नाविक,
जीवन के अंतस्तल में, नित बूड़ बूड़ रे नाविक।

इसलिए कि :—

अस्थिर है जग का सुख-दुःख, जीवन ही नित्य चिरंतन!
सुख दुख से ऊपर, मन का जीवन ही रे आलंबन

पंत की दृष्टि में जीवन के ऐहिक सुख-दुःख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति जीवन से भिन्न हैं, जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है :—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर लहराता जीवन सागर

जीवन के इस उन्मुक्त स्वरूप को हृदयंगम कर लेने पर विश्व की जटिलता में भी मनुष्य अपने लिए एक स्थान बना लेता है। 'पंत जीवन को निस्तरंग रूप में नहीं, अपितु एक तरंगाकुल कलकलनिनादिनी सरिता के रूप में ग्रहण करना चाहते हैं। निस्तरंग सरिता जिस अनन्त सिन्धु में जा मिलेगी, तरंगाकुल सरिता भी उसी में मिलकर पूर्ण होगी। निस्तरंग जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। वह विडम्बना मात्र है। इसलिए उनका विश्वास है कि यदि अपने हृदय का हास-हुलास, कोटि कलरव लेकर यह जीवन उस अनन्त सिन्धु से मिले तो सच्चिदानन्द को अधिक प्रसन्नता होगी।'

[६] मुक्ति-सम्बन्धी विचार—पंत संसार के दायित्व दुःख और उसके राग से विरक्त होकर जीवन को संसार से पृथक् करना पसन्द नहीं करते। वह कर्म में विश्वास करते हैं, वैराग्य में उनकी आस्था नहीं है। मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनों में ही आस्था है। वह कहते हैं :—

जीवन के नियम सरल हैं, पर हैं चिर गूढ़ सरलपन।
है सहज मुक्ति का मधु क्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन॥

जीवन के नियम देखने में तो सरल हैं, पर वे युगों के गूढ़ चिन्तन के पश्चात् सुलभ हुए हैं। इसलिए इनका सरलपन चिरगूढ़ है। इन सरल नियमों के सम्बन्ध में यदि हम विश्वास से काम लें तो लोक-जीवन सुखी हो सकता है। जीवन के नियमों को तोड़कर उन्मुक्त हो जाना सहज है, पर जीवन के बन्धनों में ही मुक्ति का आनन्द पाना एक श्रेष्ठ आत्मसाधना है। बन्धनों से मुक्ति का प्राप्त इसी प्रकार होता है जिस प्रकार सगुण-द्वारा निर्गुण की अनुभूति अथवा शरीर द्वारा आत्मा की प्राप्ति। इसीलिए वह कहते हैं :—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन.

गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन।
निज अरूप में भर स्वरूप मन।

[७] सामाजिक आदर्श—पंत आस्तिक और आदर्शवादी कलाकार हैं। उनका आत्मसाधना में विश्वास है। वह मुक्ति नहीं चाहते। वैराग्य में भी उनकी आस्था नहीं है। उन्हें अपने जीवन से, अपने संसार से प्रेम है वह चाहते हैं मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाना, ऐसा मानव बनाना जिसके मस्तिष्क और हृदय में सामंजस्य हो, जिसके हृदय में संकीर्णता न हो, जो सारी मानव-जाति को, विश्व के प्रत्येक मानव को अपना समझे। यही उनका सामाजिक आदर्श है, यही उनका व्यवहार है। अपने इस आदर्श को वह रूढ़ियों के बन्धन में नहीं, अपितु व्यक्तियों के स्वतंत्र विकास में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। वह चाहते हैं मानव-जीवन में स्वार्थ का त्याग और आत्मोत्सर्ग का महत्त्व स्थापित करना। मानव-जगत में अब राष्ट्रीयता ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीयता भी आ गई है। केवल राजनीति की सिद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता ही नहीं, वरन् आन्तरिक ऐक्य के लिए विश्व मानवता भी आ रही है इसके फलस्वरूप जिस मानव, जिस समाज, जिस विश्व के उदय की उदयाचल पर अरुणिमा प्रकट होने को है, उसी का स्वप्न हम नवयुग के पलकों में देख रहे हैं। वह स्वप्न एक देश की नहीं अपितु सम्पूर्ण देशों की सुसंस्कृत आत्माओं में अपना छायाचित्र उतार रहा है। हमारे साहित्य में पंत भी ऐसे ही स्वप्नदर्शी हैं :—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर, मेरे विचार जग के विचार
मेरे मानव का स्वर्गलोक उतरेगा भू पर नई बार

इस प्रकार विचार करने पर हम देखते हैं कि पन्त की विचार धारा में एक विकाससूत्र है जिससे उनके दर्शन का यथार्थ परिचय मिल जाता है। उनके विचार सभी समस्याओं पर अत्यन्त सुलझे हुए और स्पष्ट हैं। वह अपने दर्शन में समन्वयवादी अधिक हैं। भूतवाद

और अध्यात्मवाद, मनुष्यत्व और देवत्व, पदार्थ और चेतना समाजवाद और गांधीवाद तथा व्यष्टि और समष्टि के सुन्दर समन्वय में ही उनके दर्शन का, उनकी चिन्तन-शैली का विकास हुआ है। युगवाणी में उनके कथनानुसार पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं :—

[१] भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

[२] समाज में प्रचलित जीवन की दान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

[३] पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ियों की तीव भर्त्सना जो आज मानव के विकास में बाधक हो रही हैं।

[४] मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि-शास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचार-धारा पर प्रभाव, जन-समाज का पुनः संगठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार।

[५] बहिर्जगत् के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता, राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।

पंत ने अपने दर्शन में विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्व दिया है जिससे देव बनने के एकांगी प्रयत्न में हम मनुष्यत्व से गिर कर होकर सामाजिक जीवन में पशुओं से भी नीचे न गिर जायँ, देवत्व को आत्मसात कर हम मनुष्य बने रहें और मानव दुर्बलताओं के भीतर से ही अपना निर्माण एवं विकास करें। पंत की यह विचारधारा वर्तमान समय के अनुकूल ही है। आज संसार में जो विरोधी शक्तियाँ काम कर रही हैं वह गत सामाजिक संघर्षों की प्रतिक्रियाएँ हैं। वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन इन्हें दबाने में लगे हुए हैं इनमें से एक सूक्ष्म तत्त्व है मनुष्य का रागतत्त्व जो पिछले युगों के संस्कारों और युगों से सीमित हैं। इस रागतत्त्व को अपने विकास के लिए अधिक उन्नत धरातल चाहिए। इस वृत्ति के विकास से ही मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँचेगा।

पंत की काव्य-साधना

पंत की दार्शनिक भाव-भूमि से यह स्पष्ट है कि वह नवीनतम् हिन्दी-साहित्य के एक जागरूक कवि और कलाकार हैं। उन्होंने हिन्दी-संसार को अपनी जो रचनाएँ भेंट की हैं उनमें भाषा की नवीनता है, भावों का माधुर्य है और विचारों की गंभीरता है, पर अपनी अब तक की रचनाओं में वह सर्वत्र एक से नहीं हैं। समय के अनुसार उनमें परिवर्तन हुआ है। इससे हमारा तात्पर्य केवल यह है कि आरंभ में उन्होंने जिस माध्यम से हिन्दी-काव्य में प्रवेश किया वह उनकी अब तक की रचनाओं में विविध रूप धारण करता रहा है। माध्यम की विविधता ही उनके कवित्व का प्राण है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि 'पल्लव' और 'गुंजन' के पंत 'ज्योत्स्ना' के पंत नहीं है और 'ज्योत्स्ना' के पंत 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के पंत नहीं हैं, पर माध्यम की इस विभिन्नता के कारण पंत के कवि के विकास में कहीं भी बाधा नहीं पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि बाह्य दृष्टि से देखने पर कवि के तीन रूप दिखाई देते हैं, पर रचनाओं की आत्मा में प्रवेश करने पर उनका एक ही रूप उन तीनों रूपों में व्याप्त दिखाई पड़ता है। उनके कवित्व की प्रगति रेखा टेढ़ी मेढ़ी अवश्य है, पर उनकी विचारधारा का विकास सीधा और स्पष्ट है। उनके विकास के तीन सोपान इस प्रकार हैं :—

[१] पंत अपने काव्य-जीवन के आरंभ में सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं। 'वीणा' उनकी प्रथम कृति है। इसमें उन्होंने प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूतियों का बड़ी ही ललित भाषा में चित्रण किया है। इसके बाद 'ग्रन्थि' उनकी दूसरी रचना है। इसमें एक छोटे से प्रेम-प्रसंग का आकार लेकर उनके कवि-हृदय ने प्रेम की अनुभूति में प्रवेश, फिर चिर विषाद के गर्त में पतन दिखाया है। 'पल्लव' उनकी तीसरी कृति है। यह उनकी प्रथम प्रौढ़ रचना है। इसमें प्रतिभा के उत्साह का तथा प्राचीन काव्य-परम्पराओं के विरुद्ध

प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमें प्रस्फुटित यौवन का अन्तर्बाह्य दृष्टिपात तथा भाव भाषा का इन्द्रधनुषोपम दीर्घ प्रसार है। इस प्रकार अपनी तीनों कृतियों में पंत मुख्यतः सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं।

[९] 'पल्लव' के पश्चात् पंत के विकास का द्वितीय सोपान आरंभ होता है। इस सोपान का आरंभ अचानक नहीं होता। उनकी प्रथम तीन कृतियों में इसके बीज वर्तमान रहते हैं जो अंकुरित और विकसित होते हुए 'गुञ्जन' तक आते हैं। 'गुञ्जन' में उनकी सौंदर्यानुभूति और प्रेमानुभूति को प्रौढ़ता मिलती है। इसमें वह लोकजीवन के अन्तस्तल में भी अवगाहन करते हैं। इसमें संगृहीत उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक कविता उनकी प्रौढ़ चिन्तनशीलता का प्रतिनिधित्व करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भावुक न रहकर चिन्तक हो गये हैं। उनकी प्रथम तीन कृतियों में प्राकृतिक सुषमा की मनोज्ञ झाँकी है, पर इस कृति में उनकी अन्तर्दर्शन की जिज्ञासा है। यह अन्तर्जिज्ञासा उनके कवि हृदय में लीलामय जीवन के प्रति बुद्ध की विरक्ति नहीं, अपितु एक विश्वासपूर्ण अनुरक्ति उत्पन्न करती है।

[१] 'गुंजन' के बाद पंत की रचनाएँ हैं—युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या। इन रचनाओं द्वारा वह अपने विकास के तृतीय सोपान पर आते हैं। यहाँ आकर वह जीवन के कवि हो गये हैं। हम उन्हें केवल रूप-रंग, चमक दमक, सुख-सौरभवाले सौंदर्य से पृथक जीवन-सौंदर्य की सत्याश्रित कल्पना में प्रवृत्त पाते हैं। उन्हें बाह्य जगत् में सौंदर्य, स्नेह और उल्लास का अभाव दिखाई देता है। इसमें वह जीवन की सुंदरता की भावना मन में करके उसे जगत् में फैलाना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि 'पल्लव' की सौंदर्य-भावना 'गुंजन' में चिन्तन शक्ति का पाथेय पाकर प्रौढ़ होती है और 'युगान्त' में वह व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हो जाती है। 'पल्लव' और 'गुंजन' में वह लोक-जीवन के शीत और ताप से अपने हृदय को बचाने

में रहे हैं, पर 'युगान्त' में उन्होंने अपना हृदय सुने जगत् के बीच रख दिया है।

पंत के इस विकास-क्रम से उनकी रचनाओं का वर्गीकरण सरलता पूर्वक किया जा सकता है। हम उनकी रचनाओं को इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं:—

१. सौंदर्यानुभूति सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त प्रकृति सुषमा के सुकुमार कवि हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति के मनोरम रूप का जैसा सुंदर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कारण, वह प्रकृति की गोद में पले हैं। प्रकृति के सुखद व्यापारों के प्रति उनकी अत्यधिक आस्था है, इसलिए प्रकृति के उग्र रूप का चित्रण उनकी रचनाओं में बहुत कम है। उनकी सौंदर्यानुभूति की कविताओं में मन्द-मन्द संगीत है, सघन झंकार नहीं। कहीं-कहीं नव विहंग की भाँति भावों के उच्चाकाश तक उठने का सफल प्रयत्न भी है। भावी प्रतिभा की अन्तर्हित स्फूर्ति ने इस प्रयत्न में उन्हें सहायता प्रदान की है। उनकी ऐसी रचनाएँ उनके किशोरावस्था की रचनाएँ हैं। 'प्रथम रश्मि का आना तूने रंगिणि! कैसे पहचाना' में उनके किशोर-वय का उच्चतम संगीत है। 'निर्झरी' में वह कहते हैं:—

दिखा भंगिमय भृकुटि विलास
उपलों पर बहुरंगी लास
फैलाती हो फेनिल हास
फूलों से कूलों पर चल

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं प्रकृति ने नवीन शोभा, नवीन सुषमा, नवीन मधुरिमा और नवीन मृदुलिमा से उनके गीतों में सहज सौंदर्य का प्रसार किया है।

२. प्रेमानुभूति-सम्बन्धी रचनाएँ—पंत की प्रेमानुभूति का आभास 'ग्रन्थि' से मिलता है। इस छोटे-से प्रेम काव्य में एक

तरुण-हृदय की बड़ी ही मार्मिक वेदना है। इसके साथ ही इसमें मान-विज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति नव-वय का विद्रोह भी है। कला की दृष्टि से यह दुखान्त वर्णनात्मक शैली की अत्यन्त सुन्दर अलंकृत रचना है। अलंकारों और उक्तियों ने उनके नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखाई है। वस्तुतः यह रचना एक युवक कवि का उन्मुक्त गान है जिसकी व्यंजना सच्ची अनुभूति और उर्वर-कल्पना के सुन्दर सम्मिश्रण से हुई है। एक निराश प्रेमी की विवशता इन पंक्तियों में देखिए :—

शैवालिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा।
पर, हृदय सब भाँति तू कंगाल है
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिको,
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।

विश्व में ऐसा ही वियोग जन्य अनुभूति, कविता को जन्म देती है। 'आँसू' में पन्त कहते हैं :—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।

वेदना की अनुभूतियों के चित्रण में पन्त को बहुत अच्छी सफलता मिली है। उनकी प्रेम की अनुभूति सच्ची है। इसलिए उनकी रचनाओं में प्रभविष्णुता तथा तरलता है, प्रेमवृत्ति की परिधि के अन्तर्गत आनेवाली जितनी सुकुमार भावनाओं की व्यंजना उन्होंने की है, उतनी आधुनिक कवियों की रचनाओं में कम मिलती है।

३. **रहस्यानुभूति-सम्बन्धी रचनाएँ**—पंत की रहस्यानुभूति स्वाभाविक है, उसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। उनकी जैसी रहस्यभावना है, वैसी इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देखकर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करते हुए उन्होंने इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप में ही प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि उन्होंने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी प्रिय और प्रेमिक का स्वाभाविक पुरुष स्त्री भेद रखा है, 'प्रसाद जी' के समान दोनों को पुल्लिंग रखकर फारसी या सूफी परम्परा का अनुसरण नहीं किया है।

पंत अलौकिक छवि के अखिल व्याप्त सुकुमार नारी रूप के उपासक हैं। यह नारी-रूप प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में कहीं माता है, कहीं सहचरी है, कहीं प्रेयसी। वह निखिल भुवनमोहिनी एक रूप में अनेक होकर चतुर्दिक प्रकृति में अपनी शोभा-सुषमा का प्रसार करती है। 'पल्लव' के 'मौन निमंत्रण' में उन्होंने अपने आपको प्रेमिका के रूप में, 'गुंजन' में प्रेमी के रूप में और 'वीणा' में बालिका के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रहस्यवाद की रूढ़ियों का अनुसरण नहीं किया है।

पन्त का रहस्यवाद भक्ति-भावना-समन्वित है। उसका अन्त शुष्क जिज्ञासा में नहीं होता और हो भी कैसे! उन्होंने उस परोक्ष शक्ति को माँ के रूप में देखकर भावों के मकरन्द-भरे सुमन उनके कोमल चरणों पर चढ़ाये हैं। अपने को बालिका और ईश्वर को माँ के रूप में देखने के कारण उनकी जिज्ञासा केवल मुग्धा, विस्मय और कृतज्ञता में डूबकर रह गई है इसलिए उनको रहस्यभावना में सरलता, सरसता और स्वाभाविक भोलापन है। उनकी जिज्ञासा एक बालिका की जिज्ञासा है और उनकी भक्ति एक बालिका की भक्ति है :—

न अपना ही, न जगत का भान, न परिचित है निज नयन, न काम

दीखता है जग कैसा तात ! नाम, गुण, रूप सजान

× × ×

उस फैली हरियाली में, कौन अकेली खेल रही माँ !
वह अपनी वयवाली में, सजा हृदय की थाली में,

× × ×

अब न अगोचर रहो सुजान
निशानाथ के प्रियवर सहचर ! अंधकार, स्वप्नों के यान
किसके पद की छाया हो तुम, किसका करते हो अभिमान ?

इन पंक्तियों से पंत की रहस्य भावना की सरलता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। छायावाद के क्षेत्र में वह एक ऐसे कवि हैं जिनका प्रकृति के साथ सीधा सम्बन्ध है। वस्तुतः प्रकृति के अत्यन्त रमणीय दृश्यों के बीच ही उनके कवि-हृदय ने रूप रंग पकड़ा है और उसकी सुषमा की उमंगभरी भावना के भीतर ही वह विहार करता रहा है। इसके आगे उसकी दृष्टि नहीं गई है। प्रकृति के बीच उसके गूढ़ और व्यापक सौहार्द तक पहुंचने की उसने चेष्टा नहीं की है। वह प्रकृति-परक रहस्यवादी कवि हैं। उनकी रहस्य-भावना धर्ममूलक नहीं, कला-मूलक है। कलामूलक होने के कारण ही उनके रहस्यवाद की अभिव्यक्ति शैली परिवर्तित हो गई है।

४. जीवन-दर्शन-सम्बन्धी रचनाएँ—पन्त अपनी रचनाओं में रहस्यवादी की अपेक्षा जीवन के कवि अधिक हैं। वह प्रकृति-सौंदर्य से जीवन-सौंदर्य की ओर मुड़े हैं। 'पल्लव' तक वह प्रकृति के केवल सुन्दर, मधुर पक्ष में अपने हृदय के कोमल और मधुर भावों के साथ लीन थे, कर्म-मार्ग उन्हें कठोर ही कठोर दिखाए देता था :—

मेरा—मधुकर का-सा जीवन, कठिन कर्म है, कोमल है मन।

इसलिए वह कहते हैं :—

जीवन की लहर-लहर से हंस-खेल खेल रे नाविक।
जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़ बूड़ रे भाविक।

५. *सामाजिक आदर्श-सम्बन्धी रचनाएँ—* हम अभी
चुके हैं कि पंत का आत्मभावना में अटल विश्वास है। इसलिए मा
जीवन और उसके उच्चादर्शों से उन्हें प्रेम है। आज के संघर्षमय
कोलाहलपूर्ण जीवन में मानव-समाज को जिस आत्मविश्वास
स्वावलम्बन की आवश्यकता है उसकी ओर उनकी रचनाओं में पर्या
संकेत है। वह कहते हैं :—

सुन्दर हैं विहंग, सुमन सुन्दर मानव तुम सबसे सुन्दरत
निर्मित सबकी तिल सुषमा से तुम निखिल सृष्टि में चिरनिरुप

× × ×

न्योछावर स्वर्ग इसी भूपर, देवता यही मानव शोभ
अविराम प्रेम की बाहों में है मुक्ति यही जीवन बन्ध
मृगमय प्रदीप में दीपित हम शाश्वत प्रकाश की शिखा सुष
हम एक ज्योति के दीप अखिल, ज्योतित जिससे जग का आँग

वस्तुतः इस आत्मबोध के द्वारा ही हम अपने-अपने अस्तित्व
विराट् सार्थकता समझकर परस्पर स्नेही; सहृदय एवं सहचर बन सक
हैं और तभी विश्व में समान भाव की उपलब्धि हो सकती है। यह
सृष्टि पन्त की नवीन सृष्टि है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं :—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर,
सौंदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग के बाहर,

अपने इस स्वप्न को सत्य करने के लिए वह ईश्वर से प्रार्थ
भी हैं :—

मैं उसका प्रेमी बनू नाथ ! जिसमें मानव-हित हो समान !!

× × ×

कंकाल-जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव-लाली

इतना ही नहीं, जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है और नवजीवन-सौंदर्य लेकर आनेवाले युग के उपयुक्त नहीं है उसे भी वह बड़ी निर्ममता से हटाना चाहते हैं :—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त, ध्वस्त, हे शुष्क, शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, लघु वात भीत, तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !

इस प्रकार पंत की वाणी में लोक मंगल की आशा और आकांक्षा के साथ घोर 'परिवर्तनवाद' का स्वर भी भरा हुआ है। गत युग के अवशेषों को समूल नष्ट करने के लिए मानव को उत्तेजित करते हुए वह कहते हैं :—

गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ाकर !
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर !

सामाजिक जीवन में क्रान्ति के लिए पंत की वह हुंकार यह सिद्ध करती है कि वह क्रान्ति और शान्ति दोनों चाहते हैं, संहार और सृजन दोनों को युगवाणी दे रहे हैं। क्रान्ति द्वारा वह पुरातन का, उस पुरातन का जिसमें पाखंड है, अत्याचार है, अनीति है, द्वेष और मनोमालिन्य है, विनाश चाहते हैं और उसके स्थान पर नवयुग का सृजन करना चाहते हैं। उनके नवयुग में :—

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कार्य-निरत हों भेद मूल,
बन्धुत्व भाव ही विरव-मूल

पंत की हाल की रचनाएँ इसी आदर्श को लेकर चली हैं। . .

६. ग्राम्य-जीवन-सम्बन्धी रचनाएँ—पंत की ग्राम्य-जीवन सम्बन्धी रचनाएँ 'ग्राम्या' में संग्रहीत हैं। इसमें उन्होंने ग्राम के समस्त रूपों को, वहाँ के नर-नारियों को, नित्य-प्रति के जीवन को, उनकी संस्कृति को व्यष्टि रूप में नहीं, समष्टि रूप में देखा है। कुछ चित्र व्यक्तियों के भी अंकित किये गये हैं। ग्राम्य-युवती, ग्राम नारी, कठ-पुतले, गांव के लड़के, वह बुड्ढा, ग्राम वधू, वे आँखें, मजदूरनी आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। कुछ कविताएँ सामान्य जीवन से भी सम्बन्ध रखती हैं। इनमें धोबियों का नृत्य, चमारों का नाच, कहारों का रुद्र नृत्य आदि भी सम्मिलित हैं। ग्रामीण दृश्य-सम्बन्धी भी कुछ कविताएँ हैं। इन समस्त कविताओं पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि पंत की निरीक्षण-शक्ति बड़ी तीव्र है और ग्रामीण जीवन के प्रति उनकी बौद्धिक सहानुभूति है। बौद्धिक सहानुभूति का यह अर्थ है कि कवि उसमें भावमग्न नहीं होता। वस्तुतः पंत का ग्राम्य-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है और न उसके प्रति उनके हृदय में विशेष अनुराग है। इसलिए उनकी कविता में ग्राम्य-जीवन विषयक त्रुटियां की कमी नहीं है। अनेक चित्रों में अतिरंजना और एकांगिता आ गई है।

७. गीतिकाव्य—पन्त का गीतिकाव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। उन्होंने कई ऐसे गीत हिन्दी-साहित्य को दिए हैं जो भाव एवं भाषा की दृष्टि से बेजोड़ हैं। 'मौन निमंत्रण' उनका एक अमर गीत है। उसका एक-एक पद भाव से पूर्ण है। उसकी हृदय पर अमिट छाप पड़ती है। कल्पना की उत्कृष्टता और अज्ञात की अनुभूति में कवि को प्रकाश में, सघन मेघों में, वसुधा के यौवन में, बड़े निंद्य सिन्धु में, विश्व के अनन्त सौंदर्य में और दुर्गम तम में भी, न जाने कौन, रह-रहकर प्रकाश के सन्देश से मौन निमन्त्रण दे रहा है। भावना के साथ भाषा भी बड़ी व्यंजक है। 'छाया' भी उनका एक प्रसिद्ध गीत है, संक्षिप्त होने के

कारण उसका सौंदर्य बिखर-सा गया है। 'गुंजन' में उनके छोटे-छोटे गीत अवश्य हैं, पर उनमें जीवन की दार्शनिक अभिव्यंजना अधिक हुई है, इसलिए वे कुछ शुष्क और नीरस हो गये हैं। 'लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल, लोगी मोल' उनका एक अच्छा गीत है। इसी प्रकार 'सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि ! मुझे भी अपने मीठे गान' भाव और भाषा की दृष्टि से एक सफल गीत है। वस्तुतः पन्त के काव्य में गीतों की प्रचुरता नहीं है। पर उनके जो गीत हैं, वे अत्यन्त सुन्दर और सरल हैं। भाषा की मृदुलता उनमें अपार है। कहीं-कहीं अलंकृत भाषा और कल्पना के आधिक्य से उनके गीत नीरस भी हो गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त आधुनिक युग के एक सफल कवि हैं। उ[illegible] है, जीवन में काव्य है और काव्य में प्रकृति है। वह हिन्दी के स्वच्छन्दतावाद के प्रथम सच्चे कवि हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति का सौंदर्य, जीवन का सौंदर्य, जगत् का सौंदर्य, भावों का सौंदर्य, भाषा का सौंदर्य—हर तरह का सौंदर्य अपनी चरम सीमा पर अंकित हुआ है। वह हिन्दी के उच्चकोटि के कलाकार और बेजोड़ कवि हैं।

पंत की रस-योजना

पन्त की रस-योजना परिपूर्ण और प्रौढ़ है। उनकी रचनाओं में प्रायः कई रसों का सुन्दर और प्रशंसनीय परिपाक हुआ है। शृंगार रस के परिपाक में तो वह अप्रतिम हैं। उन्होंने रस के दोनों पक्षों का—संयोग और वियोग का—सुंदर चित्रण किया है। शृंगार का स्थायी भाव रति है। रति का सफल चित्रण पन्त के कवि की एक विशेषता है।

'ग्रन्थि' पन्त की विप्रलंभ शृंगार-प्रधान कविता है। इस कविता में युवक हृदय की भावना पूर्ण रूप से व्यंजित हुई है। इसलिए कवि को रति के संयोग और वियोग के चित्रांकन में बड़ी सफलता मिली है।

उनके पूर्वराग और वियोग दोनों के चित्र अधिक संगत हैं। प्रथम मिलन का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

शीश रख मेरा सुकोमल जांघ पर
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल,
सदय, भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से।

वियोगजन्य विषाद का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बंधन हो गया, वह नव-कुसुम,
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया।

इस प्रकार ग्रन्थि में दर्शन, सौंदर्य, प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, आह, अश्रु-वेदना आदि विरह के उपकरणों पर सुन्दर उद्गार हैं। उसमें आरंभ में पूर्वराग का भी अच्छा विकास है जो संयोग की सीमा तक पहुँच गया है।

रस-योजना की दृष्टि से 'परिवर्तन' में करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और शान्त आदि रसों का सम्यक् परिपाक मिलता है। उनकी रचनाओं में हास्य रस का स्फुरण कम है। वास्तव में करुण और शृंगार ही इनके मुख्य रस हैं और यह इसलिए कि उनका भाव-जगत् सीमित है। आज का कवि रस-सृष्टि की बारीकियों को ध्यान में रखकर कवि नहीं है, वह अपने अन्तस के भावों के भार से दबकर लेखनी उठाता है। ऐसी दशा में उसकी लेखनी स्वयं रस टपकाती चलती है। करुण और शृंगार के क्षेत्र में पन्त की लेखनी रस की अविरल धारा प्रवाहित करती है।

पन्त ने अपनी कविता-कामिनी की शृंगार-साधना में बड़ा कौशल दिखाया है, पर इस साधना में रीतिकालीन कवियों की भाँति वह अस्वाभाविक नहीं हुए हैं। उनकी अलंकार-योजना सर्वत्र स्वाभाविक है। उन्होंने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग बड़े कौशल से किया है। उनके शब्दालंकार भाषा की बसनसज्जा के उपकरण होने के कारण भाषा के अंग बन गये हैं। संयत अनुप्रास की छटा उनकी चित्रमय भाषा में सर्वत्र मिलती है। इसके अतिरिक्त श्लेष, पुनरुक्ति तथा यमक का भी चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। यमक का प्रयोग इन पंक्तियों में देखिए :—

पंत की अलंकार-योजना

तरणि के ही संग तरल तरंग से तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

पन्त अनुप्रास के धनी हैं। वास्तव में कविता-कामिनी की शृंगार-साधना में अनुप्रास का वही स्थान है जो रमणी की बसन-भूषा में नूपुरों का। पन्त के अनुप्रास कविता-कामिनी के शृङ्गार में नूपुरों का ही काम करते हैं। अनुप्रास की छटा इन पंक्तियों में देखिए :—

वन-वन उपवन,

छाया उन्मन उन्मन गुंजन, नव वय के अलियों का गुंजन।

शब्दालंकार की भाँति पन्त की अर्थालंकार-योजना भी अत्यन्त प्रौढ़ है। उस पर पश्चिमी पालिश अधिक अवश्य है, पर भारतीय अलंकार-शास्त्र से भी वह अनुप्राणित है। उसमें सादृश्य-मूलक अलंकारों को अधिक स्थान मिला है। उपमा और रूपक पन्त की कविता में मणियों की भाँति चमकते हैं। उनकी उपमाएँ नवीन होती हैं। उनमें परम्परा की गन्ध नाम-मात्र के लिए भी नहीं पाई जाती। उपमाओं के समान ही उनके उपमान भी रंगीन होते हैं। वह अपने अलङ्कार-विधान में सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं। उन्होंने सांगोपांग रूपक, उल्लेख, स्मरण,

सन्देह, समासोक्ति, अन्योक्ति, सहोक्ति यथासंख्य, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का विधान अपनी रुचि वैचित्र्य के अनुकूल ही किया है। सन्देह उनका प्रिय अलङ्कार है। इसका एक उदाहरण लीजिए :—

निद्रा से उस अलसित वन में वह क्या भावी की छाया;
दृग-पलकों में विचर रहीं, या वन्य देवियों की माया?

इन भारतीय प्राच्य अलंकारों के अतिरिक्त पन्त ने अँगरेज़ी अलंकार शास्त्र से भी कुछ अलंकार लेकर अपनी कविता-कामिनी का शृंगार किया है। ऐसे अलंकार हैं विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण। इनमें पहला भाषा की लक्षणा-शक्ति का और दूसरा उसकी मूर्तिमत्ता का परिणाम है। पन्त का एक पद है 'मूक व्यथा का मुखर भुलाव'। इसमें विशेषण विपर्यय अलंकार है। यहाँ 'व्यथा' का प्रयोग व्यथित व्यक्ति के लिए हुआ है। अतः व्यथा मूक नहीं, अपितु व्यथित व्यक्ति ही मूक है। प्रेम का मानवीकरण इन पंक्तियों में देखिए :—

पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो, नहीं।

सारांश यह कि पन्त की अलंकार-योजना बड़ी सफल है। अलंकारों के प्रयोग से उनकी भाषा में सौंदर्य-वृद्धि भी हुई है और दुरुहता-वृद्धि भी। कुछ कविताएँ भूषण-भार से दबकर गतिहीन भी हो गई हैं।

पंत की छन्द-योजना

पन्त की छन्द-योजना अत्यन्त विषद है। अपनी छन्द-योजना के प्रति उनका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। कविता तथा छन्द के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए वह कहते हैं—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में प्रवाह खो बैठती

है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।' उनके इन छन्द-सम्बन्धी विचारों के आलोक में जब हम उनकी छन्द-योजना पर विचार करते हैं तब हमें उनके प्रत्येक छन्द में राग और संगीत की एक अविरल धारा का आभास मिलता है। उनके छन्दों में हमें कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ पृथक् अथवा असम्बद्ध नहीं मिलतीं और यदि कहीं हैं भी तो लय द्वारा उनकी पूर्ति हो जाती है।

पंत ने मात्रिक छन्दों में ही अपने समस्त काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनका विचार है कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और संगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों द्वारा ही हो सकती है। इसलिए उन्हें हिन्दी-छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका आदि छन्द अधिक प्रिय हैं। इन छन्दों में उन्होंने अपनी रुचि तथा संगीत की रक्षा के विचार से परिवर्तन भी किया है। उनके छन्दों में एक स्वरता नहीं है। छन्दों की एक स्वरता नष्ट करने तथा भावाभिव्यक्ति के सहज प्रवाह का निर्वाह करने के लिए उन्होंने उनके चरणों को घटा-बढ़ाकर न्यूनाधिक परिवर्तन भी किया है। उन्होंने मुक्त-छन्द भी लिखे हैं। उनकी छन्द-योजना पर अँगरेज़ी छन्दों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

पंत के छन्द भावों की गति के अनुसार चलते हैं। इस बात को हम यों भी कह सकते हैं कि उनके भाव स्वयं अपने अनुकूल छन्द में परिणत हो जाते हैं। इससे उनके छन्दों में स्वाभाविकता बनी रहती है। 'गुञ्जन' में उन्होंने अपनी छन्द-योजना में अधिक संयम से काम लिया है। उसमें अनुक्रम का अधिक ध्यान रखा गया है। सारांश यह कि पंत की छन्द-योजना उनकी कल्पना, भावना तथा विचारों के उत्थान-पतन के अनुरूप संकुचित और प्रसारित होती रहती है।

पंत खड़ीबोली के कवि हैं, पर उन्होंने अपनी कविता में जिस
बोली को स्थान दिया है वह उनकी अपनी खड़ीबोली है। वह
अपनी खड़ीबोली के स्वयं निर्माता हैं। संगीत-प्रिय
होने के कारण उन्होंने गुप्तजी तथा प्रसादजी से प्राप्त

की भाषा
र शैली

होनेवाली भाषा में बहुत कुछ परिवर्तन किया है।
भाषा के सम्बन्ध में वह कहते हैं—भाषा संसार का
नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की
हृत्तन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति
है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण उन्होंने अपनी काव्य-भाषा
धिक-से-अधिक लय, ताल और संगीत के निकट लाने की चेष्टा
। अपनी इस चेष्टा में वह सफल भी हुए हैं। उनकी भाषा कोमल
र उनके मधुर भावों को वहन करने में पूर्ण रूप से समर्थ हुई है।
ाषा की कला के अच्छे जानकार हैं और उसे अपने भावानुकूल
में पटु हैं। उन्होंने उस पर अपना इतना अधिकार जमा लिया
वह उनके पीछे-पीछे चलती है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम
से बोझिल अवश्य है, पर उन्होंने उसकी कोमलता और मधुरता
ान अवश्य रखा है।

ंत की भाषा चित्र-भाषा है। उनके शब्द भी चित्रमय और सस्वर
। उनकी भाषा में उनके शब्द कभी तो सेना के सिपाहियों की
पगध्वनि करते हुए सुनाई पड़ते हैं और कभी बच्चों की भाँति
ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते पाये जाते हैं। इसका प्रमुख
यह है कि शब्द-चयन पर उनका विशेषाधिकार है। उनकी रचना
येक शब्द उनकी साधना का, उसके चिन्तन का परिणाम है।
की व्यंजनापूर्ण तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य होते हुए भी उन्होंने
रचना के लिए ब्रजभाषा, फारसी, उर्दू तथा अँगरेजी के शब्द-
ी भी सहायता ली है और उन्हें अपने काव्योचित साँचे में ढालकर
चित्रमय और कर्णसुखद बनाया है। संस्कृत के अक्षय भण्डार से

उन्होंने रंगीन शब्दों का ही चयन किया है। ब्रजभाषा के अजान, दई, दीठ, काजर, कारे, फारसी के नादान, चीज तथा अँगरेजी के रूम इत्यादि शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर उन्होंने अपनी सरसता और भाषा-कला-विद्वत्ता का एक साथ परिचय दिया है। उन्होंने नये शब्द भी गढ़े हैं। स्वप्निल, प्रिय, सिंगार, अनिर्वच आदि उनके अपने गढ़े हुए शब्द हैं। वह था, री, रे आदि का प्रयोग भी अत्यधिक करते देखे जाते हैं। संगीत का निर्वाह करने के लिए ही कदाचित् उन्होंने इनका स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया है।

पंत की भाषा में कुछ शब्दों के विचित्र प्रयोग भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'मनोज' शब्द लीजिए। यह शब्द रूढ़ है कामदेव के अर्थ में, पर पंत ने व्युत्पत्ति-अर्थ में इसका प्रयोग करके बापू के लिए सार्थक कर दिया है। 'अछूत' भी एक ऐसा ही शब्द है। प्रचलित शब्द के अनुसार नये शब्द बनाने की कला में भी वह पारंगत हैं। उनके लिए एक-एक शब्द अपना एक-एक मूर्त रूप रखते हैं, इसीलिए हम उनकी कविताओं में एक ही पर्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। प्रहसित, विहसित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन आदि शब्दों की उपयुक्तता, भावों के लिए उनकी स्थापनापन्नता एवं सुघर मितव्ययता उनके भाषा-सौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं एक ही शब्द से उनकी कविता प्राणान्वित हो उठी है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त सामासिक पदावली एक वाक्य में ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

पंत की भाषा में व्याकरण की कठोरता भी कोमल की गई है। व्याकरण के नियमों का कहीं-कहीं उल्लंघन करके उन्होंने अपनी भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। अपने इस प्रयास में उन्होंने कई शब्द पुल्लिंग से स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग से पुल्लिंग में प्रयोग किये हैं। इसी प्रकार संस्कृत के सन्धि-नियमों में भी उन्होंने परिवर्तन किया है। 'महत्ता-

टल अनुराग है। इसलिए दोनों शृंगारी, रहस्यवादी और दार्शनिक
वि हैं। दोनों आस्तिक हैं। दोनों को मानव-जीवन और उसके उच्चा-
शों से प्रेम है। दोनों आशावादी हैं और विश्व-बन्धुत्व में विश्वास
रते हैं। आधुनिक युग की सामाजिक एवं राजनैतिक चेतनाओं से
नों भलीभाँति परिचित हैं और उनसे प्रभावित भी हैं। दोनों में
मन्वय की भावना भी पाई जाती है। दोनों साहित्य-कला के अच्छे
रखी और अध्ययनशील हैं। बंग-साहित्य और संस्कृत-साहित्य से
नों को प्रेम है। दोनों सहृदय और भावुक हैं। पर इतनी समानता
ते हुए भी दोनों की अन्तर्चेतना में, दोनों की अभिव्यक्ति में, दोनों
शैली में महान् अन्तर है। इस अन्तर के दो ही मुख्य कारण हैं—
क तो जीवन-परिस्थितियों की प्रतिकूलता और दूसरे अध्ययन की
विभिन्नता। पंत के जीवन में पलायन-प्रवृत्ति है। जीवन के संघर्षों से
बचते रहे हैं। प्रकृति-सुन्दरी की सुषमाभरी गोद से नीचे उतरकर
न्होंने जीवन की कठोर भूमि पर पैर रखने का साहस नहीं किया है,
लिए मानव-हृदय का वह अन्तर्द्वंद्व उनकी रचनाओं में नहीं है जो
ाद की रचनाओं में पाया जाता है। प्रसाद का जीवन संघर्षमय है।
की कविता जीवन के संघर्ष में पनपी और पुष्पित हुई है। पंत की
ना जीवन-प्रहर्ष में प्राप्त हुई है। प्रसाद की रचनाओं में पाने-खोने
हर्ष-विषाद है, सांसारिक आवेग-प्रवेग है, इसलिए वह लौकिक जीवन
लिए विश्वसनीय हो सके है। पंत की रचनाएँ जीवन के उल्लास को
र ही चली है। वह इतने सुकुमार रहे हैं कि वह सुख-सुषमा
सी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण कर सके हैं। इसलिए वह उसका
िक्रम कर उसकी चरम सीमा पर भी चले गये हैं, जितना ही वह
गये हैं उतना ही पीछे लौट भी पड़े हैं। जिस वास्तविकता से विरत
र वह कभी कल्पनाशील हुए थे, लौटकर उसी वास्तविकता की
शाहीन कुरूपता पर असन्तोषी भी हो गये हैं। प्रसाद आरम्भ से ही
व-जीवन के विकास की ओर अग्रसर हैं।

अध्ययनशीलता की दृष्टि से प्रसाद का अध्ययन पंत के अध्
की अपेक्षा अधिक गम्भीर और विस्तृत है। भारतीय साहित्य का जै
गम्भीर अध्ययन प्रसाद ने किया है वैसा किसी आधुनिक कवि का
दीख पड़ता। एक प्रकार से उनका समस्त रचनाएँ भारतीय साहित्य
प्रभावित हैं। उनकी प्रतिभा भी पंत की प्रतिभा की अपेक्षा अधि
बहुमुखी है। कामायनी उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ज्वलन्त उदाह
है। इसके अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में हमें उन
प्रतिभा के दर्शन होते हैं। पन्त की प्रतिभा सीमित है। वह कविता
सीमित क्षेत्र में ही विकसित हुई है। रहस्य-भावना की दृष्टि से प
की रहस्य-भावना स्वाभाविक है। प्रसाद अपनी रहस्य-भावना में साम्
दायिक हैं। पंत को अपेक्षा उनमें दार्शनिकता भी अधिक है। प्रसा
भारतीय दर्शन के पंडित हैं। उन्होंने पुराण और वेदों का गंभी
अध्ययन किया है और उनसे अपनी रचनाओं के लिए पर्याप्त सामग्
एकत्र की है। उन्होंने भारत को प्राचीन संस्कृति के आधार पर
नवीन संस्कृति का प्रासाद निर्माण किया है। वह अपनी रचनाओं
में प्राचीन वैभव का ही संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत कर सके हैं। पंत की
रचनाओं में इस प्रकार का प्रयास नहीं है। प्रसाद अपनी रचनाओं
में प्राचीन और नवीन दोनों हैं, पंत केवल नवीन हैं। वह भावी के
कवि है। प्रसाद ने तीनों कालों का अपनी रचनाओं में समन्वय
किया है। प्रसाद पौराणिक संस्कृति के वैतालिक हैं, पंत समाजवादी
जगत् के।

शैली की दृष्टि से प्रसाद प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं, पंत मुक्तक।
प्रसाद की भाषा में ओज और पौरुष है, पंत की भाषा में सहज
कोमलता और माधुर्य। पंत की भाषा प्रसाद की भाषा की अपेक्षा
अधिक अलंकृत और संगीतमय है। काव्य, चित्र और संगीत तीनों की
त्रिवेणी से पंत की भाषा अत्यन्त पूत हो गई है। पंत प्रसाद की
अपेक्षा अधिक कलाकार हैं, इतने कलाकार हैं कि कहीं-कहीं उनकी

कल्पना उन्हें अपने साथ बहा भी ले गई है। कल्पना द्वारा भावों का मूर्त चित्र अंकित करने में वह प्रसाद की अपेक्षा अधिक सफल हैं। वह भाव और भाषा दोनों के कवि हैं; प्रसाद भावना के कवि हैं। पंत अपने मुक्तकों में सफल कवि हैं और प्रसाद अपने इतिवृत्तात्मक रचनाओं में। पन्त के काव्य में कला का सौंदर्य है, प्रसाद के काव्य में कला का ओज और पौरुष। पन्त प्रकृति के माध्यम से काव्य-क्षेत्र में आए हैं, इसलिए उन्हें प्रकृति के सूक्ष्म व्यापारों का बहुत ही सुन्दर ज्ञान है। प्रसाद जीवन के माध्यम से काव्य-क्षेत्र में आये हैं, इसलिए जीवन के अन्तर्द्वन्द्व का उन्होंने अत्यन्त सफल चित्रण किया है। पन्त और प्रसाद के दृष्टिकोणों में हमें जो अन्तर दिखाई देता है उसका कारण वस्तुतः उनके माध्यम की विभिन्नता है। माध्यम की विभिन्नता के कारण ही एक युग के दोनों कलाकार दो रूपों में हमारे सामने आये हैं। पन्त देश-काल के बन्धनों से परे हो गये हैं और प्रसाद देश-काल की चेतनाओं तथा अन्तर्चेतनाओं को समेटकर आगे बढ़े हैं। संक्षेप में दोनों कवियों की रचनाओं में यही महान् अन्तर है।

पंत का हिन्दी-साहित्य में स्थान

अब तक हमने पंत की काव्य-साधना पर कई दृष्टियों से विचार किया है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह हिन्दी की नई धारा के जागरूक कवि और कलाकार हैं। यों तो वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं, पर यथार्थ रूप से हिन्दी-जगत् में उनका प्रवेश सन् १९१७-१८ से होता है। उस समय की उनकी रचनाएँ 'वीणा' में संग्रहीत हैं। इन कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ ही से उनका झुकाव हिन्दी की काव्य परम्परा के विपरीत एक नवीन दिशा की ओर था। प्रकृति-सुन्दरी की गोद में जन्म लेने तथा अपने विद्यार्थी जीवन में शैली, कीट्स, वर्डस्वर्थ आदि कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उन्हें अपनी नवीन दिशा की ओर

अग्रसर होने में बड़ी सहायता मिली। उन्होंने अंगरेजी तथा बंगला साहित्य से बहुत कुछ लेकर उसे अपने काव्य का पाथेय बनाया, अपनी उर्वर कल्पना के साहचर्य एवं सहयोग से अंगरेजी-शैली के अनुकरण पर अमूर्त भावनाओं का मानवीकरण किया और नवीन उपमाओं की योजना से अपनी कविता को अलंकृत किया। अपने भावों के अनुरूप ही उन्होंने अपनी भाषा का भी संस्कार किया। इसलिए अंगरेजी-साहित्य जाननेवाले नवयुवकों में उनकी रचनाएँ लोक-प्रिय होने लगीं और आज हम उन्हें हिन्दी की एक नवीन धारा का नेतृत्व करते हुए पाते हैं।

पन्त प्रकृति और जीवन की कोमलतम विविध भावनाओं के कवि हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति और पुरुष ने स्पष्ट होकर साम्य किया है। शब्दों के साथ उनके भाव लहराते चलते हैं। उनकी प्रत्येक कविता-पंक्ति पाठक को तन्मयता के रंग से नहलाती चलती है। वह जो कुछ कहते हैं, उसमें स्वाभाविकता होती है और उनके शब्द-चित्र भाव-चित्रों का निर्माण करते चलते हैं। बादल, बिजली, तारे, चन्द्रमा, प्रातः, सन्ध्या, नदी, झरना, भूधर, पुष्प आदि के मनोरम एवं गंभीरतम चित्रण के साथ जीवन के विभिन्न अंगों पर विशद वर्णन और रूप-निर्माण में वह अप्रतिम हैं। उनका कवि प्रधान रूप से कलाकार है। उनके काव्य में कला, विचार तथा भावों का सम्मिश्रण इतनी सुन्दरता से होता है कि एक को दूसरे से पृथक् करना असंभव हो जाता है। काव्य, चित्र और संगीत तीनों की प्राणवाहिनी त्रिवेणी उनकी रचनाओं में बिम्बित-प्रतिबिम्बित होती हुई चलती है। भावों का मूर्त-चित्र उतारने में हिन्दी का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। शब्दों का राग, चित्रमय थिरकन और चुस्ती तो कदाचित् उनकी अपनी एक विशेषता है। उन्होंने हिन्दी को नई भाषा, नई शैली, नई योजना, नई अर्थाभिव्यक्ति और काव्य को नया प्राण दिया है। परन्तु कोमलता के अतिरिक्त पौरुष का उनमें अभाव है। उनमें पुरुष निर्बल है। जीवन और प्रकृति के

इस पहलू के वह कवि नहीं हैं। उनका वह स्वभाव है जो उन्हें इन गुणों की ओर आकर्षित नहीं करता। वह अखिल जग-जीवन के हास-विलास के कवि हैं।

पन्त मननशील कवि हैं। जीवन के प्रत्येक रूप को, प्रकृति की प्रत्येक छवि को उन्होंने आत्मविभोर एवं तन्मय होकर देखा है। इसलिए जिस दिशा में, जिधर उनकी लेखनी चली है, उधर ही वह अपने में पूर्ण हो उठी है। उनकी रचनाओं में जीवन की उत्तम अनुभूति पद-पद पर लक्षित होती है। जगत् के भावात्मक और बौद्धिक चित्रों में वह सर्वप्रथम मानवतावादी कवि हैं। इस प्रकार उनके काव्यजगत् में दो धाराओं का सन्निवेश हो गया है—एक में उनके कवि-हृदय का स्पन्दन है, दूसरी में विश्व-जीवन का धड़कन। सन् १९१८ से १९३२ तक की उनकी रचनाएँ पहली धारा के अन्तर्गत आती हैं और इसके बाद की रचनाएँ दूसरी धारा में। हाल की कविताओं में विश्व-जीवन ने उनके कवि-हृदय पर प्रधानता प्राप्त कर ली है। उनमें शब्दकवि के हैं, विचार-तत्त्व चिन्तक के। जीवन के प्रारम्भिक चरणों में मानव-हृदय स्वभावतः सौन्दर्य और प्रेम की कल्पना-प्रधान अभिव्यक्ति के लिए ही लालायित रहता है। उस समय उसकी रुचि अधिकतर अलंकृत ही रहती है। इसके बाद ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती जाती है त्यों-त्यों वह आत्म-सत्य के चिन्तन में निमग्न होने लगता है। पन्त के विकास का भी यही स्वाभाविक क्रम रहा है। विश्व-सौन्दर्य ने उन्हें पहले भावुक बना दिया था, पर अब विश्व-जीवन ने उन्हें जिज्ञासु और विचारक भी बना दिया है।

पन्त मुख्यतः दृश्य-जगत् के कवि हैं। पहले वह प्राकृतिक सौंदर्य के कवि थे और अब वह जीवन-सौंदर्य के कवि हैं। इसलिए अदृश्य अध्यात्म के प्रति उनमें विशेष उत्कण्ठा नहीं है। यही कारण है कि उनकी रहस्यभावना स्वाभाविक एवं सरल है। उनमें कबीर अथवा जायसी की-सी साम्प्रदायिकता नहीं है। आस्तिकवादी होने के कारण

वह उस विराट् सत्ता के प्रति आश्चर्य प्रकट करके ही रह जाते हैं इससे आगे वह नहीं बढ़ते। वह वस्तुतः मानव-जीवन के ही कवि हैं वह जीवन को सुख-दुख के बन्धनों से मुक्त करके सार रूप में अपनाने के पक्षपाती हैं। वैराग्य में उनका विश्वास नहीं है। वह कर्म में विश्वास करते हैं। इस ज्ञान-विज्ञान के युग में वह मानव की आर्थिक और बौद्धिक अभिवृद्धि ही नहीं चाहते, वह चाहते हैं मानव का विकास। उनका विश्वास है कि सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शान्ति का उपभोग कर सकती है और पशु से देवता बन सकती है।

भाषा की दृष्टि से पन्त ने अपने समय की खड़ीबोली को संस्कृत की शब्दयष्टि देकर दृढ़ किया है और हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोगों का आविष्कार करके भाषा में एक नई जान डाल दी है। उन्होंने खड़ीबोली को भाषाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है। इससे उनकी प्रतिभा का उज्ज्वल परिचय मिलता है। अलंकार की दृष्टि से उनकी रचना में उपमा और रूपक का अच्छा समावेश हुआ है। उनकी उपमाएँ सर्वथा नवीन और सब प्रकृति से ली हुई हैं। शृंगार और करुण रसों के वह स्रष्टा हैं। इन रसों के विकास में उनकी कल्पना ही प्रमुख बनकर उपस्थित हुई है। वह वियोग-वर्णन में कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते हैं, पर संयोग-वर्णन में वह प्रायः कभी ऐसा नहीं करते। उनका संयोग-पक्ष सर्वत्र कल्पना-प्रसूत होने के कारण अधिक संयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। उनकी ऐसी रचनाओं में काव्य-मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भाव-जगत् तक पहुँच गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त हिन्दी के एक उच्चकोटि के कवि हैं। उनकी काव्य-साधना बराबर विकासमूलक रही है। वह अपने बाह्य और अन्तर दोनों के निर्माण में सदैव सचेष्ट रहे हैं। वह पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मर्मज्ञ हैं। दर्शन तथा अन्य शास्त्र

कलाओं में उनकी अच्छी गति है। कवि-मर्यादा और कलात्मक संयम इन दोनों का अपूर्व समन्वय उनकी रचनाओं में हुआ है। आज वह गांधीवाद और समाजवाद का सुन्दर समन्वय अपनी रचनाओं में कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उनकी निरन्तर प्रगतिशील प्रतिभा अभी लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकी है। उनके व्यक्तित्व का पहला अंग जितना बलवान् है, दूसरा उतना ही दुर्बल। अतएव प्राप्ति उनसे अभी दूर ही है। इसलिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका स्थान भी अनिश्चित सा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद, निराला और महादेवी के पश्चात् हिन्दी की नवीन धारा के अन्य कवियों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है।

महादेवी की प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में हुई। वहाँ उन्हों
छठी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। घर पर चित्रण और संगीत की शिक्
भी उन्हें दी गई। तुलसी, सूर और मीरा का साहित्य उन्होंने अपन
माता से ही पढ़ा। वह बचपन से ही साहित्य-प्रिय और भावुक थीं। सं
१६७३ में उनका विवाह डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हुआ
इससे उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। उनके श्वशुर लड़कियों की शिक्
के पक्ष में नहीं थे। अब तक उनकी शिक्षा पिता और माता के आग्रह
कारण ही हुई थी। इसलिए श्वशुर के देहान्त के पश्चात् वह पुन
शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुईं। सं० १६७७ में उन्होंने प्रया
से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा पास की। युक्तप्रान्त के विद्यार्थिय
में भी उनका स्थान सर्वप्रथम रहा। इसके फलस्वरूप उन्हें छात्रवृ
मिली। सं० १६८१ में उन्होंने एंट्रेंस की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी
पास की और पुनः संयुक्तप्रान्त में उन्हें सर्वप्रथम स्थान मिला। इ
बार भी उन्हें छात्रवृत्ति मिली। सं० १६८३ में उन्होंने इंटरमीडिए
और सं० १६८५ में बी० ए० की परीक्षा कास्थवेट गर्ल्स कालेज से पा
की। अन्त में उन्होंने संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा पास की। इ
प्रकार उनका विद्यार्थी जीवन आदि से अन्त तक बहुत सफल रहा
बी० ए० की परीक्षा में उनका एक विषय दर्शन भी था। इसलि
उन्होंने भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। इस अध्ययन क
छाप उन पर अब तक बनी हुई है।

विद्यार्थी-जीवन की भाँति महादेवी की साहित्य-साधना भी अत्यन्
सफल रही। बाल्यकाल से ही कविता करने की ओर उनका आकर्षण
रहा है। बड़ी होने पर वह अपनी माता के पदों में अपनी ओर
कुछ कड़ियाँ जोड़ दिया करती थी। स्वतंत्र रूप से भी वह तुकबंदिया
करती थी, पर उन्हें पढ़कर वह प्रायः फेंक दिया करती थी। वह अपनी
तुकबंदियाँ किसी को दिखाना पसन्द नहीं करती थीं। कविताएं लिखक
उन्हें नष्ट कर देने में ही उन्हें सन्तोष मिलता था। पर ज्यों-ज्यों उनक

शिक्षा उन्नत होती गई, त्यों-त्यों उनकी कविता में भी प्रौढ़ता आती गई। यह देखकर उन्होंने अपनी रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित होने के लिए भेजीं। हिन्दी-संसार में उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ। इससे महादेवी को अधिक प्रोत्साहन मिला और वह काव्य-साधना की ओर अग्रसर हो गईं। आज वह हिन्दी की अप्रतिम कवयित्री समझी जाती हैं।

महादेवी का अब तक का जीवन शिक्षा-विभाग में ही व्यतीत हुआ है। एम० ए० पास करने के पश्चात् वह प्रयाग महिला-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका नियुक्त हुईं और अब भी वह उसी पद की शोभा बढ़ा रही हैं। उनके सतत् उद्योग से उक्त विद्यापीठ ने उत्तरोत्तर उन्नति की है। वह 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी हैं। इधर कुछ दिन हुए उन्होंने 'साहित्य संसद' नाम की एक संस्था स्थापित की है। इस संस्था द्वारा वह हिन्दी-लेखकों की सहायता करना चाहती हैं। 'नीरजा' पर उन्हें ५००) का सेकसरिया पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी उन्हें मिल चुका है। ५००) का सेकसरिया पुरस्कार उन्होंने महिला-विद्यापीठ को दान कर दिया, इससे उनकी उदारता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

महादेवी की रचनाएँ—महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-संसार में बड़ा सम्मान है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—१. गद्य और २. पद्य। इन दोनों प्रकार की रचनाओं का वर्तमान हिन्दी-साहित्य में अच्छा स्थान है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

१. **कविता**—*नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत* और *दीपशिखा*। *यामा* में *नीहार, रश्मि* और *नीरजा* की कविताओं का संग्रह है।

२. **निबन्ध**—*अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ*।

३. **आलोचना**—*हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य*।

महादेवी का व्यक्तित्व हिन्दी के कवियों तथा कवयित्रियों के बीच अपनी विशेषताओं के कारण किसी से मेल नहीं खाता। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण किया है। शरीर से दुबली-पतली होने पर भी उनमें स्फूर्ति है। उनके जीवन में कृत्रिमता नहीं है। शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा वह मानसिक सौंदर्य को बहुत अच्छा समझती हैं। उनके जीवन में सादगी है, पर विचारों में उच्चता है। उनका भोजन सादा और रहन-सहन साधारण है। अपने शरीर का श्रृंगार वह सादे वस्त्रों से ही करती हैं। उनके वस्त्रों से, उनकी रहन-सहन से उनकी सुरुचि का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

महादेवी का व्यक्तित्व

दुर्बल शरीर में सबल प्राण महादेवी को ही मिला है। उनकी आत्मा उनके शरीर से अधिक बली है। प्रायः रुग्ण रहने पर भी वह अपनी आत्मा में किसी प्रकार की दुर्बलता को स्थान नहीं देतीं। इसीलिए वह मानव जीवन की विविध कठिनाइयों को झेलने में समर्थ हुई है। उनके जीवन में वेदना भी है, पुलक भी है, हास्य भी है, रुदन भी है। इन दोनों के समन्वय में ही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। उनकी नारी-सुलभ कोमल भावनाओं में चंचलता नहीं, सौम्यता और गम्भीरता है। वह बहुत कम बोलती हैं, उतना ही बोलती हैं जितने से उनका काम चल जाता है। पर जब बोलने लग जाती हैं तब जी खोलकर बातें करती हैं। उस समय उनकी आत्मीयता दर्शनीय होती है। उनमें अभिमान नहीं है, न अपने पद का न अपने कवित्व का। अपने दैनिक व्यवहारों में भी वह सम और सरल हैं। उनका मस्तिष्क ज्ञानी का सा है, पर उनका हृदय बालकों-का सा अबोध है। उनके कमरों में बच्चों के दर्जनों खिलौने आसानी से देखे जा सकते हैं।

महादेवी स्पष्ट वक्ता हैं। उन्हें जो कुछ कहना होता है उसे थोड़े में वह कह देती हैं। उनकी स्पष्टवादिता के लिए कोई उन्हें क्या

महादेवी हिन्दी की अत्यन्त लोकप्रिय कवयित्री हैं। उनकी वेदना-प्रधान रचनाएँ हिन्दी के अमरगान हैं। इन अमरगानों की रचना की और वह आरम्भ में किस प्रकार आकर्षित हुईं, इस सम्बन्ध में आधुनिक कवि भाग १ की भूमिका में वह कहती हैं—'परन्तु एक ओर साधनापूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर, आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थिति हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्वभूमि पर माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीराँ, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर, मैंने ब्रजभाषा में पद-रचना आरंभ की थी। मेरे प्रथम हिन्दी-गुरु भी ब्रज-भाषा के ही समर्थक निकले, अतः उलटी सीधी पद-रचना छोड़कर मैंने समस्यापूर्ति में मन लगाया। बचपन में जब पहले-पहल खड़ीबोली की कविता से मेरा परिचय पत्रिकाओं-द्वारा हुआ तब उसमें बोलने की भाषा में ही लिखने की सुविधा देखकर मेरा अबोध मन उसी ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट होने लगा। गुरु उसे कविता ही न मानते थे, अतः छिपा-छिपाकर मैंने रोला और हरिगीतिका में भी लिखने का प्रयत्न आरंभ किया। माँ से सुनी एक करुण कथा का प्रायः सौ छन्दों में वर्णन कर मैंने मानो खण्ड-काव्य लिखने की इच्छा भी पूर्ण कर ली।

महादेवी पर प्रभाव

इस उद्धरण से महादेवी की काव्य-साधना के सम्बन्ध में कतिपय प्रभावों का ज्ञान हो जाता है, पर एक बात का [illegible] देवी मुख्यतः वेदना की गायिका हैं। अतः यह प्रश्न हो सक[illegible] उनके काव्य में वेदना की अभिव्यक्ति क्यों और कैसे आई?

के लिए हमें उनके जीवन के दो स्थलों को टटोलना पड़ेगा । इन दो स्थलों में से एक का सम्बन्ध उनके दाम्पत्य जीवन से है और दूसरे का उनके अध्ययन और समय की प्रगति से।

महादेवी के दाम्पत्य जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध में अधिकार-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, पर उनकी [illegible] ध्वनि इस बात की ओर अवश्य संकेत करती है कि [illegible] हुए हैं, तभी तो एक स्थान पर उन्होंने लिखा। [illegible] सुख-दुःख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता [illegible] तो मेरे पास मित्र का अभाव है।' वस्तुतः उनके एक इसी वाक्य में उनके हृदय की समस्त वेदना छिपी हुई है। वेदना के प्रति उनके स्नेह को इसी अभाव ने विकसित और प्रसारित किया है। उनकी यही लौकिक वेदना उनकी रचनाओं में अलौकिक वेदना बन गई है। इस वेदना को विकास की प्रेरणा मिली है उनके अध्ययन, उनके चिन्तन तथा उनके व्यक्तिगत एवं साहित्यिक वातावरण से। विस्मय की भावना तो उनमें बचपन से ही बद्धमूल थी। अपनी माँ से, अपने वातावरण से और स्वयं अपने से कौतूहलपूर्ण प्रश्न करती हुई वह रहस्यमयी बनी हैं। साथ ही उन्होंने मीरा की करुण रचनाओं, भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों, स्वामी विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के वेदान्तिक व्याख्यानों, वैदिक तथा आर्य-समाजी सिद्धान्तों और भारतीय दर्शनों के अध्ययन से बहुत कुछ लेकर अपनी रहस्यमयी साधना का पाथेय बनाया है। दुःख से उन्हें स्वभावतः [illegible]र है। वही उनके रहस्यमय जीवन का शृंगार है।

महादेवी की रचनाओं पर भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति का [illegible]व नहीं है। अपने जीवन की तरुणाई में वह इस ओर किंचित् [illegible] हुई भी थीं, पर अब तो वह उसकी ओर से उदासीन ही हैं। [illegible] सम्बन्ध में वह लिखती हैं—'पर जब मैं अपनी विचित्र कविता तथा [illegible] और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आई तब [illegible]आर्जिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः

उनसे प्रभावित होकर मैंने भी "शृंगारमयी अनुरागमयी भारत जननी भारतमाता', 'तेरी उतारूँ आरती माँ भारती' आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरा कविता का शैशव भी समाप्त हो गया।'

सारांश यह कि महादेवी वेदना और केवल वेदना की कवयित्री हैं। इस क्षेत्र से उन्हें इतना मोह है, इतना लगाव है कि वह किसी अन्य प्रभाव को स्वीकार ही नहीं कर सकतीं।

महादेवी का महत्त्व

महादेवी की रचनाओं का आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में वही महत्त्व है जो मीरा की रचनाओं का वैष्णव-साहित्य में है। इसीलिए आज के आलोचक महादेवी को आधुनिक युग की मीरा कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों की प्रेम-साधना में अन्तर है, पर एक बात में दोनों समान हैं। मीरा में अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के लिए जितनी व्याकुलता, जितनी छटपटाहट, जितनी वेदना है उतनी ही व्याकुलता, उतनी ही छटपटाहट, उतनी ही वेदना महादेवी में अपने निराकार प्रियतम के प्रति है। मीरा सोलह आने प्रेममार्गी है; महादेवी सोलह आने प्रेमाश्रित ज्ञानमार्गी। उपासना के क्षेत्र में प्रेम और ज्ञान के सामञ्जस्य से महादेवी की रहस्यभावना हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गई है। कबीर, जायसी, निराला, प्रसाद और पंत कोई भी इस क्षेत्र में इनकी समता नहीं कर सकता। कबीर ने अपने परमात्मा को कभी माँ के रूप में, कभी पिता के रूप में और अधिकांश पति के रूप में देखा है, जायसी, प्रसाद और पंत भी इसी प्रकार बदले हैं, पर महादेवी की भावना निर्दिष्ट है। उन्होंने सर्वत्र ब्रह्म को प्रियतम के रूप में ही देखा है। इसलिए महादेवी की रहस्य-भावना ही हिन्दी में शुद्ध रहस्य-भावना हो सकी है।

महादेवी की दूसरी महत्ता है वेदना का चित्रण। जायसी और मीरा

आदि ने भी वेदना का चित्रण किया है, पर भौतिक आधार पर वेदना
का चित्रण करने के कारण उनमें वेदना का गौरव नहीं है। जायसी और
मीरा में इस वेदना की कोई विभाजिका नहीं थी है। महादेवी में वेदना
की एक विभाजिका है जो उनके में पूर्ण है। महादेवी की वेदना
अलौकिक वेदना है। इस वेदना से उनका आत्मिक विकास हुआ
है। यह उनके प्रियतम की दी हुई वेदना है। इसलिए उनके प्रति
उनका स्वाभाविक अनुराग है और यह उनके जीवन का एक अंग बन
गई है। इस वेदना के अंकन में महादेवी अप्रतिम हैं।

महादेवी के महत्त्व का कारण उनका गीति काव्य भी है। सूर और
...ारा को छोड़कर आधुनिक खड़ी बोली में उनके गीत ही वस्तुतः विशुद्ध
...त हैं। उनके गीतों में भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी बहती
दिखाई देती है। प्रसाद, पंत, निराला आदि ने भी गीत लिखे
...र उनके कुछ ही गीत कला की दृष्टि से विशुद्ध गीत समझे
... हैं। महादेवी के गीतों में गीति-कला का अच्छा विकास हुआ
...ाओं की दृष्टि से महादेवी के गीतों में जो तरलता है उसने
...में उर्दू भावुकता की लोकप्रियता घटा दी है। उनके गीतों में
...ात्मा छिपी हुई मिलती है। सम्प्रति इस क्षेत्र में भी वह
... ।

... की दृष्टि से भी महादेवी का हिन्दी-साहित्य में महत्त्व है।
... जहां कि पंत ने खड़ी बोली को भावों के खराद पर चढ़ाकर
... और मधुर बना दिया है कि उसमें ब्रजभाषा के सभी गुण
...र उसमें जान डालना, उसमें वेदना का स्वर फूंकना, उसमें
... और ताल का सन्तुलन करना महादेवी का ही काम है।
...ाषा स्वयं बोलती है। संस्कृत-गर्भित होने पर भी
... माधुर्य है। आज वह अपनी ऐसी भाषा से हिन्दी के
... कर रही है—एक रहस्य-भावना क्षेत्र में और ...
... इन दोनों क्षेत्रों पर ...

अब हमें महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि पर विचार करना है। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी विचार धारा पर कई दर्शनों का प्रभाव है, पर मुख्यतः वह अद्वैतवादी ही हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना में अद्वैतवाद को ही विशेष रूप से अपनाया है। अतः हम यहाँ उनके अद्वैतवाद संबंधी विचारों की छान-बीन करेंगे।

महादेवी की दार्शनिक भाव-भूमि

अद्वैतवाद के अनुसार यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है। आत्मा, और प्रकृति उसी का प्रकाश है। अज्ञानता के कारण हम तीनों में भेद समझते हैं। वस्तुतः तीनों एक ही हैं, तीनों ब्रह्ममय हैं। वैदान्तिक प्रक्रिया को समझाने के लिए अद्वैतवादी ब्रह्म के तीन रूपों का वर्णन करते हैं —१. निर्गुण निराकार, २. सगुण निराकार और ३. सगुण साकार। निर्गुण निराकार शुद्ध चेतन है, निर्विकार है, एकदम निष्क्रिय है। सगुण निराकार का दूसरा नाम ईश्वर है, यही ईश्वर सृष्टिकर्ता है। सगुण साकार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अवतार आते हैं। ये भेद केवल समझाने के लिए हैं; वास्तविक नहीं, मिथ्या है। ज्ञानी परम सत्य को समझाने के लिए पहले अज्ञान की, मिथ्या की, चर्चा करते हैं। वह पहले सृष्टि का वर्णन करते हैं। इसके पश्चात् सगुण साकार की उपाधियों को दूर करते हुए सगुण निराकार की माया को भ्रममात्र सिद्ध करते हैं। इस प्रकार उन्हें ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। रहस्यवादी भी इसी पद्धति का सहारा लेता है। वह पहले मायायुक्त ब्रह्म —सगुण निराकार का वर्णन करता है इससे उसकी भावना को भूमि मिल जाती है। महादेवी ने इसी सगुण निराकार ब्रह्म को पति रूप में स्वीकार किया है। यह ब्रह्म सृष्टि का कर्ता है। अद्वैतवादियों की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जगत् मिथ्या है। 'ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है। सब ब्रह्ममय है। विभिन्न वस्तुओं में जो भेद हमें दिखाई देता है, वह बाह्य आकार नाम-रूप का है। इसे हटाकर यदि देखा जा

तो भेद-बुद्धि दूर हो जाय। इससे यह स्पष्ट है कि
निमित्तकारण और उपादानकारण में, ब्रह्म और इस
सृष्टि में कोई भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि
मकड़ी अपने अन्तर से जाला निकालकर फिर उसे अपने
लीन कर लेती है इसी प्रकार ब्रह्म इस विश्व की रचना
और अन्ततः उसे अपने में लीन कर लेता है। महादेवी इसी
को लेकर कहती हैं :—

स्वर्णलता-सी वह सुकुमार हुई उसमें इच्छा साकार,
उगल जिससे तिनरंगे तार, बुन लिया अपना ही संसार।

इस प्रकार महादेवी यह मानती हैं कि ब्रह्म निर्विकार होते हुए
समस्त विकारों की क्रीड़ा-भूमि है। वह यह भी मानती हैं कि वह 'काल
सीमा-हीन' है और सूनेपन के भान से उसने विश्व-प्रतिमा का निर्माण
किया है। उनकी रचनाओं में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, संयमन और प्रवेश—
ईश्वर के सभी कार्यों के उदाहरण मिलते हैं।

मायापति ब्रह्म की प्रेम सृष्टि में हमें तीन बातों की प्रधानता पाते
है—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति। परमात्मा हुआ पुरुष के रूप में प्रेमी
और आत्मा तथा प्रकृति हुई नारी के रूप में प्रेमिकाएँ। महादेवी
ने प्रकृति और आत्मा का ऐसा मिला-जुला वर्णन किया है कि दो का
भान ही नहीं होता। वह आत्मा और प्रकृति दोनों में उसी ब्रह्म के रूप
की छाया देखती हैं। उनके साध्य की एक विशेषता यह भी है कि वह
प्रेम-पात्र ही नहीं प्रेममय भी है; प्रेमलीला का साक्षी ही नहीं, स्वयं
अभिनेता भी है। वह आकर्षित करना ही नहीं जानता, स्वयं भी
आकर्षित होना जानता है। जिस प्रकार ससीम असीम के प्रेम में विकल
उसी प्रकार असीम ससीम के प्रेम में आकुल है। इस प्रकार महादेवी
नती है कि आत्मा परमात्मा का अंश है, वह परमात्मा
र पृथ्वी पर आती है

सुख-सौंदर्य की सृष्टि करती है, वह परमात्मा के वियोग में विकल रहती
है, परमात्मा भी उसके प्रति आकर्षित होता है और अन्ततः परमात्मा
का संकेत पाने पर वह उसमें लीन हो जाती है।

अब रहा प्रश्न यह कि परमात्मा और आत्मा में भेद पड़ जाने का
क्या कारण है ! इस प्रश्न के उत्तर में दो कारण दिये जा सकते हैं—
पहला कारण तो यह है कि आत्मा परमात्मा से पृथक् होकर शरीरस्थ
हो जाती है और दूसरा यह कि वह आवागमन के चक्कर में पड़ जाती है।
महादेवी इन दोनों कारणों को स्वीकार करती हैं, पर एक विशेषता के
साथ। वह एक ओर ब्रह्म की महत्ता स्वीकार करती हैं तो दूसरी ओर
आत्मा की महत्ता की घोषणा भी करती हैं। वे जानती हैं कि शरीरस्थ
होने से चेतन अपने महान् रूप में सामने नहीं आता, पर इससे उसकी
महत्ता में बट्टा नहीं लग सकता। इसके लिए उनके पास दो कारण हैं—
पहला कारण तो यह कि असीम ससीम का ही व्यापक रूप है और दूसरा
यह कि असीम की महत्ता ससीम द्वारा ही प्रकाश में आती है। यदि
आत्मा न हो तो परमात्मा की महत्ता ही निराधार हो जाती है।
इसीलिए वह कहती हैं :—

> क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
> क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो ?

जीवात्मा की महत्ता की भाँति ही वह प्रकृति की महत्ता भी स्वीकार
करती हैं और उसकी ओर अनन्त सहानुभूति की दृष्टि से देखती
है। वह प्यारी इसलिए है कि उसी के माध्यम से उन्होंने अपने प्रिय-
तम की झलक पाई है और अभिन्न इसलिए कि प्रेम के भावोद्रेक
में वह उनकी सहायता करती है। इस प्रकार प्रकृति महादेवी की
रचनाओं में :—

१. आत्मा को अपने सम्पूर्ण सौंदर्य से आकर्षित करती है।

१. आत्मा को अपने माध्यम से परमात्मा की झलक दिखाती है।

२. आत्मा के समान ही परमात्मा की प्रेमिका प्रतीत होती है।

संक्षेप में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में महादेवी की यही विचारधारा है। इसी विचारधारा के आलोक में हम उनकी काव्य-साधना पर विचार करेंगे।

महादेवी की काव्य-साधना

महादेवी की काव्य-साधना एक साधिका की अपने साध्य के प्रति आत्मसमर्पण का परिणाम है। उनकी रहस्यानुभूति का आरम्भ जिस माध्यम से होता है उसी माध्यम में उस रहस्यानुभूति का अवसान भी होता है। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा ज्ञात पड़ता है कि उनका एक निश्चित लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक निश्चित पथ है जिसका अनुसरण वह बिना दायें-बायें देखे एकाग्रचित्त से काव्य-साधना द्वारा करती जा रही है। वह अपने पथ में एकाकिनी नहीं है। उसके सूने पन को दूर करने के लिए उन्होंने प्रकृति को भी अपनी सहचरी बना लिया है। इस प्रकार उनकी काव्य-साधना में तीन तत्वों को—परम तत्व, आत्म-तत्व और प्रकृति तत्व को—प्रधानता हो गई है। इन्हीं तत्वों का निरूपण और चित्रण उन्होंने अपनी काव्य-साधना में वेदना के माध्यम से किया है।

महादेवी की पाँच कविता-पुस्तकें हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा। इन पाँचों कविता-पुस्तकों के अध्ययन से महादेवी की काव्य-साधना का विकास-सूत्र ग्रहण किया जा सकता है, इनमें क्रमशः तीनों तत्वों का विकास बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। सामान्य दृष्टि से इस त्रिगुणात्मक जगत् में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति में भेद दिखाई पड़ता है, अज्ञानता के कारण तीनों की सत्ता पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है। महादेवी ने भी नीहार में इन तीनों तत्वों को पृथक्

पृथक् रूप में देखा है। इसमें रूप-दर्शन की स्मृति बार-बार उनके हृदय में खटकती है। इसके फलस्वरूप प्रिय-प्रियतम सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके बाद हम उनके हृदय को वैराग्य की ओर झुकते हुए पाते हैं। 'सखे ! यह है माया का देश' कहकर वह संसार की अस्थिरता, क्षण-भंगुरता, निष्ठुरता, निर्ममता और उसके स्वार्थ तथा विश्वासघात का प्रतिपादन करती है। प्रकृति में उन्हें ब्रह्म के लिए व्याकुलता भी दिखाई देती है। यह सब देखकर वह सोचने लगती हैं :—

यह कैसा छलना निर्मम, कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार ?

यहीं से अद्वैतवाद का दृढ़ आधार उन्हें मिलता है। रश्मि में वह इसी आधार पर अपनी काव्य-साधना को अग्रसर करती हैं। इसकी आधी से अधिक रचनाएँ भावमयी भाषा में आत्मा, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप निरूपण करती हैं। इसमें सृष्टि, प्रलय और परिवर्तन की चर्चा भी पाई जाती है। अद्वैतवादियों के अनुसार यह सृष्टि 'शून्यता में निद्रा की घन उमड़ आते ज्यों स्वप्निल घन' है। एकाकीपन के भार से आकुल होकर ही उस अद्वितीय ब्रह्म ने इस जगत् की रचना की है। सृष्टि होने के पूर्व सृष्टि का अस्तित्व नहीं था तथा यह सृष्टि उस अनन्त निर्विकार में हुई—इन दोनों बातों को भी यह स्वीकार करती हैं। 'तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश' कहकर वह एक ओर सृष्टि और परमात्मा की अभिन्नता स्वीकार करती हैं तो दूसरी ओर 'मैं तुममें हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मिप्रकाश' तथा 'भूल अधूरा खेल तुम्हीं में होती अन्तर्धान' कहकर वह आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करती हैं। आगे चलकर वह यह भी मानती हैं कि जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर के परिवर्तनों से आत्मा में कोई विकार नहीं होता। इस प्रकार **नीहार** में जहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का पृथक्-पृथक् चित्रण हुआ है वहाँ **रश्मि** में एक ओर आत्मा और परमात्मा तथा दूसरी ओर प्रकृति और परमात्मा के द्वैत का निराकरण

हुआ है। रश्मि एक प्रकार से महादेवी के दार्शनिक विचारों की मंजूषा है।

नीरजा महादेवी की अनुभूति-प्रधान रचना है। **नीहार** में उनकी जो जिज्ञासा थी वह **रश्मि** में ज्ञान का पाथेय पाकर परिपुष्ट हुई और **नीरजा** में फिर अनुभूति के पथ पर लौट आई। इसमें महादेवी की विचार धारा प्रेम और ज्ञान, जगत् और ब्रह्म तथा सूक्ष्म और स्थूल के कूलों को छूती हुई प्रवाहित हुई है। यह प्रवाह ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की ओर अधिक है। इसमें उनकी रचनाओं में प्रिया और प्रियतम का भाव घनीभूत हो गया है। प्रकृति के प्रति भी उनकी पूरी सहानुभूति बनी हुई है। अद्वैतवादियों के अनुसार द्वैत दो प्रकार का होता है—एक ईश्वरकृत और दूसरा जीवकृत। जगत् ईश्वरकृत द्वैत है और इस जगत् को लेकर मन की विविध वासनाएँ जीवकृत द्वैत है। यही द्वैत बन्धन का कारण है। ईश्वरकृत द्वैत ज्ञान का कारण है। इसलिए महादेवी जगत् के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करती हैं। प्राणी जब चेतन का संयोग है, इसलिए वह उसको भी महत्ता स्वीकार करती हैं।

सान्ध्य-गीत महादेवी की काव्य-साधना का चतुर्थ चरण है। साधना द्वारा और भावना के पक्ष से इसकी रचना हुई है। इसके अध्ययन यह पता चलता है कि उनकी वेदना-प्रधान भावना को, उनके करुण विषाद को उनकी साधना के मरण सुखद गीतों में सुखमय बना दिया है। इस रचना में कवयित्री ने वैयक्तिक सुख दुख की सीमा को [illegible] कर लिया है। उन्होंने स्वयं लिखा है—'नीरजा और सान्ध्य-गीत उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही हृदय सुख-दुःख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा। पहली बार [illegible] खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था [illegible] वह मेरे ही हृदय में खिला हो परन्तु उसके अपने से भिन्न [illegible] अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर वह सुख-दुःख [illegible] अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में मेरे

मन ने न जाने कैसे उस बाहर-भीतर में एक सामञ्जस्य-सा ढूँढ लिया है जिसने सुख-दुःख को इस प्रकार बुन दिया है कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।'

यहाँ तक हमने महादेवी की काव्य साधना के विकास के सम्बन्ध में विचार किया है। हमने यह देखा है कि उनके दार्शनिक विकास को प्रदर्शित करनेवाली उनकी चार रचनाएँ हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्य-गीत। उन रचनाओं में दो भावों की प्रधानता है। 'नीहार' और रश्मि तो वेदना-प्रधान रचनाएँ हैं और नीरजा और सांध्य-गीत वेदना-प्रधान होते हुए भी आत्मानन्द से पूर्ण रचनाएँ हैं। हम सुविधा की दृष्टि से इन समस्त रचनाओं को चार भागों में विभाजित करके उन पर विचार करेंगे :—

[१] रहस्यवादी रचनाएँ—महादेवी उच्च कोटि की रहस्यवादी कवयित्री हैं। आधुनिक युग में उनके काव्य का उत्कर्ष रहस्यवाद के उत्कर्ष की सीमा है। रहस्यवाद में उस स्थिति का चित्रण रहता है जब ससीम आत्मा विश्व के सौंदर्य में असीम परमात्मा के चिर सुन्दर रूप का दर्शन कर उससे तादात्म्य-स्थापना के निमित्त आकुल हो उठती है और माधुर्य भाव पर आधारित प्रेम की साधना से उस अनन्त अगोचर में तदाकार होने का प्रयास करती है। रहस्यवाद के मूल में विशुद्ध दार्शनिक अद्वैतवाद रहता है। चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही काव्य-जगत् में कल्पना, भावना और अनुभूति के सहारे रहस्यवाद की रूप-रेखा ग्रहण करता है। अतः रहस्यवाद में निर्गुण की ही उपासना संभव है। रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—साधनात्मक और भावात्मक। महादेवी का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद है। भावात्मक रहस्यवाद के भी चार भेद होते हैं—१. प्रेमपरक रहस्यवाद, २. दार्शनिक अथवा चिन्तनपरक रहस्यवाद, ३. भक्तिपरक रहस्यवाद और ४. प्रकृतिपरक रहस्यवाद। महादेवी की रचनाओं में भावात्मक रहस्यवाद के इन चारों उपभेदों का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनकी काव्य

वेदना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्र
निवेदन है। देखिए :—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला

× × ×

उतरो अब पलकों में पाहुन

× × ×

वीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

× × ×

दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

× × ×

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधुबयार

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद के अन्तर्गत समान श्रे
प्रवृत्तियों का समुच्चय उनकी कविताओं में वर्तमान है। उनकी रहस्य
भावना की एक और विशेषता है। उनकी रहस्य-भावना में एक क्रम
है, उन्नति की एकरसता है। उनकी विचार-धारा क्रमशः अग्रसर होती
है, उसमें कोई व्यवधान नहीं, कोई जल-प्रपात-सा आकस्मिक विछेर
नहीं। उनमें शुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद के चार मुख्य स्तरों की क्रमिक
अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है :—

१. अपनी प्रथम अवस्था में वह विश्व-प्रकृति में किसी अप्रत्यक्ष
सत्ता का आभास पाकर उसके प्रति कौतूहल-मिश्रित जिज्ञासा की
अनुभूति प्रकट करती है। इसका उदाहरण उनकी रचना 'नीहार' है।

२. अपनी दूसरी अवस्था में वह समस्त दृश्य-जगत् में एक ही
व्यापक सत्ता का आभास पाने लगती है ...

प्रकृति-परमात्मा का निरूपण करने लगती हैं। 'रश्मि' इसका उदाहरण है।

३. अपनी तीसरी अवस्था में वह अपनी आत्मा तथा प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखकर उसके 'सलोने' 'बिम्ब' के लिए तड़प उठती हैं। उनकी इस प्रकार की अलौकिक वेदना-प्रसूत रचनाएँ 'नीरजा' में हैं।

४. अपनी चौथी अवस्था में वह अपने व्यक्तित्व के भीतर ही अपने प्रियतम के अस्तित्व की अनुभूति प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी दशा में उनका दुख सुख में परिणत हो जाता है, काँटे भी उनके लिए फूल बन जाते हैं, विरह और मिलन में एकाकार हो जाता है। यही समत्व भावना रहस्यवाद का उत्कर्ष है। सांध्य-गीत और दीपशिखा रहस्यवाद के उत्कर्ष से परिपूर्ण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी की रहस्य-भावना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई है और इस क्षेत्र का वह अकेले नेतृत्व कर रही हैं।

[२] वेदना-प्रसूत रचनाएँ—महादेवी की वेदना-प्रसूत रचनाएँ उनकी रहस्यवादी भावनाओं से भी सम्बन्ध रखती हैं। हम देख चुके हैं कि उनकी रहस्यानुभूति में प्रेम की मात्रा अधिक है। उनका जीवन प्रेम का जीवन है। प्रेम के जीवन में वेदना का होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में कोई अन्तर नहीं है। सामान्य जीवन में जिस प्रकार एक प्रेमी और एक प्रेम-पात्र होता है उसी प्रकार उन्नत जीवन में एक 'महादेवी' और एक 'चिर सुन्दर' होता है। लौकिक प्रेम-व्यापार में प्रेमी और प्रेमिका कभी मिलते हैं, कभी नहीं भी मिलते, पर अलौकिक प्रेम-व्यापार में रहस्यवादी का यह दुर्भाग्य है कि उसका प्रियतम निराकार होता है। इसलिए पीड़ा का पथ पार करने पर भी उसे अपने प्रियतम से मिलने-जुलने का अवसर नहीं मिलता। लौकिक प्रेम में विरह-काल की सीमा है। इसके

आत्मिक प्रेमी को अपने पिछले जन्म का स्मरण नहीं रहता। रहस्यवादी पर यहाँ भी दुहरी चोट पड़ती है। एक तो वह अपने प्रियतम की धुँधला सा ज्योति देख पाता है और दूसरे वह जन्म-जन्मान्तर की प्रेम-वेदना का अनुभव करता है। इसीलिए उसकी पीड़ा शाश्वत हो जाती है। महादेवी इसी शाश्वत पीड़ा की गायिका है। वह कहती है:—

मेरे मानस से पीड़ा, भीगे पट-सी लिपटी है।

× × ×

मेरी आहें सोती हैं इन होठों की चोटों में।

महादेवी को पीड़ा से स्वाभाविक प्रेम है। वह कहती है—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्य की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुख सब को बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि को मोक्ष है।' महादेवी इसी मोक्ष को लेकर चली है—इसी प्रसंग में वह पुनः कहती है—'मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं—एक वह जो मनुष्य के सम्वेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।' पहला दुःख का भौतिक रूप है, दूसरा आत्मिक। महादेवी की कविता में दुख का दूसरा रूप ही साकार है। इसीलिए उनकी वेदना अलौकिक है। वेदना का भौतिक रूप उनके संस्मरणों में मिलता है।

महादेवी की वेदना का माध्यम प्रकृति है। पहले वह प्रकृति-दृश्यों,

में प्रेम-व्यापार का आभास पाती है, इसके बाद वह उसमें वेदनापूर्ण वातावरण का अनुभव करती है। वह देखती है कि सागर की चंचल लहरें चन्द्रमा को स्पर्श करने के लिए ऊपर उठती हैं, पर असफल होकर लौट आती हैं। प्रकृति के इस प्रकार के प्रेम-व्यापारों से उनके हृदय में प्रतिक्रिया होती है। वह प्रकृति के प्रेम-व्यापारों को देखकर उनकी ओर आकर्षित होती हैं और अपने में अभाव का अनुभव करती हैं। यही अभाव उनकी वेदना का कारण है। इस प्रकार उनकी पीड़ा आरोपित नहीं; आमंत्रित है। वह अपनाई इसलिए गई है कि वह प्रिय की दी हुई है। इसीलिए वह मधुर है। वह उसका अन्त नहीं चाहतीं :—

> पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा,
> तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

वह अमर होकर जन्म-मृत्यु की दुखद शृङ्खला से छूटना भी नहीं चाहतीं; अपने मर मिटने के अधिकार को खोना भी नहीं चाहतीं:—

> क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार?
> रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।

वह अपनी पीड़ा में आत्मिक सुख का अनुभव करती हैं और कहती हैं:—

> बिछाती हूँ पथ में करुणेश, छलकती आँखें, हँसते ओठ।

अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होने पर सुखद प्रयत्न की धारा शुष्क हो जाती है, इससे जीवन नीरस हो जाता है। अतः प्रयत्न ही सुख है, प्राप्ति नहीं। महादेवी कहती हैं:—

> मेरे छोटे जीवन में, देना न तृप्ति का कण भर।
> रहने दो प्यासी आँखें, भरतीं आँसू के सागर॥

× × ×

इस अपल क्षितिज-रेखा पर, तुम रहो निकट जीवन के।
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके॥

महादेवी की इन पंक्ति में वेदना का मोह अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है। हिन्दी-काव्य के इस क्षेत्र में यह अन्यतम है।

३) **प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी रचनाएँ**—महादेवी ने प्रकृति-वर्णन में पाँच शैलियों का आयोजन किया है—१. प्रकृति व्यक्तित्व प्रदान कर साकार रूप से उसका वर्णन, २. उद्दीपक के रूप में प्रकृति-वर्णन, ३. मानवीय भावनाओं से अनुरंजित प्रकृति-वर्णन, ४. छायावादी प्रकृति-वर्णन और ५. रहस्यवादी प्रकृति-वर्णन। इन शैलियों के निरूपण में महादेवी को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इस सम्बन्ध में हमें एक बात याद रखनी चाहिए और वह यह कि महादेवी उच्चकोटि की रहस्यवादी और छायावादी कवयित्री हैं। अतः उनके प्रकृति-चित्रण में शैलियों की अनेकरूपता होते हुए भी छायावाद और रहस्यवाद की ही प्रधानता है। जहाँ उन्होंने प्राकृतिक वस्तुओं के पूर्ण चित्र ऐश्वर्यमयी अथवा आलङ्कारिक शैली में उतारे हैं वहाँ भी रहस्यवाद की भावना पाई जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि रजनी, प्रभात, संध्या आदि के चित्र सामान्य दृष्टि से ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे रहस्यवाद के प्रभाव से मुक्त हों, परन्तु उनमें जो झाँकी मिलती है वह रहस्यवाद के प्रभाव से ही पूर्ण होती है। महादेवी में स्वतंत्र प्राकृतिक वर्णनों की सामर्थ्य नहीं है और यह उनके लिए उचित भी नहीं है। उनकी दृष्टि में सारी सृष्टि ब्रह्म के प्रेम में आकुल और निमज्जित है। अतः इसी रूप में उसका हमारे सामने आना स्वाभाविक है। छायावाद के नवीनतम संस्कारों के फलस्वरूप वह प्रकृति को मानवजीवन के प्रतिबिम्ब के रूप में भी ग्रहण करती हैं और प्रकृति के विभिन्न अवयवों में निहित किसी दिव्य सन्देश की सम्भावना भी करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति का निजी जीवन में अन्तर्लय अथवा अपने जीवन का ही प्रकृति के बीच निचोड़ उनके

अनेक गीतों के प्राण हैं। कहीं-कहीं प्रकृति दूती और सखी के रूप में भी आई है और कहीं राधिका की ही भाँति वह भी प्रिय-मिलन के लिए विकल और अभिनव शृङ्गार करती हुई दिखाई देती है। देखिए:—

तू भू के प्राणों का शतदल !
सित क्षीर-फेन हीरक-रज से जो हुए चाँदनी में निर्मित,
पारद की रेखाओं में चिर चाँदी के रंगों से चित्रित;
खुल रहे दलों पर दल झल मल।

× × ×

फैलते हैं सांध्य-नभ में भाव ही मेरे रँगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले।

× + ×

जाने किस जीवन की सुध ले लहराती आती मधु बयार।

× × ×

राग भीनी तू सजनि, निश्वास भी तेरे रँगीले।

महादेवी में वह प्रतीक-विधायिनी प्रतिभा भी पर्याप्त मात्रा में है जिसमें भावनाओं को मूर्त रूप दिया जाता है। उनके ऐसे रूपविधान बड़े आकर्षक होते हैं। मदालसा नायिका के रूप में प्रकृति का चित्र देखिए:—

रूपसि तेरा घन-केश-पाश।
नभ-गंगा की रजत-धार में धो आई क्या इन्हें रात!

[४] गीति-काव्य—महादेवी का गीति-काव्य हिन्दी-काव्य-

साहित्य की अमर विभूति है। उनके गीतों में मीरा के गीतों की-सी विरह-कातर वेदना है, प्रियतम के अभाव में अनन्त रुदन है और इस रुदन में परम शांति की सुखद अनुभूति है। यह अनुभूति ही उनके विरह में उल्लास की रेखा है, आत्म परितोष की क्षितिज है। उन[illegible] गीत गतिशीलता, आत्मविस्मृत, भाव-विह्वलता और प्रवाह में अद्वितीय हैं। उन्होंने ही आज के नवयुवकों को गीतों की भाव-भाषा दी है। 'नीहार' और 'रश्मि' में उनके वेदना-प्रधान गीत हैं और 'नीरजा' तथा 'सांध्य-गीत' में वेदना के साथ रहस्यमय आत्मपरितोष भी है। उनके गीतों में चिर अनन्त का प्रतिबिम्ब है और प्रकृति का सरल भाव-चित्रण भी। उनमें काव्यकला का भी मनोहर सौंदर्य है। इस प्रकार महादेवी की काव्य-साधना अपनी सीमा में परिपुष्ट है।

महादेवी की अलङ्कार और रस-योजना

महादेवी की अलङ्कार-योजना अत्यन्त स्वाभाविक है। उन्होंने अलङ्कार का विधान भावों को रमणीय बनाने अथवा उन्हें तीव्र या स्पष्ट करने के लिए किया है, इसलिए अलङ्कारों की छटा में उनके भावों का सौंदर्य लुप्त नहीं हो पाया है। उनका काव्य व्यंग्य-प्रधान है। वह अपनी रचनाओं में प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ का बोध कराती है, इसलिए उनके काव्य में समासोक्ति-अलङ्कार के बड़े ही सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। समासोक्ति से भी अधिक उन्होंने रूपकों को अपनाया है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता आकृति, स्वभाव अथवा कार्य के अनुरूप प्रतिष्ठित की जाती है। महादेवी ने अपने रूपकों में इन तीनों का विशेष रूप से ध्यान रखा है। इससे उनके रूपकों में बड़ी सजीवता आगई है। उनका एक अत्यन्त सुन्दर सांगरूपक देखिए:—

गोधूली अब दीप जला ले,

किरण-नाल पर घन के शतदल,
कलरव-लहर, विहग बुद् बुद् चल
आभा-सरि अपना उर उमगा ले।

इन अलङ्कारों के अतिरिक्त महादेवी ने उपमा अलङ्कार का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। उनकी उपमाओं में रूप, गुण और कर्म की समानता तो रहती ही है, साथ ही उनमें उनकी सुरुचि का भी परिचय मिल जाता है। वह अपनी उपमाएँ अधिकांश प्रकृति से ही लेती हैं और उन्हें अपने प्राणों से अनुप्राणित कर देती हैं। इसीलिए उनकी उपमाएँ उनकी भावनाओं को वहन करने में समर्थ होती हैं। देखिए—

कनक-से दिन, मोती-सी रात

× × ×

पीड़ा मेरे मानस से,
भीगे पट-सी लिपटी है।

महादेवी ने अपह्नुति उल्लेख, क्रम आदि अलङ्कारों का भी अच्छा प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों की ओर उनकी विशेष रुचि नहीं है। शब्द-श्लेष कदाचित् ही कहीं मिलता है। अनुप्रास अवश्य मिलता है, पर उनके लिए उनके हृदय में मोह नहीं है। महादेवी वस्तुतः भावना की कवयित्री हैं। उन्होंने जिस प्रकार अपने आपको अलङ्कारों के साज-बाज से बचाया है उसी भाँति अपने काव्य को भी चुने हुए अलङ्कारों से ही सजाने की चेष्टा की है।

रस के क्षेत्र में महादेवी वियोग शृङ्गार की कवयित्री हैं। वियोग के जैसे सुन्दर रहस्यात्मक चित्र उन्होंने उतारे हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके काव्य में वेदना भरी पड़ी है। करुण रस भी उनकी रचनाओं में

किरण-नाल पर घन के शतदल,
कलरव-लहर, विहग बुद् बुद् चल
आभा-सरि अपना उर उमगा ले।

इन अलङ्कारों के अतिरिक्त महादेवी ने उपमा अलङ्कार का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। उनकी उपमाओं में रूप, गुण और कर्म की समानता तो रहती ही है, साथ ही उनमे उनकी सुरुचि का भी परिचय मिल जाता है। वह अपनी उपमाएँ अधिकांश प्रकृति से ही लेती हैं और उन्हें अपने प्राणों से अनुप्राणित कर देती हैं। इसीलिए उनकी उपमाएँ उनकी भावनाओं को वहन करने में समर्थ होती हैं। देखिए—

कनक-से दिन, मोती-सी रात

×   ×   ×

पीड़ा मेरे मानस से,
भीगे पट-सी लिपटी है।

महादेवी ने अपह्नुति उल्लेख, भ्रम आदि अलङ्कारों का भी अच्छा प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों की ओर उनकी विशेष रुचि नहीं है। शब्द-श्लेष कदाचित् ही कहीं मिलता है। अनुप्रास अवश्य मिलता है, पर उनके लिए उनके हृदय में मोह नहीं है। महादेवी वस्तुतः भावना की कवयित्री हैं। उन्होंने जिस प्रकार अपने आपको अलङ्कारों के साज-बाज से बचाया है उसी भाँति अपने काव्य को भी चुने हुए अलङ्कारों से ही सजाने की चेष्टा की है।

रस के क्षेत्र में महादेवी वियोग शृङ्गार की कवयित्री हैं। वियोग के जैसे सुन्दर रहस्यात्मक चित्र उन्होंने उतारे हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके काव्य में वेदना भरी पड़ी है। करुण रस भी उनकी रचनाओं में

पर्याप्त है। इस प्रकार करुण और वियोग-शृङ्गार ही इनकी रचनाओं में प्रमुख रूप से पाये जाते हैं।

महादेवी की भाषा और शैली

महादेवी की भाषा संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली है। वह व्रजभाषा से भी भलीभाँति परिचित हैं। आरम्भ में उन्होंने व्रजभाषा को ही काव्य का माध्यम बनाया था, पर जब खड़ी बोली से उनका परिचय हुआ तब उन्होंने उसे ही अपना लिया। इस प्रकार वह व्रजभाषा के क्षेत्र से निकल कर खड़ी बोली के क्षेत्र में आगईं। यह द्विवेदी-युग के प्रथम चरण की बात है। उस समय द्विवेदीजी, गुप्तजी, हरिऔधजी आदि खड़ी बोली को काव्योचित भाषा बनाने के लिए उसे खराद पर चढ़ा रहे थे। उन्हें इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली। कालान्तर में जब प्रसाद, निराला और पंत का हिन्दी में प्रवेश हुआ तब खड़ी बोली और भी माँजी गई। प्रसाद ने उसे प्राञ्जलता दी, निराला ने उसका स्वर और ताल ठीक किया, पंत ने उसे मधुरिमा और कोमलता दी। खड़ी बोली जब अपने इतने गुण लेकर महादेवी के पास आई तब उन्होंने उसे अपने हृदय की सारी वेदना देकर स्पंदित कर दिया, उसमें जान डाल दी। इस प्रकार खड़ी बोली को काव्योचित भाषा बनाने में उनका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। आज उनकी भाषा काव्य के लिए आदर्श भाषा बन गई है।

महादेवी की भाषा अत्यन्त परिष्कृत, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त कोमल है। उसमें कहीं भी कर्कशता और शुष्कता नहीं है। उनकी भाषा में जैसी मसृणता है वैसी खड़ी बोली के अन्य कवियों में मिलना दुर्लभ है। उनका अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है। प्रवाह तो उसमें इतना है कि वह अपने पथ की बाधाओं को काटती-छाँटती चलती है। 'प्रसाद' की भाषा में वचन की त्रुटि है, पंत की भाषा में लिंग सम्बन्धी-विचित्र प्रयोग है, निराला

ी भाषा में समस्त पदों की भरमार है, पर महादेवी की भाषा ऐसी
टियों से मुक्त है। इतना होते हुए भी मात्राओं की पूर्ति और तुक के,
ाग्रह के लिए कुछ शब्दों का अंग-भंग, रूप-परिवर्तन और अंग-वार्द्धक्य
ा गया है। बतास, अधार, अभिलाषे, कर्णाधार आदि ऐसे ही शब्द
। उन्होंने ऐसे शब्दों को भी अपनी खड़ीबोली में स्थान दिया है जो
ाधिक काल से अपनी कोमलता के कारण कविताओं में स्थान पाते
ा रहे हैं। नैन, बयार, बैन आदि इस प्रकार के शब्दों के उदाहरण
। 'वह' का प्रयोग वह एक वचन और बहुवचन दोनों में समान रूप
करती हैं। उनकी त्रुटियाँ क्षम्य हैं। इनके कारण उनकी भाषा के
वाह में कोई बाधा नहीं पड़ती। संक्षेप में उनकी भाषा भाव-प्रवण,
रल, संगीतमय, प्रसाद गुणयुक्त, प्रवाहपूर्ण: मधुर और कोमल है।
नकी कविताओं में यत्र-तत्र उर्दू भाषा के भी शब्द मिलते हैं जो
म्भवत: किसी प्रयोजनवश ही लाये गये हैं। उनके शब्द छोटे और
ावपूर्ण होते हैं। उनका शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर होता है।

महादेवी की शैली विकासोन्मुख रही है। 'नीहार' में उनकी शैली
अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसमें भाव कम है और शब्दों की
धिकता है। 'नीरजा' में उनकी शैली भाव और भाषा में समता एवं
मन्वता स्थापित कर सकी है। 'दीपशिखा' में उनकी शैली प्रौढ़ हो गई
। इसमें वह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह गई हैं। शब्दों का लाक्ष-
णिक प्रयोग वह बड़ी सावधानी और सुन्दरता से करती हैं। उनकी
ैली में अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ बहुत मिलती हैं। भावों
और प्राकृतिक रूपों के मानवीकरण में वह पटु हैं। उनकी शैली में
मान हँसता है, आहें सोती हैं, किरणें मचलती हैं, इच्छाएँ सिहरती हैं
और शून्य गायन करता है। आज की कविता शब्दों का सामान्य अर्थ
लेकर नहीं चलती। वह प्रतीकों, समासोक्तियों और लाक्षणिक तथा
व्यंजक प्रयोगों के बल पर चलती है। इसलिए पाठक को उसे समझने
के लिए थोड़ा मानसिक श्रम करना पड़ता है। महादेवी की शैली भी

इसी प्रकार की है। वह अपने काव्य में अत्यधिक सांकेतिक है अपनी बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहती है। उनके परिचित सरलता से समझ में आ जाते हैं, पर कुछ ऐसे प्रतीक जो अभी से आधुनिक काव्य के माध्यम नहीं बने हैं, अर्थ-बोधकता में बाधा हैं। ऐसे अपरिचित प्रयोगों के कारण ही महादेवी कहीं-कहीं दुरू जटिल हो गई हैं। उनके प्रतीकों में तारे लौकिक भावों के रूप में, आत्मा के रूप में, सागर संसार के रूप में, तरी जीवन के रूप में हुए हैं। इच्छाओं के लिए कहीं मकरन्द, कहीं सौरभ और कहीं धनुष के विविध रंगों से काम लिया गया है। अतः इन प्रतीकों अर्थ लगाने के प्रसंग पर ध्यान रखना आवश्यक है।

महादेवी और पंत दोनों आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा के कलाक हैं। दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वि किया है। दोनों आस्तिक हैं, दोनों प्रकृति-प्रेमी हैं, दोनों दार्शनिक हैं, दोनों अद्वैतवादी हैं, पर दोनों की काव्य-साधना में अन्तर है। इस अन्तर का कारण दोनों का विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण है। जीवन और जगत् के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर दोनों ने दो दार्शनिक दृष्टि-कोणों से विचार किया है। पन्त अपनी दार्शनि-

महादेवी और पंत

...ता में लोक-संग्रह की भावना लेकर चले हैं और महादेवी अपनी ...र्शनिकता में अध्यात्मवाद की ओर झुकी हैं। पंत लोक-संग्रह के माध्यम ...जीवन को पूर्ण बनाना चाहते हैं और महादेवी पूर्ण जीवन के लिए ...क-संग्रह के माध्यम को सीमित समझती हैं। लोक-संग्रह की भावना ...ों में है, पर दोनों में अन्तर है। पंत में लोक-संग्रही रूप प्रमुख है, ...त्मिक रूप गौण; महादेवी में आध्यात्मिक रूप प्रमुख है, लोक-... रूप गौण। पंत पर स्वामी विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव है, ...ी पर स्वामी रामतीर्थ के दर्शन का। पंत का 'गुंजन' और ...ी का 'रश्मि' दोनों के दार्शनिक विचारों की दो पृथक्-पृथक्

कुंजियाँ हैं। इन कुंजियों की सहायता से हम दोनों कवियों की आत्माओं का रहस्योद्घाटन कर सकते हैं।

एक बात और है। पंत और महादेवी दोनों ने अपनी-अपनी रचनाओं में वेदना का चित्रण किया है। दोनों ने वेदना को दो रूपों में ग्रहण किया है। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो मनुष्य के मानसिक विकास में सहायक होता है। प्रथम में वेदना का भौतिक रूप है, दूसरे में आध्यात्मिक। महादेवी की रचनाओं में वेदना का दूसरा रूप ही मुख्यतः साकार हुआ है। वेदना का भौतिक रूप उनके संस्मरणों में ही मिलता है। पंत में वेदना का प्रथम रूप—भौतिक रूप—प्रमुख है, आध्यात्मिक रूप गौण। महादेवी की वेदना अलौकिक है, पंत की वेदना लौकिक। पंत लौकिक वेदना का चित्रण करते हैं सामाजिक क्रान्ति द्वारा एक नये युग की सृष्टि के लिए। महादेवी आत्मिक वेदना का चित्रण करती हैं असीम की प्राप्ति के लिए। पंत वस्तुतः वेदना के कवि नहीं हैं; वह जग-जीवन में उल्लास के कवि हैं। इस प्रकार 'महादेवी जिस समष्टि तक दुःख के माध्यम से पहुँचना चाहती हैं, पंत उस समष्टि तक सुख के माध्यम से। इसीलिए महादेवी में एक उत्फुल्ल विषाद है, पंत में एक प्रसन्न आह्लाद। पंत में महादेवी की सी आध्यात्मिक दार्शनिकता तो नहीं है, पर एक भौतिक दार्शनिकता अवश्य है।

पंत और महादेवी के काव्यगत दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में हम कह आये हैं कि दोनों प्रकृति-प्रेमी हैं। दोनों ने प्रकृति में उस असीम सत्ता का आभास पाया है, पर दोनों में यहाँ भी अन्तर है। पंत ने प्रकृति को बालिका के रूप में अपनाया है, महादेवी ने प्रेमिका के रूप में। इसलिए पंत की कविता में प्रकृति एक बालिका की भाँति खेलती है, महादेवी की कविता में प्रकृति एक विरहिणी की भाँति अपने को निवेदित करती है। एक में क्रीड़ा है, दूसरे में पीड़ा। एक की प्रकृति में उल्लास

है, दूसरे में प्रकृति का उच्छ्वास। एक ने प्रकृति के मनोहर व्यक्तित्व का परिचय दिया है, दूसरे ने प्रकृति को पुरुष,पुरातन का दिव्य परिचय। यही कारण है कि जहाँ पंत की रहस्य-भावना केवल मुग्धा, विस्मय और उत्सुकता में डूबकर रह गई है वहाँ महादेवी की रहस्यभावना ने यौवन के आतप, प्रतीक्षा के सूनेपन और विरह के कसक भरे दंशन का अनुभव भी किया है। महादेवी की अनुभूति विविधता-समन्वित होने के कारण पंत की एकांगी अनुभूति की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और गहन है। पंत अपने प्रारम्भिक पथ का परित्याग कर अन्य दिशा से मुड़ गये हैं, अतः भाव, विचार, कल्पना और कला की वह प्रौढ़ता उनकी रहस्यवाद की रचनाओं में नहीं है जो महादेवी की कृतियों में उत्तरोत्तर लक्षित होती है।

पंत और महादेवी की कला और जीवन-सम्बन्धी रचनाओं में एक बड़ा भारी अन्तर यह भी है कि पंत आरम्भ से ही दृश्य जगत्—साकारता—की ओर उन्मुख रहे हैं और महादेवी निराकारता की ओर। पंत ने जिस सत्य को जीवन का भौतिक दर्शन दिया है, महादेवी ने उसी सत्य को 'एक मिटने में सौ वरदान' कहकर जीवन का आध्यात्मिक दर्शन दिया है। पंत का दृष्टिकोण पहले भावात्मक था, अब व्यवहारिक हो गया है, महादेवी अपने दृष्टिकोण पर अटल हैं। वह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, शरीर से मूर्ति की ओर, मूर्ति से चित्र की ओर, चित्र से संगीत की ओर आये हैं। जीवन के प्रश्न में पंत का जो कवि सुकुमार था वह जीवन के संघर्ष में पटु हो गया है। इसीलिए जीवन के शैशव में [illegible]-जगत् को देखने का जो दृष्टिकोण था वह जीवन के [illegible] में [illegible] हो गया है। आज उनकी कला बदली है, दृष्टिकोण बदला [illegible] भी एक नवीन भाव जगत् है जो आज के [illegible] [illegible] है। महादेवी की कविता में तो जीवन के [illegible] है, [illegible] के [illegible] में। उनमें तो केवल उस [illegible] की आराधना है जो [illegible] के इतने हर्ष-विमर्श का संचालक है।

मुक्तक के क्षेत्र में पंत और महादेवी में उतना ही अन्तर है जितना सूर और मीरा में। पंत मुख्यतः वर्णनात्मक हैं, महादेवी मुख्यतः उद्‌गारात्मक। इसलिए पंत की कविताएँ दीर्घ मुक्तक हैं; महादेवी की संक्षिप्त मुक्तक। पंत में भावों का विशद प्रसार है, महादेवी में हृदय का संक्षिप्त संकलन। पंत की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह भावों का विशद क्षेत्र लेकर भी अपनी कविता में सौंदर्य और माधुर्य का ताल और स्वर की भाँति सन्तुलन बनाये रखते हैं। महादेवी की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह भावों का संकुचित क्षेत्र लेकर भी अपनी कविता को पुष्पस्तवक की भाँति सजा देती हैं। पंत में चित्र कला प्रधान है, महादेवी में संगीत कला। संगीत पंत का माध्यम है, चित्र महादेवी का। पंत की कविता चित्र की रेखाओं जैसी पुष्ट है, महादेवी की कविता संगीत के प्रवाह जैसी तरल। गीति-काव्य को महादेवी से विशेष गौरव मिला है। गीत लिखने में जैसी सफलता उन्हें मिली है वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है और न हृदय की ऐसी भावभंगी। उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर ऐसी ढली और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय उसमें तन्मय हो जाता है।

महादेवी और अन्य कवि

पंत और महादेवी के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् अब हम महादेवी और कबीर पर एक साथ विचार करेंगे। हम जानते हैं कि कबीर हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि हैं। महादेवी भी उन्हीं की परम्परा में हैं। दोनों की अद्वैतवाद पर आस्था है। दोनों मूर्ति-पूजा का निषेध करते हैं, दोनों अध्यात्म-ज्ञान को चरम लक्ष्य मानते हैं, दोनों ब्रह्म को प्रियतम के रूप में अपनाते हैं, पर इतना होते हुए भी दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। कबीर अपनी रहस्य-साधना में उग्र, खण्डनात्मक और उपदेशात्मक हैं। उन्होंने 'घट' में सब कुछ देखने पर ज़ोर दिया है और आत्मा-परमात्मा के मिलने के

माया को प्रबल बाधक माना है। साधना-मार्ग में गुरु की महत्ता भी
वह सशक्त शब्दों में स्वीकार करते हैं। महादेवी की रहस्य-साधना इस
प्रकार की नहीं है। वह न तो खण्डनात्मक है, न उपदेशात्मक। उनका
मार्ग भावुकता का है। भावनाओं की जटिलता उन्होंने स्वीकार नहीं
की है। कबीर के रहस्यवाद में योग और भक्ति का सम्मिश्रण है और
महादेवी के रहस्यवाद में प्रेम और विवेक का। एक बात और है, कबीर
जैसे-जैसे साधना के क्षेत्र में ऊँचे उठते गये हैं, वैसे ही वैसे वह संसार
के प्रति विरक्त और माया के प्रपंच से मुक्त होते गये हैं। महादेवी
को पहले यह जगत् दुःखमय प्रतीत होता है, पर इसके बाद इसमें
प्रियतम की झलक पाने पर वह इसे प्यार करने लगती हैं। इसमें
यह स्पष्ट है कि कबीर की रहस्य साधना संतों की रहस्य-साधना है और
महादेवी की रहस्य-साधना एक कवि की। यही कारण है कि कबीर की
रहस्यभावना हमें प्रेरित नहीं करती। उनकी भाषा, उनकी शैली हृदय
की चीज नहीं, मस्तिष्क की चीज है। महादेवी के गीतों की स्वर-विभू-
तियाँ कबीर में देखी ही नहीं जा सकतीं।

हिन्दी के दूसरे रहस्यवादी कवि हैं जायसी। **जायसी और महादेवी**
दोनों प्रेम के पथिक हैं। दोनों आस्तिक हैं, दोनों अद्वैतवादी हैं, दोनों
मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं, पर दोनों की रहस्यभावना दो रूपों में व्यक्त
हुई है। महादेवी ने अपने ब्रह्म की कल्पना पति-रूप में की है, जायसी
ने पत्नी-रूप में। महादेवी के प्रणय-निवेदन का माध्यम गीति-काव्य है,
जायसी का प्रबन्ध-काव्य। महादेवी के गीतों में उनके और उनके
प्रियतम—ब्रह्म—के बीच कोई पात्र नहीं है। वह अपने हृदय की बात
सीधी उनके चरणों तक पहुँचाती है, पर जायसी अपने हृदय की बात
दूसरे पात्रों द्वारा व्यक्त करते हैं। जायसी की प्रेम-साधना में स्थूलता है,
महादेवी की प्रेम साधना में सूक्ष्मता। इस सूक्ष्म दृष्टि के कारण ही
महादेवी में प्रयत्न का एकदम अभाव है। जायसी को अपने लक्ष्य-सिद्धि
के लिए विकट प्रयास करना पड़ा है। महादेवी की रहस्यभावना किसी

स्थूल आधार पर आश्रित न होने के कारण संयत और शिष्ट है। जायसी की रहस्य-भावना स्थूल आधार पर आश्रित होने के कारण कहीं-कहीं असंयत भी हो गई है। एक बात और है, महादेवी की रहस्य-भावना में उनका आत्मनिवेदन प्रमुख है। उनके गीतों में प्रकृति केवल उद्दीपन का कार्य करती है, वह स्वयं व्याकुल नहीं है। इसके विपरीत जायसी की रचनाओं में प्रकृति का चित्रण पात्रों की मनोदशा के अनुसार कभी विषादयुक्त होता है, कभी उल्लासमय। महादेवी की रचनाओं में वियोग की वेदना का चित्रण है, जायसी की रचनाओं में संयोग और वियोग दोनों का। महादेवी अपने संसार से विरक्त नहीं हैं, प्रतिबिम्बवाद के आधार पर संसार के बिखरे सौंदर्य में ही वह अपने प्रभु का दर्शन करती हैं, पर जायसी इस संसार से परे परलोक की भी चिन्ता करते हैं। उनकी इस प्रकार की चिन्ता पर मृत्यु की छाया है। महादेवी मृत्यु से भी प्रेम करती हैं। वह अपनी रहस्य-भावना में स्वाभाविक हैं। जायसी की भाँति वह साम्प्रदायिकता के फेर में नहीं पड़ी हैं। यह अवश्य है कि प्रेमानुभव की जितनी सुन्दर अभिव्यक्तियाँ जायसी में मिलती हैं उतनी उनमें नहीं हैं; पर इसके साथ ही यह भी सत्य है कि इतिवृत्तात्मकता के कारण जहाँ जायसी की रहस्य-भावना दब सी गई है, वहाँ महादेवी की रहस्य-भावना गीतों के माध्यम द्वारा प्रकाश में आ गई है। इस प्रकार महादेवी की जायसी पर विजय है।

अब मीरा को लीजिए। **मीरा और महादेवी** दोनों प्रेम-साधिका हैं, पर मीरा महादेवी नहीं है और महादेवी मीरा नहीं हैं। दोनों में अन्तर है। मीराँ हमारे सामने दो रूप में आती हैं—साधिका के रूप में और कवयित्री के रूप में। साधिका के रूप में इसलिए कि वह आदि से अन्त तक अपने गिरधर के रंग में रंगी हुई हैं, और कवयित्री इसलिए कि उन्होंने गीतों के माध्यम द्वारा अपने गिरधर के प्रति प्रणय-निवेदन किया है। इस प्रकार वह पहले साधिका हैं, बाद को कवयित्री। महादेवी

का केवल एक रूप है और वह है कवयित्री का, रहस्यवादिनी का। महादेवी में साहित्यिक काट-छाँट है। वह उच्च कोटि की कलाकार हैं; साधिका नहीं है। साधिका के लिए जिस त्याग, तपस्या और तन्मयता की आवश्यकता होती है वह महादेवी के पास नहीं, मीराँ के पास है। इसीलिए साहित्यिक बारीकियों से अपरिचित होते हुए भी मीराँ में जो छटपटाहट है, जो टीस और वेदना है वह महादेवी में नहीं है। मीराँ की जीवन-गाथा इतनी व्यथासक्त और उनकी प्रेम-साधना इतनी सहज और 'मर्मस्पर्शिणी' है कि उनके सम्पर्क में आनेवाले की आँखें भर आती हैं। उनकी अनुभूति एक साधिका की अनुभूति है। महादेवी की अनुभूति एक कवयित्री की कल्पना और भावुकता पर आश्रित अनुभूति है। मीराँ ने प्रीति-बेलि को अपने आँसुओं से सींचा है। महादेवी ने भी कम आँसू नहीं बहाये हैं। पर मीराँ के आँसुओं में कुछ और ही बात है। महादेवी अभी उस हद तक नहीं पहुँची हैं। संसार के वैभव को ठुकरानेवाली राजरानी मीराँ साधना के क्षेत्र में महादेवी की अपेक्षा बहुत ऊँची उठी हुई हैं। उन्होंने राधा के रूप में कृष्ण को अपनाया है। उनकी साधना साकार साधना है। महादेवी ब्रह्म के निराकार रूप की उपासिका हैं। माधुर्य भाव दोनों में है, पर दो की तन्मयता में अन्तर है। मीराँ की तन्मयता एक साधिका की तन्मयता है और महादेवी की तन्मयता एक कलाकार की। स्वानुभूति की सच्चाई जो मीराँ के गीतों में रक्षित है, महादेवी के गीतों में नहीं है और विचारों तथा कल्पनाओं की जो निधि महादेवी के गीतों में रक्षित है, वह मीराँ के गीतों में नहीं है। जिस प्रकार मीराँ ने वैष्णव-काल में अपनी कल्पना और संसार का निर्माण किया था और हिन्दी-साहित्य में पीड़ा, वेदना और अनुभूति का संदेश दिया था उसी प्रकार ने इस छायावाद के युग में अपनी गूढ़तम अन्तर्विभूति को में लाकर ऐसा संदेश दे रही हैं जो जीवित है, जाग्रत है और है।

महादेवी की रचनाओं का हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी काव्य-साधना का श्रीगणेश उस समय से होता है जब उन्होंने अपनी माता के मुख से मीराँ आदि के भक्ति-भावना-सम्पन्न गीतों को सुनकर मन में गुनगुनाना आरम्भ किया था। वह उनके काव्य-जीवन का शैशव-काल था। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों शिक्षा एवं अध्ययन से उनका मानसिक क्षितिज विकसित होता गया त्यों-त्यों मीराँ की वेदना उनके हृदय में घर करती गई। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करती थीं, पर जब मासिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा खड़ी बोली की रचनाओं से उनका परिचय हुआ तब वह भी खड़ी बोली में पद्य-रचना करने लगीं। इस प्रकार सर्वप्रथम उन्होंने 'चाँद' द्वारा हिन्दी-संसार को अपना परिचय दिया। तब से अब तक वह बराबर अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का भण्डार भर रही हैं। उनकी रचनाएँ यद्यपि संख्या में कम हैं तथापि उनमें उनके हृदय के भावों का सागर मौजें मारता हुआ दिखाई देता है। वह अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी-काव्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग का नेतृत्व कर रही हैं। उनकी प्रत्येक रचना उनकी अनुभूतियों का दर्पण बनकर हमारे सामने आती है और हम उनके द्वारा उनके विकास-सूत्र को ग्रहण कर सकते हैं।

महादेवी का हिंदी-साहित्य में स्थान

हिन्दी के आधुनिक युग में महादेवी स्वर्गीय गीतों की श्रेष्ठतम गायिका हैं। अपने गीतों में वह वेदना की प्रधान उपासिका के रूप में प्रकट हुई हैं। उन्होंने प्रेमाख्यानक कवियों के भावात्मक रहस्यवाद को मधुर भाव के साथ अपनाया है। 'स्थूल' को छोड़कर 'सूक्ष्म' की ओर वह प्रवृत्त हुईं, पर उनका 'सूक्ष्म' जीवन का वह सूक्ष्म है जिसमें संवेदनशील जीवन का दिव्य सत्य निहित है। स्थूल जग की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्त पूर्णता को खोजनेवाली आत्मा सदैव विरहित रही है। इसी से हम उन्हें दुःखवादी दर्शन में निमज्जित पाते हैं।

महादेवी का प्रियतम 'अनदेखा' है। प्रकृति के प्रत्येक प्रान्त में छवि, मकरंद और मधुर मादक बन उनका—अपने आराध्य का—शृंगार करता है। वह प्रकृति के विविध रूप व्यापारों में उसकी झलक भी पाती है और उसके चिरमिलन के लिए उत्कण्ठित होती है। उनकी उत्कण्ठा ही उनके काव्य का पाथेय बन गई है। उनका विरह और मिलन, उनका आदान और प्रत्याख्यान, उनका औत्सुक्य और नैराश्य लोकोत्तर होने के साथ पवित्र भावना-प्रसूत है। उसमें कहीं भी कालुष्य, वासनात्मक प्रेम और दुर्गन्धयुक्त अनुरक्ति नहीं है। उनकी रचनाओं में मादकता जगत् की विषमताओं एवं द्वन्द्वों का वह चित्र भी नहीं है जो सन्तों की परम्परा में हमें मिलता है। उनके प्रत्येक स्वर में चिरंतन विरह का भाव ही निनादित होता हुआ हमें सुनाई पड़ता है। इस वियोग में उन्हें आनन्द की अनुभूति होती है। कहीं-कहीं चिरमिलन का भाव भी है। उनकी प्रेम-साधना व्यक्तित्व के सहारे उठकर प्रकृति के अंग में व्याप्त हो गई है। अध्यात्म दशा की अन्तर्मुखी साधना में लीन रहने के कारण उनका क्षेत्र एकान्तिक व्यक्तिगत साधना का है। इसलिए लोकतत्त्व का उनमें अभाव है। उनमें संत-वाणियों का-सा अमर स्वर है, पर वैसी तीव्र अनुभूति नहीं। वेदना उनके लिए एक गम्भीर चेतना है। जीव, प्रकृति, जड़-चेतन सब को वह अपनी वेदना से ओत-प्रोत किये हुए हैं। प्रकृति भी अपने प्रियतम के वियोग में उतनी ही दुखी है जितना कि वह। उन्हें अपनी वेदना का गौरव है। वह उसे त्यागना पसन्द नहीं करतीं। उनकी रचनाओं में व्यथा की आर्द्रता है जिस पर बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद की स्पष्ट छाया पड़ी हुई जान पड़ती है। उनकी पीड़ा से आप्लावित काव्य-कृतियों में अवसाद का उन्माद है।

प्रकृति के प्रति महादेवी की पूरी सहानुभूति है। उनकी रचनाओं में प्रकृति के चित्र कोमल स्निग्ध रूपकों से छायावाद की व्यंजना प्रधान शैली में मार्मिकता के साथ अंकित हुए हैं। उनके प्रकृति-चित्रण में

भावों की गंभीरता के साथ-साथ कल्पना की उत्कृष्ट उड़ान भी है। कहीं-कहीं कल्पना की बारीकी अस्पष्टता भी उपस्थित कर देती है। उन्होंने प्रकृति को अधिकतर ऐश्वर्यमयी रूप में देखा है। कहीं-कहीं उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के पूर्ण आलंकारिक चित्र भी अंकित किये हैं। जिस प्रकार अन्य प्रकृति-प्रेमी प्रकृति-दर्शन से प्रभावित होते हैं, उसी प्रकार उनकी प्रवृत्ति भी प्रकृति में रमी है; भेद केवल इतना ही है कि उन्होंने उसे भीतर से भी देखा है।

महादेवी के गीति-काव्य का हिन्दी के काव्य-साहित्य में सर्वप्रथम स्थान है। इस दिशा में वह बेजोड़ हैं। उनके गीतों में निर्जन वन-प्रदेश में बहती हुई एकाकिनी शैवालिनी का-सा मन्द-मन्द प्रवाह है। उनके गीतों में वेदना और कसक की सघनता, तल्लीनता, मधुर संगीत एवं शब्द-चित्र अत्यन्त सराहनीय हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में एक निश्चिन्त निर्द्वन्द्व नारी-कंठ की विरह-विह्वल वाणी पाठकों को तुरन्त आत्मीय बना देती है। आत्मनिवेदन एवं आत्मविस्मृति के भाव उनके भावों में भरे हुए मिलते हैं। पर इतना होते हुए भी उनकी एकरसता कुछ खटकती-सी है। भावों की विविधता उनके गीतों में नहीं है। प्रायः एक से रूपकों की आवृत्ति भी हुई है। लोक के प्रति भी वह उदासीन हैं। उनके गीतों का क्षेत्र व्यापक नहीं है, सीमित है। यह उनकी विशेषता भी है और दोष भी। विशेषता इसलिए है कि एक सीमित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अपनी अनुभूतियों को जिस प्रकार चित्रित किया है वह श्रेष्ठतम है, और दोष इसलिए है कि वह लोक-भावना को व्यक्त करने से वंचित रह गई है।

भाषा के क्षेत्र में भी महादेवी बेजोड़ हैं। भाषा की शुद्धता जैसी उनकी रचनाओं में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत-गर्भित होने पर भी उनकी भाषा में सरलता, प्रवाह और माधुर्य है। भाव, भाषा और संगीत की त्रिवेणी उन्हीं की रचनाओं में प्रवाहित हुई है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त श्लिष्ट, सुन्दर और भावानुकूल होता है। उनके

शब्द और अर्थ संपूर्ण कविता के और एक दूसरे के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखते हैं। उनके जैसी सुन्दर और संयत भाषा आजकल किसी रचना में नहीं मिलती।

महादेवी हिन्दी की सांस्कृतिक कवयित्री हैं। कविता के क्षेत्र नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्य-गीत और दीपशिखा देकर संस्मरण के क्षेत्र में अतीत के चलचित्र और स्मृति की रेखाएं देकर, विचार के क्षेत्र में शृंखला की कड़ियाँ और विवेचनात्मक गद्य देकर उन्होंने हिन्दी-जगत् के सामने कवि, कहानीकार, निबन्ध-लेखिका और आलोचक के रूप में आकर अपनी साहित्य-साधना का परिचय दिया है। इधर वेदों के विशिष्ट अंशों का अनुवाद भी उन्होंने आरंभ किया है और इस प्रकार वह एक सफल अनुवादिका भी सिद्ध हो रही हैं। वह अभी हमें क्या देंगी यह तो भविष्य के गर्भ में है, पर अब तक उन्होंने जो कुछ हमें दिया है वह हमारी भाषा और हमारे साहित्य के लिए कल्याणप्रद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी की साहित्य-साधना बहुमुखी है और हिन्दी के आधुनिक जीवित कवियों में ...